जेलमें मेरा जैनाभ्यास

"एक ओरकी बात गुड़से भी अधिक मीठी लगती है। अतएव दूसरे मतोंके तत्त्वोंका निष्पक्ष—सहानुभूतिकी दृष्टिसे वाचन और मनन करनेकी विवेकी पुरुषोंकी आदत होती है।"

—तत्त्वबुभुत्सु

प्रथम खण्ड

"शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
संपद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥"

हे देव ! शास्त्रोंका पठन-पाठन, वीतरागकी भक्ति, सज्जनोंकी संगति, सच्चरित्रोंका गुणानुवाद, दोषोंके कहनेमें मौन, सबकेलिये प्रिय-हित वचन और आत्मोद्धारकी अभिलाषा, इतनी बातें मुझे तब तक प्राप्त होती रहें, जब तक कि मैं मोक्षको न पाऊँ ।

अवलोकन।

[न्यायाचार्य पं० सुखलालजी, प्रो० हिन्दू यूनिवर्सिटी काशी द्वारा लिखित]

किसी प्रतिष्ठित और चिरपरिचित मित्रकी कृतिका 'अवलोकन' करके उसके बारेमें कुछ प्रास्ताविक लिखनेका काम सरल नहीं है। क्योंकि उस कृतिके अवलोकनके समय जिन संदेशोंकी छाप हृदयपर अङ्कित होती है, उन्हें यथार्थ रूपमें लिखते समय यह शङ्का वाचकोंकी ओरसे बनी रहती है कि शायद अवलोकनकार पुस्तकके लेखकके प्रभाव या दृष्टिरागके वशीभूत होकर ही ऐसा लिखने लगा होगा। इसी तरह जिन त्रुटियोंकी छाप अवलोकनके समय हृदयपर पड़ी हो, उन्हें स्पष्टरूपसे लिखनेमें भी अवलोकनकारको अवलोक्य पुस्तकके लेखककी ओरसे यह शङ्का रहती है कि शायद वह अप्रसन्न हों। मुझे इस अवलोकनको लिखते समय उक्त दोनों शङ्काओंका भय नहीं है। मैं अपनी न्याय वृत्ति और मर्यादापर ही अधिक भरोसा रखता हूँ।

अतएव मुझे आशा है कि तटस्थ वाचकोंको इस 'अवलोकन'पर ऐसी शङ्का करनेका मौक़ा न मिलेगा। पुस्तकके सत्य-प्रिय लेखककी ओरसे तो मैं सर्वथा निर्भय हूँ।

जिसने जैन शास्त्रोंका तात्त्विक, साहित्यिक, ऐतिहासिक और जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें उपयोगिताकी दृष्टिसे चिरकाल तक मनन

और परिशीलन किया है, उसके दिलपर इस पुस्तकको पढ़कर ऐसी छाप अवश्य पड़ेगी कि इसमें जैन-परम्परा और शास्त्रकी बातें—वस्तुएँ तो बेहद हैं, पर उनकी योग्य व्यवस्था, उनकी पूर्णता और उनका स्वतन्त्रभावसे परीक्षण इस पुस्तकमें नहीं है। इस पुस्तकको पढ़ते समय मुझको भी यह प्रश्न हुआ। पर जब मेरी दृष्टि एक सत्यकी ओर गई, तब उसका समाधान ठीक-ठीक होकर पुस्तकके गुण-दोष जाननेकी कसौटी मिल गई। मुझे मालूम हुआ कि इसके लेखक न तो प्रोफेसर हैं, न किसी शास्त्रके पण्डित, वे न तो लॉजिशियन (Logician) होनेका दावा करते हैं, और न साइन्टिस्ट (Scientist) ही होनेका। पुस्तकके लेखक सेठ अचलसिंहजी कॉलिजमें तो पढ़ने गए ही नहीं, उन्होंने संस्कृत-प्राकृत बिल्कुल पढ़ी ही नहीं। वे छोटी उम्रसे कुश्तीबाज़ रहे और कुलपरम्परासे रहे व्यापारी।

इस प्रकारकी परिस्थितिमें पलने और जीवन बितानेपर भी उनका रस धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयोंकी ओर छोटी उम्रसे ही था। जिसका मैं ख़ुद चिरकालसे साक्षी रहा हूँ। वे व्यापार-धन्धा करते समय और अखाड़ेमें दंगलबाज़ी करते समय भी थोड़ा-बहुत अवकाश निकालकर उसमें अपना प्रिय साहित्य पढ़ा करते थे और मित्र-मण्डलीमें तथा सभा-सोसायटिओंमें सम्मिलित होकर चर्चा भी किया करते थे। इस जिज्ञासा बीजकी पुष्टिके साथ-साथ उनमें सक्रिय विचारके बीज पुष्ट होते थे। वे सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रोंमें स्थानिक रूपसे भाग

लेकर अपनी प्रवृत्तिका परिचय देते थे। महात्मा गांधीजीके आन्दोलनने उन्हें विशेष कार्य करनेको प्रेरित किया। क्रमशः डाँडी-कूँचका और जेल-यात्राका पुण्य प्रसङ्ग देशकेलिये आया। और सेठजी भी उसके यात्री हुए।

अनेक योद्धा जेल-यात्रासे देश-सेवाके अलावा नाना फल प्राप्त करके घर लौटे हैं। अनेकोंने जेलमें योगका, अनेकोंने संगीतका, अनेकोंने भाषाओंका और अनेकोंने विविध प्रकारके साहित्यका अभ्यास किया। इस राष्ट्रीय जेल-यात्राने एक विशिष्ट वर्गमें देशकेलिये आवश्यक ज्ञानकी पूर्ति अंशतः की है। इसके परिणाम स्वरूप पिछले तीन वर्षोंमें अनेक विषयोंपर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं, अनेक भावनाएँ प्रकाशमें आईं और विचार-क्षेत्रमें एक क्रान्तिसी मच गई। सेठजी भी दो बार जेलमें हो आए। उन्होंने वहाँ जो कुछ पढ़ा, उसके फलस्वरूप यह दूसरी पुस्तक है। जेलके डेढ़ वर्ष जितने परिमित समयमें अनेक बन्धनोंके होते हुए और अपेक्षित साधनोंकी पूर्ण न्यूनताके होते हुए भी—उन्होंने प्राप्त साधनोंका अपनी समझ और शक्तिके अनुसार जो सदुपयोग किया, उसको—सत्यको सामने रखते हुए यह कहना पड़ता है कि उन्होंने जो कुछ किया, वह केवल सन्तोषप्रद ही नहीं, बल्कि व्यापारी समाजके नवयुवकोंकेलिये प्रेरक भी है।

व्यापार-प्रधान जैनसमाजके पढ़े-लिखे कहलानेवाले हजारों गृहस्थ युवकोंमेंइने-गिने ही ऐसे मिलेंगे, जिनका धार्मिक साहित्य

की ओर रस हो। रसवाले थोड़े-बहुतोंमें भी ऐसे कम मिलेंगे, जिन्होंने धार्मिक साहित्यकी सब शाखाओंपर सुलभ पुस्तकोंको पढ़ा हो। इनमें भी फिरकेका मोह छोड़कर पढ़ने और विचारने वाले बहुत कम मिलेंगे। ऐसे पढ़नेवालोंमें भी अपने पठनका स्थूल सार निकालनेवाले, और उसे लेखबद्ध करनेवाले तो जैन समाजमें नाममात्रके होंगे। जब हम इस पुस्तकमें देखते हैं कि इसके लेखकने अनेक पुस्तकें पढ़कर उनका संक्षिप्त सार या संक्षिप्त ब्योरा संग्रह किया है और सो भी एक वर्ष जितने परि-मित समयमें, तब हमें इस पुस्तकका मूल्य निर्धारित करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। यह पुस्तक इसके लेखककी शक्तिओंका परिचय इस प्रकारसे करा सकती है:—

(क) तत्त्व, साहित्य, इतिहास आदि अनेक विषयोंपर विविध पुस्तकें पढ़नेकी रुचि और प्रवृत्ति।

(ख) पढ़ी हुई पुस्तकोंमेंसे अपने लेखानुकूल विषयोंका चुनाव तथा सामग्री-संचय।

(ग) संचित सामग्रीका थोड़े समयमें जैसा बन पड़ा, उपयोग कर लेनेका निश्चय तथा साहस।

उक्त दृष्टिसे यह पुस्तक न केवल साधारण कोटिके गृहस्थ जिज्ञासुओंको ही कामकी ओर प्रेरक है, बल्कि साधु समाजके लिये भी यह बोधप्रद है। जो साधुगण अपनी इच्छासे धार्मिक जेलमें जिन्दगी भरकेलिये पड़े हैं, जिन्हें ज्ञानार्जनके सब सुभीते

हैं, कोई बन्धन नहीं। जो दिन-रात पठन-व्याख्यान आदिमें ही रत रहते हैं, वे यदि अपनी शक्तिका उपयोग कैसे करना—यह बात इस छोटीसी पुस्तकसे सीख लें, तो समाजका भावी उज्ज्वल होनेमें कोई सन्देह नहीं है।

साधारण जैन शास्त्रके व्यापक जिज्ञासुकेलिये यह पुस्तक पर्याप्त है। क्योंकि इसके द्वारा उसे अनेक विषयगामी जैन विचार एक ही पुस्तकसे मिल सकेंगे। इसमें यदि विशेषता है तो यही है कि जैन परम्परा तथा शास्त्रकी अनेक विषयगत चर्चा इस एक ही पुस्तकमें आ गई है। निःसन्देह इसके तीन खण्डोंमेंसे मुख्यतः दूसरा खण्ड ऐसा है—जिसमें न तो सब लोगोंकी गति ही हो सकती है, और न सब लोगोंकी रसवृत्ति ही पुष्ट हो सकती है। फिर भी इसके पहले और तीसरे खण्डके कुछ अधिकार सर्व साधारणकेलिये भी रोचक और पढ़ने योग्य है। जैसे—'संस्कार', 'जैनधर्मकी प्राचीनता' और 'कुछ वाक्य-रत्न', इत्यादि।

जेलसे बाहर आनेके बाद सेठजीको यदि अवकाश मिलता, तो वे इसे फिरसे ध्यान पूर्वक पढ़कर प्रत्येक विषयका विशेष चिन्तन कर ऐसा सुधार करते कि जिससे न तो पुनरुक्तियाँ आतीं, और न थोड़ी-बहुत दीखनेवाली विषय-विशृङ्खलता ही रहने पाती। अनेकविध प्रवृत्तिओंका भार सिरपर लेकर चलनेवाले सेठजीने यही उचित समझा कि अभी तक जो कुछ संगृहीत हुआ, और जिस रूपमें हुआ, वह चिरकालकेलिये यों ही पड़ा रहनेकी बजाय, प्रकाशित हो जाय, यही अच्छा है।

इस विचारसे उन्होंने अपने अभ्यासका फल वाचकोंके समक्ष प्रकट करनेका प्रयत्न किया है, जो आदर-पात्र है।

इस पुस्तकका जो नाम रक्खा गया है, वह सेठजीकी वृत्ति और प्रवृत्तिका द्योतक है। उनका दावा यह नहीं है कि मैंने प्रत्येक वस्तुपर आवश्यक चिन्तन या गहरा मनन किया है, अथवा प्रत्येक मुद्देका स्वतन्त्र परीक्षण किया है। उनका दावा यदि है, तो मेरी दृष्टिमें इतना ही जान पड़ता है कि मैंने जेल-वासके समय जैन-शास्त्रोंको जो कुछ समझा, जो कुछ पढ़ पाया और उनमेंसे जो कुछ सार इस परिमित समयमें निकाल सका, वह इस पुस्तकमें है। और यह दावा ठीक भी है। क्योंकि शास्त्रीय गम्भीर चिन्तन और स्वतन्त्र परीक्षण कभी अल्प समय में सिद्ध हो नहीं सकते।

इस पुस्तकके अवलोकनसे एक छाप यह पड़ती है कि सेठजीको जेलमें दिगम्बर-साहित्य और दिगम्बर-इतिहासकी पुस्तकें पढ़नेको कम मिलीं, या उन्हें पढ़नेका समय न रहा। यह भी मालूम होता है कि उन्हें अँगरेजी और गुजरातीकी कुछ महत्त्व-पूर्ण पुस्तकें प्राप्त नहीं हुईं, अन्यथा जो दक्षिण हिन्दुस्तानके दिगम्बर राजा, मन्त्री और त्यागी वर्ग तथा उनके साहित्यके वर्णनकी कमी रह गई है, वह न रहती। परन्तु सम्भव है—वह तथा अन्य सब कमियाँ दूसरे संस्करणमें दूर हो जाएँगी।

अन्तमें मैं एक सूचना कर देना योग्य समझता हूँ। वह यह कि जिस-जिस लेखककी जिस-जिस पुस्तकको पढ़कर जो-जो

अंश उसके शब्दोंमें या अपने शब्दोंमें इस पुस्तकमें सेठजीने संग्रह किया है, उस-उस अंशके नीचे मूल पुस्तक तथा मूल लेखकका नाम देकर पृष्ठ संख्या निर्दिष्ट की जाती तो शास्त्रीय तत्त्वोंकी व्याख्याके अधूरेपन-पूरेपनकी या गुण-दोषकी या वर्णनशैलीकी, जवाबदेही मूल लेखकके ऊपर रहती, और साथ ही वाचकोंमें उन मूल पुस्तकोंके अवलोकनका थोड़ा-बहुत उत्साह भी जागृत होता। साथ-ही-साथ यह प्रस्तुत पुस्तक कितनी पुस्तकोंके अवलोकनका परिणाम है, यह भी ज्ञात हो जाता। यदि सेठजीके पास कोई जेल अभ्यासके समयकी यादी हो, तो उसके आधारसे परिशिष्ट द्वारा यह कमी दूर की जा सकती है।

मैं जैन युवकोंका खास कर व्यापारी और साधन-प्राप्त युवकों का सेठजीके धार्मिक और राष्ट्रीय उत्साहकी ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ। जिससे वे अपने समय, शक्ति और धनका सदुपयोग करें।

बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय
२५-१-३४

सुखलाल

मेरा निवेदन

जब सन् १९३० में महात्मा गाँधी द्वारा सत्याग्रह-संग्राम छिड़ा था, उस समय मैंने अपनी तुच्छ सेवाएँ देशको अर्पित कर दी थीं। फलतः ता०-२० सितम्बर १९३० को मैं गिरफ्तार किया गया और मुझे ६ महीनेकी सख्त सज़ा और पाँच सौ रुपया जुर्माना किया गया, जिसको मैंने सहर्ष स्वीकार किया। उस समय मुझे कुछ धार्मिक ग्रन्थ और पुस्तकें पढ़नेका सुअवसर प्राप्त हुआ, पर गाँधी-इरविन पेक्ट (Gandhi Irwin Pact) के अनुसार जेलसे छूट जानेके कारण मैं कुछ नहीं लिख सका। इसलिये मैंने यह निश्चय किया कि भविष्यमें यदि कभी और अवकाश मिला तो अपने विचारोंको पूर्णतया लिखनेकी चेष्टा करूँगा। मुशकिलसे एक वर्ष भी नहीं निकल पाया था कि युद्धके बादल फिर मँडराने लगे और महात्माजीके इँगलैंडसे आनेके छह दिन बाद ही यानी ता० ४ जनवरी सन् १९३२ को फिर युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस समय भी मैंने अपनी सेवाएँ देशको अर्पित कीं। फलस्वरूप ता० २२ फरवरीको मैं गिरफ्तार किया गया और धारा १७ ए० १७ बी० और चौथे आर्डीनेंसकी

चौथी धारानुसार साढ़े तीन वर्षकी सख्त सज़ा और पाँच सौ रुपया जुर्मानेका दण्ड मुझे दिया गया। पर चूँकि सारी सज़ाएँ साथ-साथ चलीं, इसलिए वह केवल अठारह महीनेकी रहीं। यह अवसर मेरेलिये एक स्वर्ण अवसर था, किन्तु मनुष्यका कर्म उसके आगे चलता है अर्थात् मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। अभाग्यवश जेलमें मेरे कूल्हेमें निरन्तर दर्द रहने लगा। जिसके कारण मुझे चलने, फिरने, बैठने, सोने आदिसे अधिक कष्ट होने लगा। इसके अलावा मेरे पूज्य भाई साहब बीमार हो गये; जिसके कारण मेरा चित्त सदा चिन्ताग्रस्त रहने लगा और दुर्भाग्यवश ता० ११ जनवरी सन् १९३३ को उनका स्वर्गवास हो गया।

इस दूसरी जेल-यात्राके समयमें जितना समय मुझे मिलता रहा, उसमें अनेक जैनधर्मके दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायके ग्रन्थों व पुस्तकोंके पढ़ने व मनन करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। अपने अनुभव और इन पुस्तकोंके आधारपर मैंने मुख्य-मुख्य विषयोंपर कुछ लिखना शुरू कर दिया। फलस्वरूप यह पुस्तक, जो आपके हाथोंमें है, तैयार हो गई।

इस पुस्तकके लिखते समय यह मेरा अवश्य विचार था कि कोई छोटा-सा जैनधर्मके विषयमें ऐसा ग्रन्थ तैयार किया जाय, जिसको पढ़कर जैन और अजैन बन्धु जैनधर्मके मुख्य-

मुख्य सिद्धान्तों और विषयोंका अनुमान लगा सकें। मैंने इस ग्रन्थके लिखते समय इस बातका पूर्ण ध्यान रक्खा है कि किसी सम्प्रदाय-विशेषका खण्डन-मण्डन न किया जाय। यह मैं अपने बन्धुओंको अवश्य इतमीनान दिलाना चाहता हूँ कि दुःख और विपत्तिके समयमें धर्म जैसी सहायता करता है, वैसी संसार में कोई पदार्थ नहीं कर सकता। जब मुझे भाई साहबके स्वर्गवासकी मानसिक अपार वेदना थी और उसके साथ-साथ शारीरिक कष्ट भी था, उस समय अगर किसी वस्तुने मुझे संतोष और सहायता पहुँचाई तो वह केवल धार्मिक ग्रन्थोंका आश्वासन ही था। अगर मुझे इस अवसरपर यह उत्तम सहारा न होता तो न मालूम मेरी क्या दशा हुई होती। इन धार्मिक ग्रन्थोंने स्पष्ट कर दिया कि 'हे जीव! तुझे एक-न-एक दिन अवश्य मरना है और संसारमें कोई किसीका नहीं है। केवल शुभ और अशुभ कर्म ही अपने हैं। इस कारण सदा इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जहाँतक मुमकिन हो वहाँतक अपने तन, मन और धनका सदा सदुपयोग करते रहना चाहिये।'

मैं आशा करता हूँ कि मेरे बन्धु इस पुस्तकको पढ़कर अवश्य लाभ उठावेंगे, और तभी मैं भी अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

आभार ।

जिन ग्रन्थोंके साहाय्यसे यह पुस्तक लिखी गई है, उनके लेखक और प्रकाशकोंका आभार स्वीकार करते हुए, उनकी नामावलि मैं नीचे देता हूँ:—

१—श्रीउत्तराध्ययनजी ।
२—श्रीभगवतीजी ।
३—श्रीजीवाभिगमजी ।
४—कर्मग्रन्थ पहिला भाग ।
५—कर्मग्रन्थ दूसरा भाग ।
६—कर्मग्रन्थ तीसरा भाग ।
७—कर्मग्रन्थ चौथा भाग ।
८—जैनतत्त्वप्रकाश ।
९—श्रीमन्त्रराज-गुणकल्प-महोदधि ।
१०—नाटक समयसार ।
११—जैनसिद्धान्तप्रवेशिका ।
१२—चरचा शतक ।
१३—पच्चीस बोलका थोकड़ा ।
१४—सामायिक प्रतिक्रमणसूत्र ।
१५—श्रीप्रवचनसार ।
१६—सूरीश्वर और सम्राट् अकबर ।
१७—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।
१८—तत्त्वार्थसूत्र ।
१९—मोक्षमार्गप्रकाश ।
२०—पञ्चास्तिकाय ।
२१—बुद्धचर्या ।
२२—महाबोधि ।
२३—पातञ्जल योगदर्शन ।
२४—कर्तव्यकौमुदी ।
२५—ध्यानकल्पतरु ।
२६—ज्ञानदीपिका ।
२७—सत्यार्थचन्द्रोदय ।
२८—चिकागो-प्रश्नोत्तर ।

२६—अज्ञानतिमिरभास्कर।
३०—रत्नकरण्डश्रावकाचार।
३१—भगवान् महावीर-चरित्र।
३२—श्रीनेमिनाथ-चरित्र।
३३—जैनसंप्रदायशिक्षा।
३४—आप्तमीमांसा।
३५—पुराण और जैन धर्म।
३६—दर्शन और अनेकान्तवाद।
३७—जैनतत्त्वसार।
३८—सप्तभङ्गीनय।
३६—गऊकी वाणी।
४०—आत्मिक मनोविज्ञान।
४१—जैन रामायण।
४२—भारतवर्षका इतिहास और जैन धर्म।
४३—क्रियाकर्मवैराग्य-प्रश्नोत्तर।
४४—गोम्मटसारजीवकाण्ड-कर्मकाण्ड।
४५—गोम्मटसार।
४६—जैनाचार्यका शासनभेद।
४७—सृष्टिकर्त्तृत्वमीमांसा।
४८—आत्मानुशासन।
४६—श्रीपार्श्वनाथ भगवान्का जीवन-चरित्र।
५०—आत्मानुशासन।
५१—भूधरशतक।
५२—ज्ञानार्णव।

—(सेठ) अचलसिंह।

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

विषय — पृष्ठ

विषय पृष्ठ

तृतीय खण्ड

विषय — पृष्ठ

विषय पृष्ठ

※ श्रीवीतरागाय नमः ※

जेलमें मेरा जैनाभ्यास

प्रथम खण्ड

मेरी भावना

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया,
सब जीवोंको मोक्ष मार्गका, निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भावसे प्रेरित हो, यह चित्त उसीमें लीन रहो॥

विषयोंकी आशा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं,
निजपरके हित-साधनमें जो, निश दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके, दुख समूहको हरते हैं॥

रहे सदा सत्संग उन्हींका, ध्यान उन्हींका नित्य रहे,
उन ही जैसी चर्यामें यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊं किसी जीवको, झूठ कभी नहिं कहा करूं,
परधन-वनितापर न लुभाऊं, संतोषामृत पिया करूं॥

अहंकारका भाव न रक्खूं, नहीं किसीपर क्रोध करूं,
देख दूसरोंकी बढ़तीको, कभी न ईर्षा-भाव धरूं।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूं,
बने जहां तक इस जीवनमें, औरोंका उपकार करूं॥

मैत्री भाव जगतमें मेरा, सब जीवोंमें नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवोंपर मेरे, उरसे करुणा स्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्ग-रतोंपर, क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रक्खूं मैं उनपर, ऐसी परणति हो जावे॥

गुणी जनोंको देख हृदयमें, मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहां तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे।
होऊं नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहणका भाव रहे नित, दृष्टि न दोषोंपर जावे॥

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊं, या मृत्यु आज ही आजावे।

अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे,
तो भी न्याय मार्गसे मेरा, कभी न पद डिगने पावे ॥

होकर सुखमें मग्न न फूले, दुखमें कभी न घबरावे,
पर्वत नदी श्मशान-भयानक, अटवीसे नहिं भय खावे।
रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे,
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योगमे, सहनशीलता दिखलावे ॥

सुखी रहें सब जीव जगतके, कोई कभी न घबरावे,
बैर पाप अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे।
घर घर चर्चा रहे धर्मकी, दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म फल सब पावें ॥

ईति-भीति व्यापै नहिं जगमें, वृष्टि समयपर हुआ करे,
धर्म-निष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजाका किया करे।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्तिसे जिया करे,
परम अहिंसा धर्म जगतमें, फैल सर्व हित किया करे ॥

फैले प्रेम परस्पर जगमें, मोह दूरपर रहा करे,
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहिं, कोई मुखसे कहा करे।
बनकर सब 'युग-वीर' हृदयसे, देशोन्नति-रत रहा करें,
वस्तु-स्वरूप विचार खुशीसे, सब दुख-संकट सहा करें ॥

—श्रीजुगलकिशोरजी मुख्त्यार।

संस्कार

विचारशील विद्वान् यदि मनुष्य-प्रकृतिकी खोज करेंगे, तो उन्हें पता लगेगा कि संसारमें जो मनुष्य जिस धर्मका अनुयायी है—कुल-परम्परासे जिस धर्मके अनुकूल वह चल रहा है, उसे उसी धर्मकी बातें सही प्रतीत होती हैं; दूसरे की गलत। अपने धर्मकी सभी बातें युक्तियुक्त, संगत और सम्भव दीखती हैं; दूसरेकी पक्षपात-पूर्ण, असंगत और असम्भव प्रतीत होती हैं।

कुछ लोग उपरोक्त नियमके अपवाद-स्वरूप भी मिलेंगे। अर्थात् कुछ लोग ऐसे भी मिलेंगे कि जो पालन तो वे किसी कुल-परम्परागत धर्मका ही करते हैं, लेकिन दूसरे धर्मोंसे भी सहानुभूति रखते हैं। दूसरे धर्मोंको भी वे बुरा नहीं कहते; लेकिन ऐसे महानुभाव हैं बहुत थोड़े—इने-गिने ही हैं।

कुछ लोगोंके मनकी आदत जो ऐसी पड़ जाती है कि जिससे उन्हें दूसरे धर्मोंकी बातें नहीं सुहातीं और पक्षपात-पूर्ण प्रतीत होती हैं तथा अपने धर्मकी बातें युक्ति-युक्त और भली प्रतीत होती हैं, उसका कारण क्या है ?

उसका कारण संस्कार है। मनुष्य अधिकतर जिन बातोंको सुनता-सुनाता रहेगा, सोचता-विचारता रहेगा, उसी प्रकारके आदमियोंसे मेल-जोल रक्खेगा और तदनुकूल साहित्यका पठन-पाठन रक्खेगा, उसके विचार वैसे ही बन जायँगे। जिसके आत्मा या मनमें बार-बार जैसे विचारोंका आवागमन रहता है, उसकी आत्मामें उसी प्रकारका एक "संस्कार" पड़ जाता है। वह संस्कार ही स्वमत-रुचि और परमत-अरुचि पैदा करता है।

लेकिन ऐसा करना है अनुचित। "एक तरफ़की बात गुड़ से भी अधिक मीठी मालूम होती है।" यह वाक्य बहुत कुछ तथ्य रखता है।

विवेकी मनुष्यको इस भद्दी आदतको छोड़नेकी कोशिश करनी चाहिये और अन्यान्य धर्मोंकी बातें जाननेकी रुचि अपनेमें उत्पन्न करनी चाहिये। दूसरेकी बातें सहिष्णुताके साथ जाननेकी अभिलाषा रखना चाहिये। तदनुसार अन्य धर्मोंके साहित्यको पढ़नेका अन्य धर्मोंके विद्वानोंसे तत्तद् धर्मोंके जाननेका साधन रखना चाहिये। दूसरे मज़हबवालोंकी सभा-सोसाइटीमें जाने-आनेका समागम रखनेसे उस मज़हब की सभ्यताका ज्ञान होता है।

इस प्रकारकी आदत डालनेसे मनुष्यका संस्कार एकमुखी न रह कर सर्वतोमुखी होजाता है। सर्वतोमुखी संस्कार मनुष्यको सहिष्णु और विवेकी बनाता है।

सभ्य समाजमें आज जो अन्ध-परम्पराके दुर्गुण बतलाये जाते हैं, वह इस एकमुखी संस्कारका ही परिणाम है। परीक्षा-प्रधानीकी विशिष्टता सभीने स्वीकार की है। परीक्षाप्रधानी वही पुरुष हो सकता है, जिसको वास्तविक तत्त्वके जाननेकी आन्तरिक अभिलाषा उत्पन्न होगई हो और धर्म-धर्मान्तरोंके स्वरूपोंको जाननेकी—समझनेकी जिसे वास्तविक रुचि होगई हो। पूर्वापर जितने भर भी दार्शनिक विद्वान हुए हैं, वे सब इसी तत्त्व-जिज्ञासाके प्रभावसे—सर्वतोमुखी संस्कारवाली आत्माको बनानेसे हुए हैं।

हर्षका समय है कि आजकल ऐसे सर्वतोमुखी संस्कारवाले व्यक्तियोंकी संख्या संसारमें बढ़ती हुई नजर आ रही है। आजकल हर एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति दूसरे धर्मोंकी बातें जाननेको उत्सुक दिखलाई पड़ रहा है। दूसरे मजहबोंकी सभ्यता जाननेकी अभिलाषा आज प्रायः सभी पढ़े-लिखे व्यक्तियोंमें देखी जा रही है।

ऐसे ही बन्धुओंकेलिये असलमें यह पुस्तक लिखी गई है।

जैनधर्मकी प्राचीनता

कुछ समय पहले बहुत से विद्वानोंका ख़याल था कि जैन-धर्म कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं, वह बौद्ध-धर्मसे निकला हुआ उसकी शाखा-मात्र है; परन्तु जबसे जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर हरमन जैकोबी (Harman Jacobi) तथा कितने एक अन्य विद्वानोंने इस विषयकी पूरी शोध की और प्रबल प्रमाणों द्वारा इस बातको (कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा है) मिथ्या सिद्ध कर जैनधर्मको बौद्धधर्मसे सर्वथा स्वतन्त्र और बहुत प्राचीन सिद्ध कर दिखाया; तबसे यह भ्रम बहुत अंशमें तो दूर हो चुका है, मगर अभी तक बहुतसे सज्जन जिनको जैनधर्म के बारेमें बोध नहीं है, अपनी तरङ्गमें आकर अब भी जैनधर्म को बौद्धधर्मकी एक शाखा अथवा महावीर भगवानके समय में चला हुआ कह दिया करते हैं। औरोंके विषयमें तो कहना ही क्या, मगर वर्त्तमान समयके सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि श्रीमान् बाबू मैथिलीशरणजी गुप्तने भी अभी तक इस सन्देहको दूर नहीं किया है। आपने अपनी सुप्रख्यात पुस्तक 'भारत-भारती' में जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा बतलाया है:—

"प्रकटित हुई थी बुद्ध विभुके चित्तमें जो भावना,
पर रूपमें अन्यत्र भी प्रकटी वही प्रस्तावना।
फैली अहिंसा बुद्धिवर्धक जैन-पंथ समाज भी,
जिसके विपुल साहित्यकी विस्तीर्णता है आज भी॥"

और तो कुछ नहीं, मगर गुप्त महोदय जैसे सत्यप्रेमी और निष्पक्ष सुलेखकोंकी लेखनी उनके अनुरूप प्रतीत नहीं होती।

एक नये इतिहास-लेखक सज्जन श्रीरघुवीरशरण डबलिस तो यहाँ तक आगे बढ़े हैं कि उन्होंने जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा बतलाते हुए गौतमबुद्धको ही (जैनोंके अन्तिम तीर्थङ्कर) महावीर स्वामीके नामसे उल्लेख किया है—

"बौद्ध-धर्म भारतवर्षसे बिल्कुल ही निर्वासित नहीं हो गया। वर्तमान पौराणिक धर्मपर उसने जो प्रभाव डाला है, वह कुछ कम नहीं। अपने पीछे उसने एक विशेष सम्प्रदायको छोड़ा, जो 'जैन' नामसे अब तक भारतवर्षमें प्रचलित है। लगभग पन्द्रह लाख जैन इस समय देशमें पाये जाते हैं।............भारतवर्षके जैन प्रायः सौदागर वा साहूकार हैं। उनका सिद्धान्त है कि जैन-धर्म बौद्ध-धर्मसे भी पुराना है और बुद्धकी शिक्षाका आधार जैन-मत ही था, परन्तु भारतके ऐतिहासिक निरीक्षणसे यही पता चलता है कि बौद्ध और जैन धर्म वास्तवमें एक ही हैं और गौतम बुद्ध जैन-धर्ममें महावीर स्वामीके नामसे परिचित है।"

—भारतवर्षका सच्चा इतिहास, पृष्ठ २०८।

हमारे विचारमें इस प्रकारके संशय और भ्रमके प्रतीत होनेका कारण पुराण ग्रन्थोंमें जैनधर्म-विषयक किये गये

उल्लेख ही है। उदाहरणार्थ पुराणोंमेंसे कुछ लेख यहाँपर उद्धृत किये जाते हैं, वह इस प्रकार है। आज कल अठारह पुराणोंके नामसे जो-जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें भागवत का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराणकेलिये वैष्णव जनताके हृदयमें जितना आदर है, उतना अन्य पुराणोंके विषयमें नहीं। लोग इसकी कथा बड़ी ही श्रद्धासे सुनते हैं। इसमें जैनोंके परमादरणीय भगवान् ऋषभदेवका चरित्र बड़ी ही सुन्दरता और विस्तारसे वर्णन किया है। चरित्र यद्यपि जैन ग्रन्थोंमें उल्लेख किये गये ऋषभ-चरित से भिन्न है। (वस्तुतः होना भी चाहिये) क्योंकि भागवतके रचयिताने उन्हें विष्णु का अवतार मान कर उनका चरित्र वर्णन किया है, परन्तु है वह बड़ा मनोहर और शिक्षा-प्रद। उसमें भगवान् ऋषभदेव के सुन्दर उपदेश और अनुकरणीय वैराग्यमय जीवनका चित्र बड़ा खूबीसे खींचा है। उक्त ग्रन्थके पाँचवें स्कन्धमें चरित-वर्णनके अनन्तर कुछ जैनधर्मका भी जिक्र किया है। जिक्र क्या, उसकी उत्पत्तिका उल्लेख किया है। उल्लेख बड़ा विचित्र है। अतः पाठकोंके अवलोकनार्थ हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं:—

"यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककूटकानां राजा अर्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणो भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं

निजमनीषयामन्दः सम्प्रवर्त्तयिष्यं ॥ ६ ॥ येन सह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्र-विहीनदेवहेलनान्यपव्रतानि निजेच्छया गृह्णाना अस्नाना-चमनशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनापहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥१०॥ ते च ह्यवक्तावाङ्क्तिनया निजलोकयात्रयाऽन्धपरम्परया श्वस्तास्त-मस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥११॥ अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः ।"

भावार्थ—जिस ऋषभदेवके चरित्रको सुनकर काङ्कवेङ्क और कुटकादि देशों का अर्हन् नामका राजा श्री ऋषभदेवकी शिक्षाको लेकर पूर्व कर्मोंके अनुसार जब कलियुगमें अधर्म अधिक हो जायगा तब अपने श्रेष्ठ धर्मको छोड़ कर कुपथ-पाखण्ड मत को निज मतसे चलावेगा, जो कि सबके विरुद्ध होगा ॥६॥ जिसके द्वारा कलियुगमें प्रायः ऐसे नीच मनुष्य हो जावेंगे जो कि देवमायासे मोहित होकर अपनी विधि शौचहीन और चारित्यहीन एवं जिनके देवताओंका निरादर हो ऐसे कुत्सित व्रतों—स्नान आचमन और शौच न रखना और केश-लुंचन करना इत्यादिको अपनी इच्छासे धारण करेंगे। जिसमें अधर्म अधिक है ऐसे कलियुगसे नष्टबुद्धिवाले वेद ब्राह्मण यज्ञ पुरुष (विष्णु) और संसारके निन्दक होंगे ॥१०॥ जिनके मतका मूल वेद नहीं है, ऐसे वे पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार

चलने और अन्ध परम्परामें विश्वास रखनेसे आप ही आप घोर नरकमें पड़ेंगे ॥११॥ भगवानका यह ऋषभावतार रजो-गुण व्याप्त मनुष्योंको मोक्ष-मार्ग सिखलानेकेलिये हुआ।

अग्निपुराणके ६ वें अध्यायमें लिखा है—

"अग्निरुवाच—

वक्ष्ये बुद्धावतारं च, पठतः शृणुतोऽर्थदम्।
पुरा देवासुरयुद्धे, दैत्यैः देवाः पराजिताः ॥ १ ॥
रक्ष रक्षेति शरणं, वदन्तो जग्मुरीश्वरम्।
मायामोहस्वरूपोऽसौ, शुद्धोदनसुतोऽभवत् ॥ २ ॥
मोहयामास दैत्यांस्तान्, त्याजितो वेदधर्मकम्।
ते च बौद्धा बभूवुर्हि, तेभ्योऽन्ये वेदवर्जिताः॥ ३ ॥
आर्हतः सोऽभवत् पश्चात्, अर्हतानकरोत्परान्।
एवं पाखण्डिनो जाताः, वेदधर्मादिवर्जिताः ॥ ४ ॥"

इसका अर्थ इस भाँति है। अग्निदेव बोले—अब मैं बुद्ध के अवतारको कहता हूँ। यह पढ़ने वा सुननेसे मनोकामना पूर्ण करनेवाला है। पूर्व किसी समयमें देवों और दैत्योंका बड़ा भारी युद्ध हुआ, उसमें देवता लोग दैत्योंसे हार गये। वे सब मिल कर अपनी रक्षाकेलिये विष्णु भगवानकी शरणको प्राप्त हुए। तब भगवानने मोह और मायाके स्वरूप शुद्धोदन-सुत बुद्धके अवतारको धारण किया और दैत्योंको मोह कर उन से वेद-धर्म का परित्याग करा दिया। उनके उपदेशसे वे दैत्य

तथा देव-मार्गसे भ्रष्ट अन्य लोग बौद्ध मतानुयायी बने। तत्पश्चात् वह (बुद्ध) आर्हत (जैन) बना और उसने जैन बनाये। इस प्रकार वेद-धर्मसे भ्रष्ट पाखण्डी लोगोंकी उत्पत्ति हुई।

पाठकोंने जैन-धर्मके विषयमें श्रीमद्भागवतके बाद अग्नि-पुराणके कथनको भी पढ़ लिया। कथन एकसे एक बढ़ कर है। भागवतमें तो लिखा है कि ऋषभदेवके चरित्रको सुन और उनकी शिक्षाको ग्रहण कर अर्हन नामके किसी राजाने जैन-मतका प्रचार किया और यहाँ अग्नि-पुराणका कथन है कि बुद्ध भगवानने ही पश्चात् जैन बन कर उक्त मतको चलाया। अब हम दोनोंमेंसे सत्य किसे कहें, मिथ्या किसे ठहरायें? इस बात की पाठक खुद आलोचना करें। हमारे खयाल में तो इस प्रकारके लेखोंमें परस्पर-विरोधका होना ही इस बातका प्रमाण है कि उक्त बातोंकी उत्पत्ति-भूमिका द्वेषानल ही है, वस्तुस्थिति नहीं। परन्तु धन्य है उन लोगोंको जो इस प्रकारके आधारोंपर ही जैनधर्मका इतिहास लिखने बैठ जाते हैं!

इसी प्रकारके कथन गरुड़-पुराण, विष्णु-पुराण, शिव-पुराण, मत्स्य-पुराण, कूर्म-पुराण आदिमें भी पाये जाते हैं। इस सम्बन्धमें अधिक वादविवाद करना हम व्यर्थ समझते हैं।

जैन-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी लेख उपरोक्त पुराणमें पाये जाते हैं, उन सबपर सम्यक्तया विचार करनेसे निम्न-लिखित बातें प्रकट होती हैं।

१—पुराणोंके जमानेमें जैनधर्म विद्यमान था।

क—जिस समय पुराणोंकी रचना हुई उस समय जैनधर्म अपनी यौवन-दशामें था।

ख—उस समय आपसका विरोध कल्पनातीत दशाको पहुँच चुका था।

२—पुराणोंमें जैनधर्मकी उत्पत्तिके जितने भी लेख हैं, वे एक दूसरेसे विचित्र और प्रतिकूल हैं।

क—उनमें ऐतिहासिक सत्यता बहुत ही कम है।

३—जैनधर्मकी उत्पत्ति-विषयक अनेक प्रकारकी जो मिथ्या-कल्पनायें प्रचलित हो रही हैं, उनका कारण भी पुराण-गत जैनधर्म-विषयक लेख ही हैं। जैसे—

क—जैनधर्म बौद्धधर्मसे निकला है और उसकी शाखा-मात्र है। जैन और बौद्ध मत एक ही है। उनके चलाने वाला एक ही पुरुष है। वह प्रथम बुद्ध था, बादमें जैन हो गया, इत्यादि।

४—इसके सिवा पुराणोंके उल्लेखसे एक बात यह भी प्रकट होती है कि उस समयकी वैध-पशु-हिंसाका बड़ा जोर था। जैन और उसके परवर्त्ती बुद्धधर्मने उसके रोकनेकेलिए बड़ा प्रयत्न किया और इस कार्यमें उसे बड़ी भारी सफलता प्राप्त हुई।

क्या रामायण और महाभारतमें जैनधर्मका जिक्र नहीं? (यद्यपि जैनधर्ममें भी रामायण और महाभारत हैं, पर वे बाल्मीकि-रामायण और व्यास-महाभारतसे कुछ भिन्न हैं।)

जैनधर्मके सिद्धान्तोंसे तो जैनधर्म एक सनातनधर्म है; पर हम यहाँ बाल्मीकि-रामायण और व्यास-महाभारतसे सिद्ध करेंगे कि उनमें भी जैनधर्मका वर्णन है। बाल्मीकि-रामायणमें एक स्थानपर इस भांति लिखा है:—

"ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि, श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥"

—बा० स० १४, १२।

अर्थात् राजा दशरथके यज्ञमें ब्राह्मण, शूद्र, तापस और श्रमण आदि नित्य भोजन करने लगे। यहाँपर श्लोकमें जो श्रमण शब्द आया है, वह अधिकांश जैन साधुओंकेलिये ही उपयुक्त हुआ है। जैनधर्ममें साधुओंकेलिये श्रमण-शब्दका अधिक प्रयोग हुआ है और टीकाकारने तो यहाँ श्रमण-शब्दका अर्थ बौद्ध-संन्यासी—बौद्ध-साधु किया है। तथाहि—'बौद्ध-श्रमणाः बौद्ध-संन्यासिनः'। टीकाकारके कथनानुसार उस समय बौद्धधर्मके साधु मौजूद थे। इससे सिद्ध हुआ कि उस समय बौद्धधर्म था। बौद्धधर्मका आविर्भाव जैनधर्मके बाद हुआ है। यह बात आज निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। इसलिये बाल्मीकि-रामायणके समयमें भी जैनधर्मका अस्तित्व था।

व्यास-महाभारतमें जैनमतका जिस तरह ज़िक्र है, वह अन्य पुराणोंसे विलक्षण और बड़े महत्त्वका है। उसमें अन्य मतोंके साथ साथ जैनमतके मूल सिद्धान्त (सप्तभङ्गीनय)का वर्णन बड़ी सुन्दरतासे किया है। वह इस प्रकार है—

"पौरुषकारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः ।
दैवमेके प्रशंसन्ति, स्वभावमपरे जनाः ॥ ४ ॥
पौरुषं कर्म दैवं च, कालवृत्तिस्वभावतः ।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥ ५ ॥
एतदेवं च नैवं च, न चोभे नानुभे तथा ।
कर्मस्था विषया ब्रूयुः, सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ६ ॥"

—शा० प० अ० २३८ श्लो० २४४

इन श्लोकोंमें ग्रन्थकर्त्ताने पुरुषार्थ, कर्म, स्वभाववाद आदिका उल्लेख करके छठवें श्लोकमें जैनधर्माभिमत स्याद्वादके मूलभूत सप्तभङ्गीनयका वर्णन किया है। छठे श्लोकमें जो (कर्मस्थाः) पद है, इसका अर्थ 'जैन' होता है, ऐसा ही टीकाकारने किया है।

हम अपने बन्धुओंको इतना और भी स्मरण करा देना चाहते हैं कि जैनमतकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनताके लिये हमें किसी प्रकारका आग्रह नहीं। हमारे विचारानुसार प्रत्येक मतमें अपेक्षाकृत प्राचीनता और नवीनता बनी हुई है। अतः वह (जैनमत) आज उत्पन्न हुआ हो या हजारों वर्षसे, इसपर हमें कुछ विवाद नहीं, किन्तु वाल्मीकि-रामायण और व्यास-महाभारतके जमानेमें जैनधर्मका अस्तित्व नहीं था या उसके बाद निकला, यह बात हमें किसी प्रकार उचित नहीं प्रतीत होती।

जैनधर्मानुसार जैनधर्मका संक्षिप्त इतिहास

आब हम जैन ग्रन्थोंके अनुकूल जैनधर्मकी प्राचीनता पर पाठकोंका ध्यान दिलाना चाहते हैं। जिस संसार में हम लोग रहते हैं उसके बनने तथा स्थापित होनेके समयसे और उसके नाश होनेके समय तकको एक 'कालचक्र' कहते हैं। इस कालचक्रके दो विभाग हैं—एक अपसर्पिणी दूसरा उत्सर्पिणी। हर सर्पिणीमें छह छह आरे होते हैं। अपसर्पिणीके छह आरे इस भाँति होते हैं—पहला सुषमा-सुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमा-दुष्षमा, चौथा दुष्षमा-सुषमा, पाँचवाँ दुष्षमा और छठा दुष्षमा-दुष्षमा।

उत्सर्पिणीके छह आरे इस प्रकार होते हैं—पहला दुषमा-दुष्षमा, दूसरा दुष्षमा, तीसरा दुष्षमा-सुषमा, चौथा सुषमा-दुष्षमा, पाँचवाँ सुषमा, छठा सुषमा-सुषमा।

एक काल-चक्रमें अथवा अपसर्पिणी और उत्सर्पिणी के बारहों आरोंमें २० करोड़ाकरोड़ (२० करोड़से २० करोड़ का गुणा करके जो गुणनफल आवे उतने) सागरका समय लगता है। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी मालूम होता है कि एक सागरमें कितना समय होता है? जैसे दिन व रात यहाँ—तिरछे लोग

अर्थात् भरत-क्षेत्रमें होते हैं, इस प्रकार नरक-स्वर्गादिमें नहीं होते। इसलिये समयका प्रमाण भरत-क्षेत्रसे लिया गया है। वह निम्न प्रकार है। आँखके एक दफ़े मिचने अथवा टमकनेमें असंख्यात समय बीत जाते हैं। ऐसे असंख्यात समयकी १ आवलिका।

३७७३ आवलिकाका १ श्वासोच्छ्वास

३७७३ नीरोगी मनुष्यके श्वासोच्छ्वासका १ मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट

३० मुहूर्त्तका	१ दिन रात
१५ दिन-रातका	१ पक्ष
२ पक्षका	१ महीना
२ महीनेकी	१ ऋतु
३ ऋतुका	१ अयन
२ अयनका	१ वर्ष
५ वर्षका	१ युग

१ कुआ खाली होनेके समयका १ पल्योपम*

१० कोड़ाकोड़ कुए खाली हों उतने वर्षोंका १ सागरोपम

---

* पल्योपमका विस्तार इस प्रकार है:—

एक योजनके लम्बे चौड़े औंड़े कुएमें देव-कुरु उत्तर-कुरु क्षेत्रके मनुष्यके एक दिनसे ७ दिन तकके बच्चेके वालाग्रके एकके दो विभाग तीक्ष्ण शस्त्रसे भी न होवें, ऐसे बारीक कर उक्त कुयेंको ठूँस ठूँसकर ऐसा भरे कि उसपरसे चक्रवर्तीकी सेना भी चली जाय तो वह दबे नहीं। फिर उस कुयेंमेंसे सौ-सौ वर्षके बाद १—१ वालाग्र निकालते-निकालते वह कुआ जब साफ़ खाली हो जावे—उसमें एक भी वालाग्र न रहे—उतने वर्षको एक पल्योपम कहते हैं।

पहली अपसर्पिणीके छह आरोंका संक्षेपमें वर्णन इस प्रकार है:—

पहला आरा—इसका नाम सुषमा-सुषमा आरा है। इसमें जो प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनको किसी प्रकारका दुःख नहीं होता अर्थात् उन्हें सुखमें सुख मिलते हैं। जिस वस्तुकी वे इच्छा करते हैं, फ़ौरन् उन्हें कल्पवृक्षसे प्राप्त हो जाती है और किसी प्रकारकी तकलीफ़ पास तक नहीं आती। इसका समय-प्रमाण चार क्रोड़ाक्रोड़ सागरका होता है। इस समयके मनुष्योंको शास्त्रकारोंने 'युगलिये' कहा है। कारण, जन्म लेते समय दो प्राणी-स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं।

दूसरा आरा—इसका नाम सुषमा आरा है। इसमें पहले आरेसे सुख कम हो जाते हैं, पर दुःख किसी प्रकारका नहीं होता। इस समय भी इच्छानुसार कल्पवृक्षसे वस्तुओंकी प्राप्ति हो जाती है, पर पहले आरेके मुक़ाबिले मनुष्योंकी अवगाहना (क़द) वा उम्र कुछ कम हो जाती है, सुन्दरता संगठनमें भी कुछ कमी हो जाती है और पदार्थोंकी ताक़त व गुणोंमें भी कुछ कमी हो जाती है। इसका समय-प्रमाण तीन क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपमका होता है। इस समयमें भी युगलिये अर्थात् स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न होता है।

तीसरा आरा—इसका नाम सुषमा-दुष्षमा आरा है। इसके पहिले दो भागमें दूसरे आरेके समान स्थिति रहती है। पर

तीसरे आरेके तीसरे हिस्सेमें जब चौरासी लाख पूर्वसे समय ज्यादा रह जाता है, उस समयसे पदार्थोंकी कमी होनेके कारण मनुष्य अर्थात् युगलिगे आपसमें झगड़ने लग जाते हैं। इनमें कोई-कोई मनुष्य समझदार होते हैं। वे समझ-बूझकर मामलेको शान्त कर देते हैं। इनको 'कुलकर' कहते हैं। एक कुलकर, जिनका नाम 'विमलवाहनजी' था, उनकी एक हाथीके साथ मित्रता होगई थी, वे उसपर चढ़कर भ्रमण किया करते थे और वह मनुष्योंके झगड़े तय करा दिये करते थे। उनकी सातवीं पीढ़ीमें 'श्रीनाम' कुलकर हुए। उनकी स्त्रीका नाम 'श्रीमरुदेवीजी' था। श्रीमरुदेवीजीने एक श्रेष्ठ और अति उत्तम पुत्रको जन्म दिया, जिनका नाम 'श्रीऋषभदेवजी' रक्खा गया। जब ये बड़े हुए, तब इनके पिताने इनकी शादी दो सुन्दर कन्याओंके साथ की। एकका नाम 'सुमङ्गला' था, दूसरीका 'सुनन्दा'। श्रीसुमङ्गलाजीने एक पुत्र, जिनका नाम 'भरत' और कन्या जिनका नाम 'ब्राह्मी' था, जन्मा। दूसरी श्रीसुनन्दाजीने भी एक पुत्रको, जिनका नाम 'बाहुबलिजी' और कन्या जिनका नाम 'सुन्दरी' था, जन्म दिया।

श्रीऋषभदेवने जनताको अनाज बोना, बर्त्तन बनाना, खाना पकाना, मकान बनाना, वस्त्र बनाना, और और-और जरूरी हुनर व दस्तकारीकी शिक्षा दी।

इस तरह सब प्रकारके सुधारोंका प्रारम्भ श्रीऋषभदेवजीने किया। अतः वह मानव जातिके सर्व प्रथम सुधारक माने

जाने लगे। सब लोगोंने मिलकर श्रीनाम कुलकरजीकी आज्ञा प्राप्त करके श्रीऋषभदेवजीको अपना राजा स्थापित किया। इस प्रकार वे सबसे पहले राजा स्थापित किये गये। अतः वे 'आदिनाथ' कहलाये।

श्रीआदिनाथ राज-पाटका उपभोग तथा आनन्द करने लगे। इसी दशा में उन्हें ख्याल आया कि मनुष्योंको कला तो सिखा दी, पर धर्मकी शिक्षा नहीं दी। अतः उन्हें धर्मकी शिक्षा देनी चाहिये। धर्मकी शुरूआत दानसे होती है। यह विचार कर उन्होंने राजमहलमें एक दान-शाला खोल दी और एक वर्ष तक सोनेकी मोहरोंका दान करते रहे। बादमें अपने पुत्रोंको राज-पाट बाँटकर स्वयं साधु-वृत्ति धारण कर विचरने लगे। भ्रमण करते-करते श्रीऋषभदेवजी हस्तिनागपुर नगरमें पधारे। वहाँके राजा श्रेयांसकुमार थे। वे श्रीऋषभदेवजीके पुत्र बाहु-बलिजीके पुत्र अर्थात् पोते थे। उन्होंने यह मालूम करके कि भगवान् श्रीऋषभदेवजी पहले तीर्थङ्कर (संसारके मेरे बाबा) पधारे हैं, बड़े प्रेमसे भगवान्के अविग्रहका ईख रस द्वारा पारणा कराया।

श्रीऋषभदेव भगवान् बहुत समय तक भ्रमण करते रहे। बादमें उन्होंने केवलज्ञानको प्राप्त करके निर्वाण पदको प्राप्त किया।

यह पहले तीर्थङ्कर हुए। तीर्थङ्करके गुण, अतिशय आदि का वर्णन आगे किया गया है।

इसी समयमें श्रीऋषभदेवजीके पुत्र भरतजीने युवावस्था में राज-पद प्राप्त किया। उन्होंने भरत-क्षेत्रके छह खण्डोंकी विजय की और वे पहले चक्रवर्त्ती बने। इन्होंने बादमें राज्य छोड़ केवलज्ञानी हो मोक्ष-पद प्राप्त किया। चक्रवर्त्तीकी ऋद्धि, सिद्धि, वैभव तथा पुण्यका वर्णन भी अगाड़ी किया गया है।

इस प्रकार तीसरे आरेमें सिर्फ एक तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवजी और एक चक्रवर्त्ती श्रीभरतजी हुए।

यह आरा दो सागरोपमका होता है।

चौथा आरा—इस आरेको दुष्षमा-सुषमा आरा कहते हैं। इस समयमें दुःख बहुत होता है और सुख थोड़ा। इसका समय-प्रमाण एक क्रोड़ाक्रोड़ी सागरमें ब्यालीस हज़ार वर्ष कम होता है। तीसरे आरेके मुक़ाबिले इस समयके पुरुषों के संगठन, बनाव, रूपमें बहुत बड़ी कमी हो जाती है और यही हालत तमाम प्रकारके पदार्थोंकी हो जाती है।

इस आरे में २३ तीर्थङ्कर, ११ चक्रवर्त्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, और ९ प्रतिवासुदेव हुये। २३ तीर्थंकरोंके नाम, स्त्रीके नाम, आयुष्य, अवगाहना और गति निम्न प्रकार है—

नं०	नाम	पिता का नाम	माता का नाम	आयुष	योग समय	शरीर का वर्ण	अवगाहन	मोक्ष
२	श्री अजितनाथ जी	जितशत्रु राजा अयोध्या	विजयादेवी	७२ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	सुवर्णवत्	४५० धनुष	१००० साधु के साथ मोक्ष
३	श्री सम्भवनाथ जी	जितारी राजा सावश्री नगरी	सेन्यादेवी	६० लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	,,	४०० धनुष	,,
४	श्री अभिनन्दन जी	संवर राजा विनता नगरी	सिद्धार्थ रानी	५० लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	,,	३५० धनुष	,,
५	श्री सुमतिनाथ जी	मेघरथ राजा कंचनपुर नगर	सुमंगला रानी	४० लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	,,	३०० धनुष	,,
६	श्री पद्मप्रभु जी	श्रीधर राजा कौशाम्बी नगरी	सुषमा रानी	३० लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	लाल	२५० धनुष	,,
७	श्री सुपार्श्वनाथ जी	प्रतिष्ठ राजा वाणारसी नगरी	पृथ्वीदेवी रानी	२० लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	सुवर्णवत्	२०० धनुष	५०० साधु के साथ मोक्ष

नं०	नाम	पिता का नाम	माता का नाम	आयुष	योग समय	शरीर का वर्ण	अवगाहन	मोक्ष
८	श्री चन्द्रप्रभु जी	महासेन राजा चन्द्रपुरी	लक्ष्मणादेवी	१० लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	श्वेत वर्ण	१५० धनुष	१००० साधु के साथ मोक्ष
९	श्री सुविधनाथ जी	सुग्रीव राजा काकेद नगरी	रामादेवी	२ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	,,	१०० धनुष	,,
१०	श्री शीतलनाथ जी	दृढरथ राजा मंदिलपुर	नन्दादेवी	१ लाख पूर्व	चौथाई लाख पूर्व	सुवर्णवत्	९० धनुष	,,
११	श्री श्रेयांसनाथ जी	विष्णु राजा सिंहपुर	विष्णुदेवी	८४ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	स्वर्णवत्	८० धनुष	,,
१२	श्री वासुपूज्य जी	वसुपूज्य राजा चंपापुरी	जयादेवी	७२ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष	लाल	७० धनुष	६०० साधु के साथ मोक्ष
१३	श्री विमलनाथ जी	कृतवर्म राजा कपिलापुर	श्यामादेवी	६० लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	स्वर्णवत्	६० धनुष	,,
१४	श्री अनन्तनाथ जी	सिंहसेन राजा अयोध्या नगरी	सुयशा रानी	३० लाख वर्ष	७॥ लाख वर्ष	,,	५० धनुष	७०० साधु के साथ मोक्ष

०	नाम	पिता का नाम	माता का नाम	आयुष	योग समय	शरीर का वर्ण	अव-गाहन	मोक्ष
५	श्री धर्मनाथ जी	मालू राजा रावपुरी	सुवृता रानी	१० लाख वर्ष	१ लाख वर्ष	स्वर्णवत्	४५ धनुष	८०० साधु के साथ मोक्ष
६	श्री शान्तिनाथ जी	विश्वसेन राजा हस्तिनागपुर	अचरादेवी	१ लाख वर्ष	२५ हजार वर्ष	,,	४० धनुष	६०० साधु के साथ मोक्ष
७	श्री कुन्थुनाथ जी	सुर राजा गजपुरनगर	श्रीदेवो	६५ हजार वर्ष	२३७५० वर्ष	,,	३५ धनुष	१००० साधु के साथ मोक्ष
८	श्री अर्हनाथ जी	सुदर्शन राजा हस्तिनागपुर	देवी रानी	८४ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष	,,	३० धनुष	,,
९	श्री मल्लीनाथ जी	कुम्भ राजा मिथलानगरी	प्रभावती	५५ हजार वर्ष	५४९०० वर्ष	हरा	२५ धनुष	५०० साधु के साथ मोक्ष
०	श्री मुनिसुव्रत जी	सुमित्र राजा राजगृह	पद्मावती	३० हजार वर्ष	७५०० वर्ष	श्याम	२० धनुष	१००० साधु के साथ मोक्ष
१	श्री नमिनाथ जी	विजय राजा मथुरा नगरी	वप्रा रानी	१० हजार वर्ष	१००० वर्ष	सुवर्णवत्	१५ धनुष	१००० साधु के साथ मोक्ष

२२ वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथजी हुये। ये राजा समुद्रपालजीके पुत्र थे। समुद्रपालजीकी पटरानीका नाम सिवादेवी था, जो नेमिनाथजीकी माता थीं। राजा समुद्रपालजीकी राजधानी सौरीपुर था, जहाँ नेमिनाथजीका जन्म हुआ था। श्रीकृष्ण-चन्द्रजीके पिता वसुदेवजी समुद्रपालजीके छोटे भाई थे अर्थात् नेमिनाथजी श्रीकृष्णचन्द्रजीके चचाजात भाई थे। श्रीकृष्णजीको वासुदेवकी पदवी थी। श्रीनेमिनाथजीका चित्त शुरूसे ही संसार को त्यागनेका हो रहा था, पर बहुत आग्रह करनेपर वह शादी करनेकेलिए तैयार हुए थे। उनकी सगाई मथुराके राजा उग्रसेनकी कन्या श्रीराजमतीजीके साथ निश्चित हुई थी। शादीका मुहूर्त्त जल्दसे जल्द निश्चित किया गया और बड़े समारोहके साथ श्रीकृष्णचन्द्रजीने वसुदेवजी, समुद्रपालजी, पाँचों पाण्डव वा अनेक प्रसिद्ध यादव-वंशियोंके साथ बरातकी तैयारी की और मथुरा नगरीको रवाना हुये। जब श्रीनेमिनाथजीके हाथीने शहरमें प्रवेश किया तो उन्होंने एक स्थानपर एक बाड़ेसे अनेक जीवोंकी चिंग्घाड़ और चिल्लाहट आते सुनी, तब उन्होंने पीलवान्से पूछा कि यह किसका शब्द है ? तो उसने विनय-पूर्वक अर्ज किया कि बारातमें बहुत से मांसाहारी भी आये हैं, उनके खानेकेलिये यहाँ जानवर इकट्ठे किये गये हैं, तो फ़ौरन उन्होंने ख़याल किया कि मेरी शादीके कारण ये सारे वध किये जावेंगे, इस कारण शादी नहीं करना—यह सोचकर उन्होंने फौरन हाथी फेरनेको कहा,

इतनेमें ही श्रीकृष्णचन्द्रजी और और-और लोग आये। उन्होंने बहुतेरा समझाया, पर उन्होंने किसीकी भी न मानी और साधुपना लेनेपर आरूढ़ हो गये। यह हाल सुनकर राजमतीजी बेहोश हो गईं और बड़ा पश्चात्ताप करने लगीं। तब उन्होंने भी यह निश्चय किया कि जब मेरे स्वामी—प्राणनाथ अपनी आत्मा को सुधारना चाहते हैं तो मुझको भी वही कार्य करना योग्य है। तदनुसार उन्होंने भी साधुपना लेना ठान लिया। श्रीनेमिनाथजी का दीक्षा-महोत्सव बड़ी धूम-धामसे किया गया। बादमें उन्होंने बड़ी तपस्या की और केवलज्ञानको प्राप्त किया। उनकी आयु एक हज़ार वर्षकी थी। उसमें तीन सौ वर्ष संसार में रहे और सात सौ वर्ष संयम पाल पांच सौ छत्तीस साधुओंके साथ गिरनार पर्वतसे मोक्षको पधारे अर्थात् सिद्ध-गतिको प्राप्त हुये। अबसे लगभग छियासी हज़ार वर्ष हुए जब श्रीनेमिनाथजीका जन्म हुआ था।

२३ वें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथजी हुये। गङ्गाजीके तट पर 'वाणारसी' नामका एक बड़ा नगर है। प्राचीन समयमें क़रीब तीन हज़ार वर्ष हुये, जब एक बड़े पराक्रमी और प्रतिभाशाली अश्वसेन नामके राजा राज्य करते थे। उनकी सबसे बड़ी प्राण-बल्लभा रानीका नाम वामादेवी था।

ये दोनों आनन्द-पूर्वक बड़े प्रेमके साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे कि एक दिन रात्रिके समय श्रीवामादेवीने एक स्वप्न देखा कि एक काला सर्प उनके पास हो कर निकल गया है।

रानीने दूसरे दिन यह बात राजासे कही। राजाने पण्डितोंसे इस स्वप्नका अर्थ पूछा। इसपर पण्डितोंने कहा कि आपके बड़ा पराक्रमी और प्रतिभाशाली पुत्र जन्म लेगा। समय आनेपर श्रीवामादेवीने एक पुत्र-रत्नको जन्म दिया। इस महान् आत्मा का जन्म, जिनका नाम 'पार्श्वनाथ' रक्खा गया और जो तेईसवें तीर्थङ्कर हुये, आजसे क़रीब २६८१ वर्ष पूर्व हुआ था। इनके लालन-पालनकेलिये अनेक धाय रक्खी गईं। जब यह समझदार हुये तो इन्हें संसार अच्छा न लगता था और ये साधुपनेकी ओर अपने विचार रखते थे।

उसी समय 'प्रसेनजित' नामका एक राजा था, जो कुशस्थल नामक राजधानीपर राज्य करता था। उसके 'प्रभावती' नामकी एक बड़ी सुन्दर और होनहार कन्या थी। श्रीप्रभावतीने पार्श्वनाथकी बड़ी महिमा और तारीफ़ सुनी। इस कारण उसने निश्चय किया कि मैं विवाह उनसे ही करूँगी। जब उसके माता-पिताने सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए और निश्चय किया कि जब पुत्री स्वयं वर चुनती है तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है। देखते-देखते हवाके समान यह बात सारे देशमें फैल गई। इधर कलिङ्ग देशका राजा पहलेसे ही प्रभावतीपर अनुरक्त हो रहा था। जब उसने यह सुना तो वह बड़ी सेनाके साथ चढ़कर आया और कुश-स्थल नगरीपर घेरा डाल दिया। इस पर प्रसेनजितने गुप्त रीतिसे राजा अश्वसेनसे मददकी प्रार्थना की। उन्होंने सहायता करना स्वीकार किया और फ़ौज तैयार

की। तब पार्श्वकुमारने तैयारीका कारण पूछा। इसपर राजा ने सारा हाल कहा। तब कुमारने कहा कि मुझे आज्ञा दीजिये, मैं सब ठीक कर आऊँगा। राजाने आज्ञा दे दी। वह बड़ी सेना के साथ वहाँ गया और कलिङ्ग देशके राजाको दूत द्वारा संदेश भेजा कि यदि तुम यहाँसे पीछे लौट कर चले जाओ तो मैं तुम्हारा अपराध क्षमा कर दूँगा, वरना तुम्हारा बुरा हाल किया जायगा। शुरूमें तो कलिङ्ग-राजा हवाके घोड़ेपर सवार था, पर जब उसे पार्श्वनाथकुमारके बलके बारेमें ज्ञात हुआ तो वह फ़ौरन उपस्थित हुआ और क्षमाकेलिये प्रार्थना की। वह स्वीकार कर ली गई। इसके बाद वह वहाँसे चला गया। यह देखकर राजा प्रसेनजितकी हर्षकी सीमा न रही। उन्हें एक साथ दो ख़ुशियाँ हुईं। एक तो शत्रुका भय दूर हुआ और दूसरे पार्श्वनाथकुमार, जिनकी आवश्यकता थी, घर बैठे आ गये। राजाने पार्श्वनाथको बड़ा धन्यवाद दिया और प्रार्थना की कि मेरी कन्या प्रभावतीको ग्रहण करो। इसपर कुमारजीने उत्तर दिया कि मैं जिस कार्य्यकेलिये आया था, पूरा हो गया। अब मैं वापस चला जाऊँगा। इसपर राजा प्रसेनजितने प्रार्थना की कि मैं आपके पिताके चरणोंको प्रणाम करने चलना चाहता हूँ। इसको पार्श्वकुमारने स्वीकार कर लिया। राजा प्रसेनजित प्रभावतीको लेकर काशी आया। राजा प्रसेनजितने राजा अश्वसेनको राज-रीति के अनुसार नमस्कार करके सारा हाल सुनाया। राजा अश्वसेनने कहा कि कुमार प्रारम्भसे ही

वैराग्य-प्रिय हैं। अतः हम अभी यह नहीं जान सके कि वे क्या करेंगे ? हमारी भी बड़ी लालसा है कि पार्श्वकुमार किसी योग्य कन्यासे विवाह करें। राजा अश्वसेन राजा प्रसेनजितको साथ लेकर पार्श्वकुमारके पास गये और उनसे शादी करनेको कहा। इसपर पार्श्वकुमारने उत्तर दिया कि पिताजी ! मुझे वैवाहिक जीवन पसन्द नहीं है। अन्तमें पिताजीका अधिक आग्रह देख विनीत पार्श्वकुमारने प्रभावतीके साथ अपना विवाह कर लिया। विवाह हो जानेपर प्रभावतीके आनन्दकी सीमा नहीं रही।

एक दिन पार्श्वकुमारने लोगोंके झुण्डको एक दिशामें जाते देखा। दरयाफ्त करनेसे मालूम हुआ कि 'कमठ' नामका एक बड़ा तपस्वी जो पञ्चाग्नि तपता है, आया हुआ है। इस दृश्यको देखनेकी इच्छा पार्श्वकुमारको भी हुई। वह अपने कुछ नौकरोंके साथ उस स्थानपर आये, जहाँ कमठ चारों ओर मोटी-मोटी लकड़ियाँ जला कर धूनी ले रहा था। चतुर पार्श्व-कुमारने अपने ज्ञानसे इन लकड़ियोंमें एक बड़े सर्पको जलते देखा ? यह देख कर उनका हृदय दयासे भर आया। वे बोल उठे कि यह कितनी भारी नासमझी है ? केवल शरीरको कष्ट देनेसे कहीं तप हो सकता है ? तप इत्यादि धर्म अहिंसाके बिना व्यर्थ हैं। पार्श्वकुमारकी यह बात सुन कर कमठ तपस्वीने कहा—'हे राजकुमार ! धर्मके विषयमें तुम क्या जानते

हो ? तुम तो हाथी-घोड़ोंकी सवारी और उनका दौड़ाना जानने वाले हो। धर्म तो हमारे समान तपस्वी ही जानते हैं।' इसपर पार्श्वकुमारने अपने मनुष्योंसे कहा—'इस लकड़ी को धूनीमेंसे खींच लो और सावधानीसे उसे बीचमेंसे चीर कर उसके दो हिस्से करो।' मनुष्योंने वैसा ही किया तो उसमें से एक बड़ा साँप निकला। उसका शरीर झुलस चुका था। यह देख कर कमठ बड़ा लज्जित हुआ और साथ ही क्रोधित भी हुआ। वह वहाँ तप करता रहा। बादको मृत्युको प्राप्त होकर एक प्रकारका देवता हुआ।

एक समय पार्श्वकुमार प्रभावतीके साथ वनकी शोभा देखने निकले। वे घूमते-घूमते एक महलके सामने आये। पार्श्वकुमार और प्रभावती उस महलके अन्दर आराम करने गये। महलके अन्दर अनेक प्रकारके सुन्दर चित्र लगे हुए थे। उन्हें देखते-देखते वे नेमिनाथकी बरातका दृश्य, जो वहाँ बना हुआ था, देखने लगे। इसपर पार्श्वकुमारको अपने जीवनके विषयमें विचार हुआ। इस घटनासे पार्श्वनाथका चित्त सांसारिक सुख-भोगसे अलग हो गया। उनका वैराग्य बढ़ता गया। वैराग्यके बाहरी चिह्न स्वरूप उन्होंने एक वर्ष तक सोनेकी मोहरोंका दान दिया। बादमें संसारको असार जान कर साधुपना धारण किया।

अब आप घूमते-फिरते एक दिन शहरके निकट एक तापस आश्रमके पास आये। संध्या हो चुकी थी और रात्रिके समय

उन्हें भ्रमण करना नहीं था। इसलिये वे एक बटके वृक्षके नीचे ध्यान लगा कर खड़े हो गये।

कमठका जीव जो 'मेघमाली' नामका देव हो गया था, उस का श्रीपार्श्वनाथजीसे बड़ा वैर था। इस कारण उस रात्रिमें उसने श्रीपार्श्वनाथजीको अनेक उपसर्ग पहुँचाये और सिंह, हाथी, रीछ तथा चीते आदिके डर बतलाये, किन्तु श्रीपार्श्वनाथ जी अपने ध्यानमें आरूढ़ बने रहे। जब उस मेघमाली देवने देखा कि मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ होगये, तब उसने भयङ्कर वर्षाका उपद्रव करना प्रारम्भ किया। इसके परिणाम स्वरूप पार्श्वनाथके चारों ओर पानीही पानी घूमने लगा और देखते-देखते पानी कमर, नाभि यहां तक कि छाती तक पहुँच गया, किन्तु श्रीपार्श्वनाथ जी अपने ध्यानमें मग्न बने रहे। 'धरणेन्द्र'* नामक नागराजने जब यह दशा देखी, तब उसने प्रभु-द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकारोंका बदला चुकानेकी इच्छासे स्वयं वहाँ आकर इस उपद्रवको बन्द किया। इस समय भी श्रीपार्श्वनाथ जी ध्याना-रूढ़ खड़े थे। उनकेलिये तो धरणेन्द्र तथा मेघमाली एक समान थे, अर्थात् वे शत्रु तथा मित्रको समान दृष्टिसे देखते थे।

इस घटनाके थोड़े ही दिन बाद श्रीपार्श्वनाथजीको केवल ज्ञान अर्थात् सच्चा और पूर्ण ज्ञान उत्पन्न हुआ। केवलज्ञान हो

---

* यह वही सर्पका जीव है, जिसे श्रीपार्श्वनाथने जलती हुई लकड़ी में से निकलवा कर प्राण-दान दिये थे।

जानेके बाद उन्होंने सब लोगोंको पवित्र जीवन व्यतीत करनेका उपदेश दिया। आपके उपदेशसे हज़ारों पुरषों तथा स्त्रियोंने पवित्र जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। दीर्घ काल तक विहार करनेके बाद जब श्रीपार्श्वनाथ भगवान्को अपना निर्वाण-काल समीप दिखाई दिया, तब वे संमेदशिखरपर चले गये। इस पर्वतको अजितनाथ-प्रभृति तीर्थंकरोंका सिद्धि-स्थान समझ कर भगवान्ने यहीं निवास कर अनशन प्रारम्भ किया। श्रावण-शुक्ल ८ मी को आज (वि० सं० १९८९) से २७८१ पूर्व विशाखा नक्षत्रमें भगवान्ने पहले मन-वचनके योगका निरोध किया। क्रमशः भगवान्ने शुक्ल-ध्यान करते हुये, पंच ह्रस्वाक्षर प्रमाण-कालका आश्रय कर समस्त कर्मोंको क्षीण करते हुये संसारके समस्त दुःखों और कर्मोंसे रहित हो अचल, अरुज, अक्षय, अनन्त, अव्याबाध मोक्ष-पद प्राप्त किया।

अन्तमें २४ वें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हुए। मगधदेशमें, जिसकी कि राजधानी 'क्षत्रिय-कुण्ड' थी, श्रीसिद्धार्थ नामके राजा राज्य करते थे। वे बड़े ही धर्मात्मा और न्यायी राजा थे। उनकी 'श्रीत्रिशलादेवी' नामकी पट्टरानी थीं। वह बड़ी सुन्दर और योग्य महिला थीं। वे दोनों अपना जीवन आनन्द-पूर्वक बिता रहे थे।

एक रात्रिको उन्होंने कई बड़े-बड़े सुन्दर स्वप्न देखे। राजाने पण्डितोंसे उन स्वप्नोंका अर्थ पूछा। उसपर पण्डितोंने कहा कि महाराज! आपके बड़ा पराक्रमी और महावीर पुत्र होगा।

नव महीनेके बाद श्रीत्रिशला रानीने एक अतिसुन्दर और होनहार पुत्रको आज (वि० सं० १९८९) से २५३१ वर्ष पूर्व जन्म दिया। जिस दिनसे यह पुत्र हुआ, उसी दिनसे राजाके कुल, धन-धान्य तथा आनन्दकी दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि होने लगी। इसको देख कर राजा ने पुत्र का नाम 'वर्धमान' रक्खा।

ये कुमार आनन्द पूर्वक पाले जाने लगे। जब वे ८ वर्षके हुये तो पढ़ानेका प्रबन्ध किया गया, पर पण्डितोंको मालूम हुआ कि उनकी समझ बहुत अधिक है और प्रत्येक बातको वे अपनी बुद्धिसे ही समझ लेते हैं। अतः उन्हें कुछ पढ़ाने-लिखानेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

श्रीवर्धमान माता-पिताके बड़े भक्त थे। वे अपने माता-पिताको सदा प्रसन्न रखना चाहते थे। वे कभी किसीपर क्रोध नहीं करते थे। चित्तमें कभी अभिमानका अंश भी न आने देते थे। सदा सत्य बोलते थे। उन्हें सांसारिक विषय-भोग और लालसा अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती थी। वे सदा विरक्त भावसे रहते थे।

श्रीवर्धमानकुमार बड़ी अवस्थाके होगये, पर विवाह करनेकी उन्हें तनिक भी इच्छा न थी। तथापि माता-पिताके अधिक आग्रह करनेपर उन्होंने शादी कर ली। जिस कन्याके साथ उनकी शादी की गई, वह बड़ी सुन्दर, सुशील और गम्भीर थी। उसका नाम 'श्रीयशोदा' था। कुछ समयके पश्चात् उनके एक कन्या-रत्नने जन्म लिया, जिसका नाम 'प्रियदर्शना' रक्खा गया।

एक समय उन्होंने अपने माता-पितासे साधुपना लेनेकी इच्छा प्रकट की। यह सुनकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और आग्रहपूर्वक पुत्रसे उन्होंने कहा कि—जब तक हम जीवित हैं, तब तक आप ऐसा न करो। जिसको उन्होंने स्वीकार कर लिया। कुछ समयके बाद 'सिद्धार्थ राजा'का देहान्त हो गया। श्रीवर्धमान-कुमारके बड़े भाई 'नन्दिवर्धनजी' श्रीवर्धमानकुमारको गद्दीपर बैठाना चाहते थे, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और श्रीनन्दिवर्धनजीको ही गद्दीपर बैठाया गया।

कुछ समय बाद श्रीवर्धमानकुमारने दीक्षा-ग्रहण करनेका विचार प्रकट किया। इसपर श्रीनन्दिवर्धनके दुःखकी कोई सीमा न रही और अत्यन्त आग्रहपर उन्होंने कुछ समयके लिए अपने विचारोंको स्थगित कर दिया, परन्तु उन्होंने गृहस्थीमें रहते हुये साधु-जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार उन्होंने एक वर्ष व्यतीत किया। दूसरे वर्ष उन्होंने स्वर्ण-मुद्रा का दान देना प्रारम्भ कर दिया। बादको बड़े समारोहके साथ लाखों स्त्री-पुरुषोंके समक्ष पञ्चमुष्टी लौंच किया और साधु-जीवन ग्रहण किया अर्थात् आजसे मैं किसी भी प्रकारका पाप कर्म, मन, वचन और कायसे नहीं करूँगा और सम्पूर्ण रूपसे अपनी आत्म-शुद्धि करूँगा। इस समय इनकी आयु ३० वर्षकी थी।

महात्मा तो बहुत हो चुके हैं, पर श्रीवर्धमानस्वामीसे बढ़कर बहुत कम हुये हैं। उन्होंने साधुपना धारण करते ही बहुत कड़े

तप करना आरम्भ कर दिया अर्थात् किसी समय दो उपवास* किसी समय चार उपवास, कभी पन्द्रह, कभी बीस उपवास कर डालते थे। यहीं तक नहीं, उन्होंने छह-छह महीनेके कई उपवास किये। इन उपवासोंके समय श्रीवर्धमानस्वामी एकान्त स्थान जैसे—जंगल, गुफा आदिमें ध्यान लगाकर खड़े रहते थे। दंश, मंशक, बिच्छू, भ्रमर आदिके उपसर्गोंको बड़ी शान्तिसे सहते थे। सर्पके काटनेके उपसर्गको, ग्वाले द्वारा कानमें ठूँसी हुई ठुइओंकी पीड़ाको, कुत्तों द्वारा काटी जाने और नाना प्रकारकी दूसरी बड़ी-बड़ी आपत्तियोंको बड़ी शान्ति और धैर्यके साथ सहन किया था। इसीसे उनका नाम 'महावीर' पड़ा। भगवान् महावीरने साढ़े बारह वर्षमें सिर्फ साढ़े तीन वर्ष आहार ग्रहण किया। शेष समयको तपस्यामें व्यतीत किया। बादमें उन्होंने शुक्ल ध्यान ध्याते हुये शुभ घड़ीमें केवलज्ञानकी प्राप्ति की।

---

* लोग समझते हैं कि उपवास उसे कहते हैं कि जिसमें खाने-पीनेका कोई पदार्थ नहीं खाया जाता है, अगर जरूरत होती है तो सिर्फ गर्म पानी पी लिया जाता है। लेकिन उपवासका यह अर्थ नहीं है। उपवासका अर्थ है—

"कषायविषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लङ्घनकं विदुः॥"

अर्थात्—कषाय, विषय और आहारका त्याग जिस व्रतमें किया जाय, उसे 'उपवास' समझना चाहिये, नहीं तो केवल आहार-पानीका त्याग तो 'लङ्घन' है, उपवास नहीं।

इसके बाद उन्होंने धर्म-उपदेश देना प्रारम्भ किया और चतुर्विध संघकी स्थापना की। इससे वे 'चौबीसवें तीर्थङ्कर' कहलाये। उन्होंने अपने उपदेशमें कहा कि हिंसासे भरे हुए होम-हवन आदि क्रियाकाण्डसे सच्चा धर्म नहीं होता। धर्म तो केवल आत्म-शुद्धिसे ही होता है। जो सद्‌गुणी हैं, वे ब्राह्मण हैं। जो दुराचारी हैं, वे शूद्र हैं। धर्मका ठेका किसी मनुष्य-विशेषको नहीं है। प्रत्येक मनुष्यको धर्म करनेका अधिकार है। चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे चाण्डाल; स्त्री हो या पुरुष। अहिंसा ही परम धर्म है। जिसकी आत्माका पूर्ण विकास हो जाता है, वही परमात्मा बन जाता है। महावीर भगवान्‌के वैशाली-पति चेड़ा महाराज, राजगृह-पति श्रेणिक और उनके पुत्र कौणिक आदि राजा, आनन्द तथा कामदेव आदि बड़े सेठ साहूकार, शकडाल तथा ढक आदि कुम्हार आदि बहुतसे शिष्य थे। महावीर भगवान्‌ने अहिंसाका रहस्य समझाया और संसारको ज्ञान और सच्चे त्यागका भारतवर्षमें फिर प्रकाश दिखा दिया।

भगवान् महावीर विचरते-विचरते पावापुरीमें पधारे। वहाँ बहुतसे राजा लोग व गृहस्थ भगवान्‌के दर्शनोंको आये। उन्होंने अपनी अमृत वाणीसे उपदेश दिया। भगवान्‌का यह अन्तिम उपदेश था। बादमें वे कातिक बदी १५ वींकी रातको निर्वाण-पदको प्राप्त हुए। इस प्रकार संसारका सूर्य्यास्त हुआ। इस समय भगवान्‌की उम्र ७२ वर्षकी थी। महावीर भगवान् ३० वर्ष गृहस्थ अवस्थामें रहे और ४२ साधु अवस्थामें। कुछ समय पूर्व अन्य

धर्मावलम्बी जैन-धर्मको एक कायरोंका धर्म समझा करते थे और उसके अनुयायियोंको पोप अथवा भीरु कहा करते थे। पर हम जैनियोंको महात्मा गाँधीजीको कोटिशः धन्यवाद देना चाहिये कि उन्होंने अपनी समाजके मुखको उज्वल कर दिया और बता दिया कि अहिंसामय धर्म शूरवीरों अथवा बहादुरोंका है। आज उसने न सिर्फ भारतवर्षमें, बल्कि समस्त दुनियांमें अहिंसाकी छाप डाल दी है और सिद्ध करके बता दिया कि अगर संसारका निस्तार अथवा उद्धार हो सकता है तो केवल एक अहिंसामय सिद्धान्त ही मार्ग है। हम जैनियोंको वर्त्तमान आन्दोलनसे सबक सीखना चाहिये और आत्मविश्वास लाकर सत्यपर अरूढ़ रहना चाहिये।

मेरा यह ख्याल है कि अब जनता अहिंसाके सिद्धान्तको अवश्य मान गई है, पर हम जैनियोंके कार्योंको देखकर उसके हृदयमें अवश्य संदेह हो सकता है।

मेरी अपने जैनी भाइयोंसे यही प्रार्थना है कि उन्हें महावीर भगवान्‌के जीवनसे अहिंसाका सबक लेना चाहिये और अपने जीवनका उसीके अनुसार बनाना चाहिये।

चौथा आरा एक सागरोपममें ४२००० वर्ष कम कालका होता है। इस चौथे आरेमें ११ चक्रवर्त्ती हुए। उनके नाम, पिताका नाम, माताका नाम, स्त्रीका नाम, आयुष्य, अवगाहना, और गति निम्न प्रकार हैं—

नं०	नाम	पिताका नाम	माताका नाम	स्त्रीका नाम	आयुष्य	अवगाहना	गति
१	सगर	सुमति राजा	जयवती	श्रीभद्रा	७२ लाख पूर्व	४५ धनुष	मोक्ष
२	मघवान्	विजय राजा	भद्रारानी	सुनन्दा	६ लाख वर्ष	४२ धनुष	,,
३	सनत्कुमार	समुद्र राजा	शिवारानी	श्रीरत्ना	३ लाख वर्ष	४१ धनुष	,,
४	शान्तिनाथ	विन्दुसेन	अचिरारानी	श्रीविजया	१ लाख वर्ष	४० धनुष	,,
५	कुन्थुनाथ	सुरण्य राजा	श्रीदेवीरानी	श्रीकन्हश्री	९६००० वर्ष	३५ धनुष	,,
६	अरहनाथ	सुन्दखड़ राजा	देवीरानी	श्रीसुरश्री	८४००० वर्ष	३० धनुष	,,
७	सुभूमि	पामत राजा	जालीरानी	श्रीपद्मश्री	६० हजार वर्ष	२८ धनुष	,,
८	महापद्म	कीर्तिवीर्य राजा	तारारानी	श्रीसुन्दरी	३० हजार वर्ष	२० धनुष	नरक
९	हरिषेण	महाहरि राजा	मेरारानी	श्रीदेवी	१० हजार वर्ष	१६ धनुष	मोक्ष
१०	जयसेन	पद्म राजा	वप्रारानी	श्रीलक्ष्मी	३ हजार वर्ष	१२ धनुष	,,
११	ब्रह्मदत्त	ब्रह्म राजा	चूलसीरानी	श्रीकुरुमती	७०० वर्ष	७ धनुष	नरक

चौथे आरे में ९ बलदेव हुये, उनके नाम, पिता-माताके नाम, आयु, राजधानी और गति निम्न प्रकार हैं—

नं०	नाम	पिता	माता	आयु	राजधानी	गति
१	अचल	प्रजापति	भद्रा रानी	८६ लाख वर्ष	पोतानपुर	मोक्ष
२	विजय	ब्रह्म राजा	सुभद्रा रानी	७६ लाख वर्ष	द्वारावती	,,
३	भद्र (सुधर्म)	रुद्र राजा	सुप्रभा रानी	६६ लाख वर्ष	,,	,,
४	सुप्रभ	सोम राजा	सुदर्शना रानी	५५ लाख वर्ष	,,	,,
५	सुदर्शन	शिव राजा	विजया रानी	१७ लाख वर्ष	अम्बपुर	,,
६	आनन्द (नन्दमित्र)	सहस्र राजा	विजयंती रानी	८५ हजार वर्ष	चक्रपुर	,,
७	नन्दन (नन्दसेन)	अग्रेश राजा	जयन्ती रानी	६५ हजार वर्ष	वाणारसी	,,
८	पद्मरथ(राम)	दशरथ राजा	प्रव्रजिता रानी	१५ हजार वर्ष	राजगृह	,,
९	बलभद्र	वसुदेव राजा	रोहिणी रानी	१२ सौ वर्ष	मथुरा	ब्रह्मदेव लोक

चौथे आरे में नव वासुदेव हुये। उनके नाम आदि निम्न प्रकार हैं—

नं०	नाम	पिता	माता	आयु	राजधानी	गति
१	त्रिपृष्ट	प्रजापति राजा	मृगावती रानी	८४ लाख वर्ष	पोतानपुर	सातवें नरक
२	द्विपृष्ट	ब्रह्म राजा	पद्मावती रानी	७२ लाख वर्ष	द्वारावती	छठे नरक
३	स्वयम्भू	रुद्र राजा	पुढवी रानी	६० लाख वर्ष	,,	,,
४	पुरुषोत्तम	सोम राजा	सीता रानी	३० लाख वर्ष	,,	,,
५	पुरुषसिंह	शिव राजा	अम्बा रानी	१० लाख वर्ष	अम्बपुर	,,
६	पुंडरीक	सहस्र राजा	लक्ष्मणा रानी	१५ हजार वर्ष	चक्रपुर	,,
७	पुरुष दत्त	अग्नेश	सुखवती रानी	५६ हजार वर्ष	वाणारसी	पाँचवें नरक
८	लक्ष्मण	दशरथ	सुमित्रा रानी	११ हजार वर्ष	राजगृह	चौथे नरक
९	कृष्ण	वसुदेव राजा	देवकी रानी	१ हजार वर्ष	मथुरा	तीसरे नरक

चौथे आरे—में नव प्रतिवासुदेव हुए उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—सुग्रीव (अश्वग्रीव), २ तारक, ३ मेरुक, ४ मधुकैटभ, ५ निशुम्भ, ६ बली, ७ प्रहरण, ८ रावण और ६ जरासंध।

पाँचवाँ आरा—इस आरेका नाम दुषमा आरा है, अर्थात् इसमें केवल दुःख ही होता है। महावीर भगवान्के निर्वाणके तीन वर्ष साढ़े सात महीने पीछे पाँचवाँ आरा लगा है। इस आरेमें मनुष्योंके संगठन, आयु, बल, वीर्य्य, पुरुषार्थ और तमाम पदार्थोंमें चौथे आरेके मुक़ाबिलेमें एक बहुत बड़ी न्यूनता हो गई है।

यह आरा २१ हज़ार वर्षका होता है। इस आरेमें दस बातों का सर्वथा लोप हो जाता है—१ केवलज्ञान, २ मनःपर्य्यव ज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ परिहारविशुद्ध-चरित्र, ५ सूक्ष्मसांप्राय चारित्र, ६ यथाख्यातचारित्र, ७ पुलाक-लब्धि, ८ आहारक शरीर, ६ क्षायिकसम्यक्त्व और १० जिनकल्पी साधु। आज वक्रम संवत् १६८६ तक इस आरेमें क़रीब २४६२ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

छठा आरा—इस आरेका नाम दुषमा-दुषमा आरा है। इसमें दुःखमें दुःख उत्पन्न होते हैं। इस आरेमें पाँचवे आरेकी अपेक्षा बहुत छोटे क़द वाले, कम उम्र, कुरूप, कमजोर और पुरुषार्थ हीन मनुष्य होंगे और ऐश-आरामके सारे सामान नष्ट हो जायँगे। लोग गुफ़ाओं और ज़मीनके नीचे घर बना कर रहेंगे। हर प्रकार के खाने-पीने व आरामका दुःख मिलेगा। इस आरेमें मनुष्योंके

कर्म पशुओंके तुल्य होंगे। मर कर बुरी गतिको प्राप्त होंगे। यह आरा भी २१ हज़ार वर्षका ही होगा।

इस प्रकार अपसर्पिणीके छह आरोंका वर्णन हुआ। इन छह आरोंमें १० क्रोड़ाक्रोड़का समय लगता है।

अब उत्सर्पिणीके छह आरोंका वर्णन करते हैं। उत्सर्पिणी अर्थात् उल्टी सर्पिणी। इसका मतलब यह होता है कि इसका पहला आरा अपसर्पिणीके छठे आरेके अनुसार होता है। दूसरा आरा पाँचवें आरेके, तीसरा आरा चौथे आरेके, चौथा आरा तीसरे आरेके, पाँचवाँ आरा दूसरे आरेके और छठा आरा पहले आरेके समान होता है।

अपसर्पिणीके आरे	उत्सर्पिणीके आरे
१ सुखमें सुख	६ सुखमें सुख
२ सुख	५ सुख
३ सुखमें दुःख	४ सुखमें दुःख
४ दुःखमें सुख	३ दुःखमें सुख
५ दुःख	२ दुःख
६ दुःखमें दुःख	१ दुःखमें दुःख

उत्सर्पिणीका संक्षेपमें वर्णन इस भांति है—

पहला आराः—इसमें दुःखमें दुःख होता है। इसमें मनुष्यों और वस्तुओंकी वही न्यूनता होती है, जो अपसर्पिणीके छठे आरेमें होती है।

दूसरा आराः—इसमें दुःख होता है। इसमें पहले आरे की अपेक्षा कुछ अच्छी अवस्था होती है अर्थात् अपसर्पिणी के पांचवें आरेके सदृश अवस्था होती है।

तीसरा आराः—इसमें दुःखमें सुख होता है अर्थात् दुःखमें कभी कभी कोई सुख हो जाता है, नहीं तो अधिकतर दुःख ही होता है। इस आरेकी अवस्था अपसर्पिणीके चौथे आरेके समान होती है। इसमें तेईस तीर्थङ्कर, ग्यारह चक्रवर्ती, नव वासुदेव, नव बलदेव, नव प्रतिवासुदेव होते हैं।

चौथा आराः—इसमें सुखमें दुःख होता है। अर्थात् इस आरेमें अधिकतर सुख होता है और मामूली दुःख होता है। इस आरेकी व्यवस्था अपसर्पिणीके तीसरे आरेके समान होती है। इस आरेमें २४ वें तीर्थङ्कर और १२ वें चक्रवर्त्ती होते हैं।

पांचवाँ आराः—इस आरेमें सुख ही सुख होता है। इस आरेकी व्यवस्था अपसर्पिणी के दूसरे आरेके समान होती है।

छठा आराः—इस आरेमें सुखमें सुख होता है। इस आरेकी व्यवस्था अपसर्पिणीके पहले आरेके समान होती है।

इस प्रकार उत्सर्पिणीमें भी १० क्रोड़ाक्रोड़ सागरका समय लगता है। इस प्रकार १० क्रोड़ाक्रोड़की अपसर्पिणी और १० क्रोड़ाक्रोड़की उत्सर्पिणीको मिला कर २० क्रोड़ाक्रोड़ सागरका एक कालचक्र होता है। यह काल-चक्र भरत-क्षेत्र में फिरता है।

भगवान् महावीरके बादका जैन-इतिहास

आजसे क़रीब २५०० वर्ष पूर्व जब भगवान् महावीर भारतवर्षमें अपना कल्याणकारी उपदेश दे रहे थे, उस समय आजकी तरह प्रचारके इतने साधन न थे। उस समय लेखन-कला तो प्रचलित थी, पर उसका उपयोग अधिकतर व्यावहारिक कामोंमें ही किया जाता था। आत्मार्थी लोग भगवान् का उपदेश श्रवण करने जाते थे। वहाँ जो कुछ वे सुनते थे, उसमेंसे मुख्य-मुख्य बातें हृदयंगम कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त महावीर भगवान्के समयमें और उनके सैकड़ों वर्ष बाद तक आचार्य अपने शिष्योंको सूत्रोंके पाठ कण्ठ करा दिया करते थे। उसी प्रकारकी प्रथा अब तक जैन साधुओंमें पाई जाती है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जैन समाजमें इतिहास लिखनेकी प्रथा बहुत कम थी। जो कुछ प्राचीन इतिहास पाया जाता है, वह साधुओंकी पट्टावलियोंसे मिलता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध-ग्रन्थों, शिलालेखों और जिन-प्रतिमाओंपरसे ही बहुत सा इतिहास मिल सकता है।

महवीर भगवान्के समयमें और उनके बाद अनेक राजाओं और अनेक राजाओंके मंत्रियोंने जैनधर्मकी प्रभावना, प्रचार आदि करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी थी। राजा श्रेणिक, राजा

कौणिक और चन्द्रप्रद्योत आदिने जैनधर्मकी बड़े उत्साह व समारोहके साथ प्रभावना की थी। इनको महावीर भगवान्‌के परमभक्त होनेका सम्मान प्राप्त था। 'सम्प्रति' नामका राजा पक्का जैनी था। उसने अनार्य देश, जैसे—काबुल, बिलोचिस्तान आदि देशोंमें जैनधर्मका प्रचार कराया था, जिसमें बहुत कुछ सफलता मिली थी। राजा आमशिलादित्यने सम्पूर्णतया जैनधर्मके गौरवकी रक्षा की थी। अन्तमें जैन राजा बन राज, सिद्धराज और कुमार-पाल आदिने आम घोषणा कराकर अहिंसा धर्मका प्रचार कराया था। इनके अतिरिक्त अनेक प्रतापी राजमन्त्री, जैसे—शकडाल, विमल, उदयन, वाग्भट्ट, वस्तुपाल, तेजपाल आदिने अहिंसा धर्म फैलानेका प्रशंसनीय उद्योग किया था, जिनका वैभव समस्त भारतवर्षमें फैला हुआ था।

इधर एक ओर वीर प्रभुके द्वारा प्रोत्साहित जैनधर्मने ऐसे-ऐसे वीर आर्य धर्मरक्षक राजाओं व मंत्रियोंको उत्पन्न किया था और दूसरी ओर उसने ऐसे-ऐसे सच्चरित्र और प्रतापी जैना-चार्य्योंको जन्म दिया कि जिन्होंने अपने अगाध पाण्डित्यका परि-चय देकर जगतको आश्चर्यमें डाल दिया है। उनके रचित ग्रन्थ आज भी संसारको आश्चर्यमें डाल रहे हैं। इतना ही क्यों, उन्होंने ऐसे-ऐसे असाधारण कार्य किये हैं कि जिनका करना सामा-न्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है, अच्छे-च्छे शक्ति-सम्पन्न मनुष्यों केलिये भी दुःसाध्य है। जैसे मौर्यवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्तको प्रति-

बोध करने वाले चौदह पूर्वधारी श्रीभद्रबाहु स्वामी; चौदहसौ चवालीस ग्रन्थोंकी रचना करने वाले हरिभद्रसूरि; पाँचसौ ग्रन्थोंकी रचना करने वाले उमास्वाति वाचक; राजपूतानेमें हज़ारों क्षत्रियों को, जो वर्त्तमान समयमें ओसवाल जातिके नामसे प्रसिद्ध हैं, जैन बनाने वाले रत्नप्रभ सूरि; आमराजाके गुरु होनेका सम्मान प्राप्त करने वाले वप्प भट्टि, महान् चमत्कारिणी विद्याओंके आगार यशोभद्र सूरि और कुमारपालके समान राजाको उपदेश देकर अठारह देशोंमें जीव-दयाका एकछत्र राज्य स्थापन करने वाले कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यके समान महान् प्रतापी जैनाचार्य रूपी रत्नोंको भी इसी भारत वसुन्धराने प्रसव किया था।

भगवान् महावीरके निर्वाणके चौंसठ वर्ष बाद तक भारतवर्षमें केवलज्ञानी श्रीजम्बू स्वामी उपस्थित थे। जैन शास्त्रोंमें ऐसा कथन है कि श्रीजम्बू स्वामीके निर्वाणके पश्चात् दस बातोंका विच्छेद—अभाव हो गया। जो इस प्रकार हैं—मनःपर्ययज्ञान, परमावधि, पुलाकलब्धि, आहारकशरीर, क्षायिकसम्यक्त्व, जिनकल्पी, केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र, सूक्ष्मसांपरायचारित्र, परिहारविशुद्धिचारित्र।

प्रकृतिके भयङ्कर प्रकोपसे हमारे साहित्यको बड़ा भारी नुकसान पहुँचा। श्रीहेमचन्द्राचार्य अपने परशिष्ट पर्वमें लिखते हैं कि भगवान् महावीरके निर्वाणके बाद दूसरी शताब्दीमें; जब कि

आर्य श्रीस्थूलभद्र विद्यमान थे, उस समय देशमें एक साथ महाभीषण बारह दुष्काल पड़े। उस समय साधुओंका संघ अपने निर्वाहकेलिये समुद्रके समीवर्ती प्रदेशोंमें चला गया। वहाँ साधु अपने निर्वाहकी पीड़ाके कारण कण्ठस्थ रहे हुए शास्त्रोंको गुन न सके, जिस कारण वे शास्त्रोंको भूलने लगे।

जब यह भीषण अकाल मिट गया, तब पाटलीपुत्रमें सारे संघकी एक बड़ी सभा की गई। जिसमें जिस-जिसको जो-जो सूत्र व शास्त्र स्मरण थे, वे इकट्ठे किये गये। उसके अनुसार ग्यारह अङ्गोंका तो अनुसंधान हुआ, पर 'दृष्टिवाद' नामका बारहवाँ अङ्ग तो बिल्कुल विसर्जन हो गया।

इनके बाद फिर वीर निर्वाणकी पाँचवीं और छठी शताब्दीमें अर्थात् श्रीस्कन्दिलाचार्य और वज्रबाहु स्वामीके समयमें उसी प्रकारके बारह भीषण दुष्काल इस देशमें फिर पड़े, जिसके कारण साधु अन्नकेलिये भिन्न-भिन्न स्थानोंपर बिखर गये, जिससे श्रतका ग्रहण, मनन और चिन्तन न हो सका। फल यह हुआ कि ज्ञानको बहुत हानि पहुँची। जब प्रकृतिका कोप शान्त हुआ, देशमें सुकाल और शान्तिका प्रादुर्भाव हुआ, तब मथुरामें श्रीस्कन्दिलाचार्यके सभापतित्वमें पुनः साधुओंकी एक महासभा हुई। उसमें जिन-जिनको जो-जो स्मरण था, वह संग्रह किया गया। इस दुष्कालने भी हमारे जैन साहित्यको अधिक धक्का पहुँचाया।

इन दो भयङ्कर विपत्तियोंको पैदा करके ही प्रकृतिका कोप शान्त नहीं हुआ। उसने और भी अधिक निष्ठुरताके साथ वीर निर्वाणकी दसवीं शताब्दीमें इस जर्जरित देशके ऊपर अपना चक्र चलाया। फिर भयङ्कर दुष्काल पड़ा। इस बार तो कई बहु-श्रुतोंका अवसान होनेके साथ-साथ पहिलेके जीर्ण-शीर्ण रहे हुए शास्त्र भी छिन्न-भिन्न हो गये। उस स्थितिको बतलाते हुए 'समाचारिशतक' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि वीर सम्वत् ६८० में भयङ्कर दुष्कालके कारण बहुतसे साधुओं और बहुश्रुतोंका विच्छेद हो गया। तब श्रीदेवर्धिगणी क्षमाश्रमणने शास्त्र-भक्तिसे प्रेरित होकर भावी जन-समाजके उपकारकेलिये सब साधुओं को वल्लभिपुरमें इकट्ठा किया, और उनके मुखसे स्मरण रहे हुए सूत्रों व शास्त्रोंके पाठोंको सङ्गठित कर पुस्तकारूढ़ किया। इस प्रकार सूत्र-ग्रन्थोंके कर्ता श्रीदेवर्धिगणी क्षमाश्रमण कहलाते हैं।

अब हम अपने बन्धुओंका ध्यान इस ओर दिलाना चाहते हैं कि जैनधर्मावलम्बियोंकी आपसकी कलह अथवा फूटने किस क़दर बड़ा धक्का जैनधर्मको पहुँचाया है।

महावीर भगवान्के समयमें कई व्यक्तियोंने अपने मान कषा-यवश अपनी-अपनी जुदी सम्प्रदायें चलाईं। जैसे—गोशाल आदि ने, पर भगवान्के अतिशय प्रभुतासे वे सारे सम्प्रदाय उन्हीं की मौजूदगीमें समाप्त हो चुके थे। भगवान् महावीरके निर्वाण

के समय जैनसमाज एक सुसंगठित, सुन्दर और उदार दल था। जिसमें लाखों श्रावक, श्राविकायें और हज़ारों साधु व साध्वियाँ थीं। इनके अलावा करोड़ों जनता सामान्य रीतिसे जैनधर्मको मानने वाली थी।

भगवान् महावीरके निर्वाणके तीसरी या चौथी शताब्दीके अनुमान अनुदार जैन समाजमें कुछ मतभेद पड़ना प्रारम्भ होगया, जो दिनोंदिन बजाय घटनेके कुछ बढ़ता ही गया। भगवान्के निर्वाणकी छठी शताब्दीमें मथुरामें एक सभा हुई। उस सभामें जब निर्ग्रन्थोंके वस्त्र पहनने या न पहननेका प्रश्न उपस्थित हुआ, उसी समय वहाँपर दो दल हो गये। एक ने तो समयकी परिस्थितिके अनुकूल वस्त्र पहननेकी व्यवस्था दी और दूसरेने नग्न रहनेकी। ऐसे विवादग्रस्त समयमें दीर्घदर्शी स्कन्दिलाचार्यने बड़ी ही बुद्धिमानीसे काम लिया। उन्होंने न तो नग्नताका और न वस्त्र-पात्र-वादिताका ही समर्थन किया। प्रत्युत दोनोंके बीचमें उचित न्याय दिया। उन्होंने कहीं भी सूत्रोंमें जिनकल्प, स्थविरकल्प, श्वेताम्बर तथा दिगम्बरका उल्लेख नहीं किया। फिर भी उस समय प्रत्यक्ष रूपसे उदार जैनसमाज दो दलोंमें विभक्त हो ही गया।

इस प्रकार एक पिताके दो पुत्र अपना हिस्सा बाँटकर अलग-अलग हो गये। पिताके घरके बीचमें दीवार बनाना प्रारम्भ कर दिया। दोनों सम्प्रदाय महावीरको अपनी-अपनी सम्पत्ति

बनाकर झगड़ने लगे। यह उदार जैन समुदाय अनेकान्तवाद और अपेक्षावादके महान् सिद्धान्तको भूलकर दोनों आपसमें फाग खेलने लगे। एक दूसरेको परास्त करनेकेलिये दोनोंने वर्द्धमानका नाम दे-देकर कुछ जुदा-जुदा शास्त्रोंकी भी रचना कर ली।

अब लोग जैन धर्मके उदार सिद्धान्तोंको भूलकर उन्हीं तत्त्वोंको पकड़कर बैठ गये, जहाँपर दोनोंका मत-भेद होता था। एक साधु यदि नग्न रहकर अपनी तपश्चर्य्याको उग्र करने का प्रयत्न करता तो श्वेताम्बरियोंकी दृष्टिमें वह मुक्तिका पात्र ही नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो जिनकल्पी है और जिनकल्पी को मोक्ष है ही नहीं। इसी प्रकार यदि एक साधु एक अधोवस्त्र पहनकर तपश्चर्या करता है तो दिगम्बरियोंकी दृष्टिसे वह मुक्ति का हक़ खो बैठता है; क्योंकि वह परिग्रही है और परिग्रहको छोड़े बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार अनेकान्तवादका समर्थन करनेवाले ये लोग सब महान् तत्त्वोंको भूलकर स्वयम् एकान्तवादी होगये।

पतन अपनी इतनी ही सीमापर जाकर न रह गया। स्वार्थका कीड़ा जब किसी छिद्रसे घुसा कि फिर वह अपना बहुत विस्तार कर लेता है। जैनसमाजके केवल यही दो टुकड़े होकर न रह गये, बल्कि आगे जाकर इन सम्प्रदायोंकी गिनती और भी बढ़ने लगी। श्वेताम्बरियोंमें भी परस्पर मतभेद होने लगा,

इधर दिगम्बरी भी इससे शून्य न रहे। कुछ ही समय बाद इसमें भी उपश्रेणियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

वी० संवत् ८८२ में श्वेताम्बरी लोगोमें 'चैत्यवासी' नामक दलकी उत्पत्ति हुई। वी० सं० ८८६ में उनमें 'ब्रह्मद्वीपिक' नामके नवीन संप्रदायका आरम्भ हुआ। वी० सं० १४४६ में 'वट' गच्छकी स्थापना हुई। वी० सं० १६७६ में 'खरतर' गच्छकी स्थापना हुई। वी० सं० १७५५ में 'तपा' गच्छकी स्थापना हुई। वी० सं० २०३२ में 'कटुक' मतकी स्थापना हुई। वी० सं० २०४० में 'बीजा' मतका आरम्भ हुआ। वी० सं० २०४२ में पार्श्वचन्द्रसूरिने अपने पक्षकी स्थापना की। वी० सं० १६७८ में 'लूका' गच्छकी स्थापना और २००३ में उसके साधुसंघकी स्थापना हुई।

इस वृत्तमेंसे स्थानकवासी, तेरापंथी, भीखापंथी, तीन थोई वाले, आदि कई शाखाएँ तथा चौथ-पंचमीका झगड़ा, अधिक मासका झगड़ा, आदि कई मत-भेद वाली शाखा-उपशाखा निकल पड़ीं और आपसमें पूरी तरह लड़ने लगीं।

इधर दिगम्बरियोंमें भी मत-मतान्तरोंका बढ़ना आरम्भ हुआ। जैसे—द्राविड़ संघ, व्यापनीय संघ, काष्ठा संघ, मथुरा संघ, भिल्लक संघ, तेरा पन्थ, बीस पन्थ, तारण पन्थ, भट्टारक प्रथा आदि अनेक शाखा-उपशाखा इनमें भी प्रचलित होकर आपसमें लड़ने लगीं।

घरके आपसके झगड़ोंके अलावा अन्य धर्म वालोंने भी जैनधर्मपर वार करना आरम्भ कर दिया था। कारण कि जब घरमें वैमनस्य होता है तो बाहर वालोंको सहजमें एक अच्छा मौक़ा हाथ लग जाता है। इसीके अनुसार विक्रम संवत् ७०० के लगभग श्रीशंकराचार्य्य हुए, जिन्होंने जैनधर्मके साथ एक बड़ा भीषण वाद-विवाद आरम्भ कर दिया। इन्होंने अपने शिष्य राजा द्वारा जैनसाधु, गृहस्थ व साहित्यपर बड़ा दबाव गिरवाया। गो इसके द्वारा जैनधर्मको काफ़ी धक्का लगा, पर वह किसी सूरतमें दबा नहीं। बादमें कई शताब्दी तक जनधर्माचार्य और शंकराचार्यके मठधारियोंमें समय-समयपर वाद-विवाद चलता रहा।

यहाँ ये सब वाद-विवाद चल ही रहे थे कि इन्हीं दिनों अर्थात् विक्रम संवत् ११०० के लगभग भारतवर्षमें उत्तरकी ओरसे महमूद गज़नवी और मुहम्मद ग़ौरी आदिके हमले होने भी आरम्भ हो गए। जिन्होंने अपनी क्रूरतासे भारतकी समस्त प्रजाको त्रसित करना प्रारम्भ कर दिया। इनके बाद अनेक तुर्कों व पठानोंने समय समयपर भारतवर्षपर हमले करना आरम्भ कर दिया। जिनका मुख्य सिद्धान्त हिन्दुओंको इस्लामधर्म स्वीकार करानेका था। इन हमला करने वालोंने न सिर्फ़ आदमियोंको क़त्ल किया और उनका धन लूटा, बल्कि हिन्दुओं, जैनियों और बौद्धोंके मन्दिरों व स्तूपोंके टुकड़े-टुकड़े

कर डाले; उनकी मूर्तियोंका अङ्ग भङ्ग कर डाला; जैन साधुओं, बौद्ध भिक्षुकों और पुजारियोंको बुरी तरह क़त्ल किया; मन्दिरोंके भंडारोंको लूटा और भण्डारोंमें आग लगाकर ग्रन्थोंको स्वाहा कर दिया।

इस प्रकारकी अवस्था सौ-पचास वर्ष नहीं रही, बल्कि सैकड़ों वर्षों तक यानी पन्द्रहसौके अन्तमें और सोलहसौ के प्रारम्भ तक चलती रही। इन तमाम हमले, मारकाट व आपत्तियोंसे जैनधर्मके साधुओं, गृहस्थों, मन्दिरों व साहित्यको बड़ा धक्का व नुक़सान पहुँचा। इस मुसीबतके समयमें जो कुछ साधु व मुनि बचे, वे पंजाब, बंगाल, बिहार व मध्य भारतवर्षसे विहार करके गुजरात और राजपूतानेकी ओर पधार गए।

सन् १०१६ से सन् १५५० तक भारतवर्षकी क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या व्यापारिक, क्या धार्मिक, सभी व्यवस्थाएँ बहुत बुरी रहीं। इसका कारण सिर्फ़ यही था कि इस पाँचसौ वर्षके समयमें किसीका स्थायी राज्य नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त आये दिन उत्तरकी ओरसे हमले हुआ करते थे, और इन मुसलिम बादशाहोंमें भारतवर्षके तमाम धर्मोंके ख़िलाफ़ बड़ा द्वेष था। इस कारण इन पाँचसौ वर्षमें सदा मारकाट, ज़ोर-ज़ुल्म वग़ैरह ही हुआ करे। जब बादशाह अकबरने भारतवर्ष की हुकूमतको अपने हाथमें लिया, तब थोड़ी-सी शान्ति यहाँ

स्थापित हुई, और जनताको थोड़ी तसल्ली मिली। उस समय समाज, व्यापार और धर्मोंकी व्यवस्था भी कुछ ठीक हुई।

अकबर बादशाहको धार्मिक वार्त्तालापकी बड़ी रुचि थी। वह एक ऐसा धर्म चलाना चाहता था, जिसमें कि हिन्दू, मुसलमान, जैनी, कृश्चियन आदि सब मिल जायँ। उसी के अनुसार उसने 'दीने-इलाही' नामके धर्मकी स्थापना की थी। पर वह उसीके जीवन तक क़ायम रहा, और बादमें नष्ट हो गया। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि अकबर बादशाहको धार्मिक मामलोंसे बड़ी दिलचस्पी थी, उसीके अनुसार उसकी इच्छा हीरविजय सूरिसे मिलनेकी हुई। उसके अनुसार हीरविजय सूरि गुजरातसे विहार कर फ़तेहपुर सीकरीमें बादशाहसे मिले। उनका बादशाहपर बड़ा असर पड़ा। उन्होंने जीवदयाका काफ़ी प्रचार कराया। तीर्थ-स्थानोंपर जो कर लगाया, उसे माफ़ कराया। जो टैक्स हिन्दुओंसे जज़ियाके नामसे वसूल किया जाता था, उसे माफ़ कराया। इसके अलावा बादशाहको वर्षमें कई महीने माँस खानेके त्याग कराये। इसके अलावा उन्होंने जीवदया सम्बन्धी कई पट्टे निकलवाये। इस समयमें जैनधर्म अवश्य चमका और काफ़ी जनताने इस धर्मको अङ्गीकार किया।

वीर निर्वाणकी दूसरी शताब्दीके अन्तमें जैनसमाजमें द्वेष और कलहकी भावनाएँ बढ़ने लगीं और लोग ऐसे समयकी राह देखने लगे कि जब वे ज़ाहिर रूपसे अलग हो जायँ। वीर-

निर्वाणकी छठवीं शताब्दीमें मथुरामें दीर्घदर्शी स्कन्दिलाचार्यकी अध्यक्षतामें एक बड़ी सभा हुई, जिसमें उन्होंने तो अनेकान्त-वादके अनुसार दोनों पक्षोंको ठीक बताया, पर उसी समयसे दोनों समाज अर्थात् श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रत्यक्ष रूपमें विभक्त हो गईं।

दिगम्बर संप्रदायमें भी एकसे एक बड़े विद्वान् व त्यागी मुनि आदि हुये। जैसे—भद्रबाहु स्वामी निमित्तज्ञानके धारक हुए। उनके शिष्य धरसेन हुए, जिन्होंने कई ग्रन्थ लिखे। वि० सं० ७३५ के करीब द्राविड़ देशमें 'दक्षिण मथुरा' नामकी एक नगरी थी, जिसको आजकल 'मदुरा' कहते हैं, उसका राजा श्रीराजमल्ल था। उसका प्रधान मन्त्री श्रीचामुण्डराय भी एक पक्का जैन था। इनके समयमें श्रीनेमिचन्द्र स्वामी हुये, जिन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। वे एक धुरंधर विद्वान् थे। आपके उपदेश से राजाने १५०००० दीनारोंके गाँव श्रीगोमट्टस्वामीके मन्दिर की सेवा आदिकेलिये प्रदान किये थे। श्रीनेमिचन्द्राचार्यने गोमट्टसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि अनेक परमादरणीय सिद्धान्त ग्रन्थोंको रचा है। श्रीअभयनन्दिजी, श्रीवीरनन्दिजी श्रीइन्द्रनन्दिजी और कनकनन्दिजी आदि उस समय बड़े बड़े आचार्य हुए। श्रीअभयनन्दिजीके रचे हुए बृहज्जैनेन्द्र व्याकरण, गोमट्टसार टीका, कर्मप्रकृतिरहस्य आदि अनेक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विद्वान् हुये।

जैसे—सिद्धसेन दिवाकर, विद्यानन्द, भट्टाकलङ्क, माघनन्दि, गुणनन्दि, जिनसेन स्वामी, गुणभद्र भदन्त, स्वामी समन्तभद्राचार्य्य आदि।

जैनधर्मपर और उसके साहित्यपर प्रकृतिने दुष्कालों द्वारा बड़ा धक्का पहुँचाया। विधर्मी द्वारा यानी शंकराचार्यजी तथा उनके शिष्यों द्वारा इस धर्मपर बड़े बड़े आघात किए गये। तुर्कों-पठानों के हमलों और लूट-मारने जैनधर्मको बड़ा आघात पहुँचाया। इन सब बातोंका उदार जैनधर्मने बड़ी सहनशीलता और बड़ी वीरतासे मुक़ाबिला किया। पर जैनधर्मावलम्बियोंकी आपसकी फूटने इसे बड़ा ज़बरदस्त नुक़सान पहुँचाया। क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध है 'कि खेतमें उपजे सब कोई खाय, घरमें उपजे घर बह जाय।' उसीका यह परिणाम आज दृष्टिगोचर होता है कि महावीर भगवान् और उनके निर्वाणके सैकड़ों वर्ष बाद तक भारतवर्षमें जैनियोंकी करोड़ों संख्या थी और बड़े बड़े राजा और रईस इस धर्मके मानने वाले थे। पर आपसकी फूट, जिसने जैनधर्मके साहित्य व ज्ञान और उसके समुदायको बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचाया है, उसने आज बीसवीं शताब्दी तक भी इस समाजका पीछा नहीं छोड़ा है। जब कि समस्त भारतवर्षके धर्मावलम्बी, जैसे—हिन्दू, सिक्ख, आर्यसमाजी, क्रिश्चियन, मुसलमान आदि भरसक मिलनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वर्तमान समयमें भारतवर्षके तमाम विद्वानों और अगुआओं

का यह कथन व मन्तव्य है कि इस समय भारतवर्षके तमाम धर्मावलम्बियोंको बजाय आपसमें द्वेष और झगड़ा करनेके दूध और शक्करके समान मिल जाना चाहिये। इससे इनका यह मतलब नहीं कि सबको अपने धर्मको छोड़ देना चाहिये। सबोंको अपने धर्मकी मान्यता करते हुए एक दूसरेके साथ प्रेम-पूर्वक रहना चाहिये। उसी अवस्थामें मनुष्य मात्रकी और मुख्यतया भारतवर्षकी हर प्रकारकी उन्नति हो सकती है। लेकिन क्या कारण है कि आज महावीर भगवान्के श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरहपंथी आदि अनेक पुत्र आपसमें प्रेम-पूर्वक मिलकर नहीं रह सकते ? बजाय प्रेम-पूर्वक मिलकर रहने और जैनधर्मकी उन्नति करनेके हम यह देखते हैं कि आज हमारे श्वेताम्बर और दिगम्बर मन्दिर और मूर्त्तियोंके पीछे; स्थानकवासी और श्वेताम्बर स्थानक, मुखवस्त्रिका, मूर्तिपूजा आदिके पीछे; तेरहपंथी और स्थानकवासी जीवहिंसा रोकने या न रोकनेके सिद्धान्तपर; तथा दिगम्बर दिगम्बर; श्वेताम्बर श्वेताम्बर; स्थानकवासी स्थानकवासी आदि भी परस्परमें जितना कलह बढ़ा रही हैं, जितनी सम्पत्ति धूलमें मिला रही हैं, जितनी शक्तियाँ खर्च कर रही हैं, उनका कोई हिसाब नहीं है। एक दूसरेके खिलाफ पुस्तकें निकलवाना, पेम्फलेटें व नोटिसें छपवाना, पेपरोंमें एक दूसरेके खण्डन सम्बन्धी और द्वेषयुक्त लेख निकलवाना व कोर्टोंमें एक दूसरेके खिलाफ

मुक़द्दमेबाज़ी करके हज़ारों नहीं, बल्कि लाखों रुपये पानीकी तरह बहा रहे हैं। इन सब प्रकारकी कलहोंका क्या कारण है?

जो मनुष्य समाज-शास्त्रके ज्ञाता हैं, वे उन तत्त्वोंको भली प्रकार जानते हैं, जिनके कारण जातियों और धर्मोंका पतन होता है। किसी भी धर्म व समाजके पतनका आरम्भ उसी दिनसे प्रारम्भ हो जाता है, जिस दिनसे किसी न किसी छिद्र से उसके अन्तर्गत स्वार्थका कीड़ा घुस जाता है। जिस दिनसे लोगोंकी मनोवृत्तियोंके अन्दर विकार उत्पन्न हो जाता है, जिस दिनसे लोग व्यक्तिगत स्वार्थके या मान-बड़ाईके फेर में पड़कर अपने जीवनकी नैतिकताको नष्ट करना प्रारम्भ कर देते हैं या दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जब अमुक धर्म या सम्प्रदायके अनुयायियोंके दिल और दिमागमें किसी प्रकारका विचार उत्पन्न हो जाता है, तभी वह धर्म या सम्प्रदाय गढ़ेकी यानी अवनतिकी ओर जाने लगता है।

संसारमें धर्मकी सृष्टि ही इसीलिये हुई है कि वह मनुष्य प्रकृतिके कारण उत्पन्न हुई अकल्याणकर भावनाओंसे मनुष्य जातिकी रक्षा करे और सदा मनुष्यको न्याय मार्गको सफल बनाना सिखावे। बन्धुओ! अगर यह हम लोगोंकी हार्दिक इच्छा है कि महावीर भगवान्के सिद्धान्तोंका घर घर प्रचार हो, हम सच्चे जैनधर्मके अनुयायी बनकर अपनी आत्माका उद्धार करें, संसारमें जीवित जातियोंमें गिने जायँ, संसारमें हमारा मान हो,

और हमें ऐहलौकिक शान्तिके साथ पारलौकिक सुखकी प्राप्ति हो, तो हमें चाहिये कि हम हठवादिताको छोड़कर महावीर भगवान् के सच्चे अनुयायी बनें। जब तक हमारे हृदयमें स्वार्थ, घृणा, राग-द्वेष और बन्धु-विद्रोहके स्थानपर परमार्थ, प्रेम, बन्धुत्व और सहानुभूतिकी भावनाएँ आदि न होंगी; जबतक हम जड़ केलिये चेतनका और छिलकेकेलिये मिंगीका अपमान करते रहेंगे; तबतक जैनधर्मका, जैनसमाजका और अपना लौकिक या पारलौकिक हित न कर सकेंगे।

दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि आज जब हम भगवान् महावीरके अनुयायी जैनसमाजकी स्थितिको देखते हैं और उनके द्वारा होने वाले कर्मोंका अवलोकन करते हैं तो उसमें एक भयङ्कर विपरीतता मालूम होती है। अफसोस! कहाँ तो भगवान् महावीरका उदार, महान् और दिव्य उपदेश और कहाँ वर्त्तमान जैनसमाज! जिन महावीरका उपदेश आकाश से भी अधिक उदार और सागरसे भी अधिक गम्भीर था, उन्हींका अनुयायी जैनसमाज आज कितनी संकीर्णताके दलदलमें फँसा हुआ है!

जिन वीर प्रभुने प्राणीमात्रसे मैत्रीभाव, उदार हृदय व प्रेम रखनेका उदार सन्देश दिया था; उन्हींकी सन्तान आज आपस में इस बुरी प्रकार राग-द्वेष व लड़-झगड़कर दुनियाँके परदेसे अपने अस्तित्वको समेटनेकी तैयारियाँ कर रही है। जिस प्रकार

कि एक लकड़हारा जिस डालपर बैठा हुआ हो, उसीको काट रहा हो, इस प्रकार आज हमारी समाज संसारकी निगाहमें अपनेको हास्यास्पद बना रही है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे समस्त जैन बान्धव वर्त्तमान भारतकी सामाजिक व राजनैतिक अवस्थाको ध्यानमें रखते हुए और अपने अटल और महान् अनेकान्तवादके सिद्धान्तको स्मरण करते हुए प्रेम-पूर्वक मिलकर रहेंगे और राग-द्वेष व वैमनस्य रूपी वृक्षको जड़-मूलसे नष्ट कर देंगे। उसी अवस्था में हमारी विभाजित जैनसमाज संगठित होकर भगवान् महावीर के दिव्य और महान् सिद्धान्तोंको संसारको बता सकेगी यानी जैनधर्मका प्रचार व अपनी आत्माका सुधार कर सकेगी और यही मनुष्य-जन्म पानेका सार है।

अहिंसाका स्वरूप

"हिंसा" शब्द हननार्थक "हिंसी" धातुसे बना है। इससे हिंसाका अर्थ "किसी प्राणीको मारना या सताना" होता है। प्राणीको प्राणसे रहित करनेके निमित्त अथवा प्राणीको किसी प्रकारका दुःख देनेके निमित्त जो प्रयत्न किया जाता है, उसे "हिंसा" कहते हैं। इसके विपरीत किसी जीवको दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाना, इसको "अहिंसा" कहते हैं।

पतञ्जलि-कृत योगशास्त्रके भाष्यकार अहिंसाका लक्षण लिखते हुए कहते हैं:—

"सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनर्थद्रोह अहिंसा"

अर्थात् सब प्रकारसे, सब समयमें, सब प्राणियोंके साथ मत्री भावसे व्यवहार करना—उनसे प्रेम भाव रखना, इसीको "अहिंसा" कहते हैं।

कृष्ण भगवान्ने भी गीतामें कहा है:—

"कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः॥"

अर्थात् मन, वचन तथा कर्मसे सर्वदा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं पहुँचाना, इसीको महर्षियोंने 'अहिंसा' कहा है। इसी विषयको लेकर स्वयं भगवान् महावीर कहते हैं:—

'सब प्राणियोंको आयु प्रिय है; सब सुखके अभिलाषी हैं; दुःख सबके प्रतिकूल है; वध सबको अप्रिय है; सब जीनेकी इच्छा रखते हैं; इससे किसीको मारना अथवा कष्ट पहुँचाना न चाहिये।'

जैनधर्मके तमाम आचार-विचार अहिंसाकी नींवपर रचे गये हैं। वैसे तो भारतवर्षके ब्राह्मण, बौद्ध आदि सभी प्रसिद्ध धर्म अहिंसाको सर्व-श्रेष्ठ धर्म मानते हैं। इन धर्मोंके प्रायः सभी महापुरुषोंने अहिंसाके महत्त्व तथा उसकी उच्चताको बतलाया है, पर इस तत्त्वकी जितनी विस्तृत, जितनी सूक्ष्म और जितनी गहन मीमांसा जैनधर्ममें की गई है, उतनी शायद दूसरे किसी भी धर्ममें नहीं की गई है। जैनधर्मके प्रवर्तकोंने अहिंसा तत्त्व को उसकी चरम सीमापर पहुँचा दिया है।

वे केवल अहिंसाकी इतनी विस्तृत मीमांसा करके ही चुप नहीं हो गये हैं, बल्कि उसको आचरण करके उसे व्यावहारिक रूप देकर भी उन्होंने बतला दिया है। दूसरे धर्मोंमें अहिंसाका तत्त्व केवल कायिक रूप बनकर ही समाप्त होगया है, पर जैनधर्म का अहिंसा तत्त्व उससे बहुत आगे वाचिक और मानसिक होकर आत्मिक रूप तक चला गया है।

कुछ धर्मोंमें अहिंसाकी मर्यादा मनुष्य जाति तक ही, अथवा बहुत आगे गई तो पशु और पक्षियोंके जगत्में जाकर समाप्त होगई है, पर जैन-अहिंसाकी मर्यादामें तमाम चराचर जीवोंका समावेश होनेपर भी वह अपरिमित ही रहती है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जैनकी अहिंसा विश्वकी तरह अमर्यादित और आकाशकी तरह अनन्त है।

लेकिन जैनधर्मके इस महान् तत्त्वके यथार्थ रहस्यको समझनेका प्रयास बहुत ही कम लोगोंने किया है। जैनियोंकी इस अहिंसाके विषयमें जनताके अन्तर्गत बहुत अज्ञान और भ्रम फैला हुआ है।

बहुतसे बड़े बड़े अजैन विद्वान इसको अव्यवहार्य्य, अनाचरणीय, आत्मघातक एवं कायरताकी जननी समझकर इसको राष्ट्र-नाशक बतलाते हैं। उन लोगोंके दिल और दिमागमें यह बात जोरों से ठसी हुई है कि जैनियोंकी इस अहिंसाने देशको कायर और निर्वीर्य बना दिया है। इसका प्रधान कारण यह है कि आधुनिक जैन-समाजमें अहिंसाका जो अर्थ किया जाता है, वह वास्तवमें ही ऐसा है। जैनधर्मकी असली अहिंसाके तत्त्व ने आधुनिक जैन-समाजमें अवश्य कायरताका रूप धारण कर लिया है। इसी परिणामको देखकर यदि अजैन विद्वान् लोग उसको कायरता-प्रधान धर्म मानने लग जायँ तो आश्चर्य नहीं। परन्तु जैन-अहिंसाका वास्तविक रूप वह नहीं है, जो

आधुनिक जैन-समाजमें प्रचलित है। यह तो उसका विकृत (बिगड़ा हुआ) रूप है। यह एक सैद्धान्तिक नियम है कि जब कोई धर्म या ताक़त गिरती हुई अवस्थामें होती है, उस समय उसका ढाँचा व अनुयायियोंका जीवन बड़ा शिथिल व अनियमित हो जाता है। ठीक यही अवस्था इस समय जैनधर्म व उसके अनुयायियोंकी होरही है।

जैन-अहिंसाके इस विकृत रूपको छोड़ कर यदि हम उसके शुद्ध और असली रूपको देखें तो ऊपरके सब आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है। इस स्थानपर हम उन चन्द आक्षेपोंके निराकरण करनेकी चेष्टा करते हैं, जो आधुनिक विद्वानोंके द्वारा जैन-अहिंसापर लगाये जाते हैं।

पहिला आक्षेप यह किया जाता है कि जैनधर्मके प्रवर्तकों ने अहिंसाकी मर्य्यादाको इतनी सूक्ष्म कोटिपर पहुँचा दिया है कि जहाँपर जाकर वह क़रीब-क़रीब अव्यवहार्य हो गई है। जैन-अहिंसाको जो कोई पूर्ण रूपसे पालन करना चाहे, उसको जीवन की तमाम क्रियाओंको बन्द कर देना पड़ेगा और निश्चेष्ट होकर देहको त्यागना पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि जैन-अहिंसाकी मर्यादा बहुत ही विस्तृत है और उसका पालन करना सर्वसाधारणकेलिये बहुत ही कठिन है। इसी कारण जैनधर्मके अन्तर्गत पूर्ण अहिंसाके अधिकारी केवल मुनि ही माने गये हैं, साधारण

गृहस्थ नहीं। पर इसकेलिये यह कहना कि यह सर्वथा अव्यवहार्य्य है अथवा आत्मघातक है, बिलकुल भ्रममूलक है। इस बातको प्रायः सब लोग मानते तथा जानते हैं कि अहिंसा तत्त्वके प्रवर्तकोंने अपने जीवनमें इस तत्त्वका पूर्ण अमल किया था। उनके उपदेशसे प्रेरित होकर लाखों आदमी उनके अनुयायी हुए थे, जो कि आजतक उनके उपदेशका पालन करते चले आते हैं। पर किसीको आत्मघात करनेकी आवश्यकता नहीं हुई। इस बातसे स्वयं सिद्ध होजाता है कि जैन-अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है। इतना अवश्य है कि जो लोग अपने जीवनका सद्व्यय करनेको तैयार नहीं हैं, जो अपने स्वार्थोंका भोग देनेमें हिचकते हैं, उन लोगोंकेलिये यह तत्त्व अवश्य अव्यवहार्य्य है। क्योंकि अहिंसाका तत्त्व आत्माके उद्धारसे बहुत सम्बन्ध रखता है। इस कारण जो लोग मुमुक्षु हैं—अपनी आत्माका उद्धार करनेके इच्छुक हैं, उनको तो जैन-अहिंसा कभी आत्म-नाशक या अव्यवहार्य्य मालूम नहीं होती। पर स्वार्थ-लोलुप और विलासी आदमियोंकी तो बात ही दूसरी है।

जैन-अहिंसापर दूसरा सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि उस अहिंसाके प्रचारने भारतवर्षको कायर और ग़ुलाम बना दिया है। इस आक्षेपके करनेवालोंका कथन है कि अहिंसाजन्य पापोंसे डरकर भारतीय लोगोंने मांस खाना छोड़ दिया

एवं यह निश्चय है कि मांस-भक्षणके विना शरीरमें बल और मनमें शौर्य नहीं रह सकता। बहादुरी और बलकी कमी हो जानेके कारण यहाँकी प्रजाके हृदयसे युद्धकी भावना बिलकुल नष्ट होगई, जिससे विदेशी लोगोंने लगातार इस देशपर आक्रमण करके उसे अपने आधीन कर लिया। इस प्रकार अहिंसाके प्रचारसे भारतवर्ष गुलाम होगया और यहाँकी प्रजा पराक्रम-रहित होगई।

अहिंसापर किया गया यह आक्षेप बिलकुल प्रमाण-रहित और युक्ति-शून्य है। इस कल्पनाकी जड़में बहुत बड़ा अज्ञान भरा हुआ है। सबसे पहिले हम ऐतिहासिक दृष्टिसे इस प्रश्नपर विचार करेंगे। भारतका प्राचीन इतिहास डङ्केकी चोट इस बातको बतला रहा है कि जबतक इस देशपर अहिंसा-प्रधान जातियोंका राज्य रहा, तबतक यहाँकी प्रजामें शान्ति, शौर्य्य, सुख और सन्तोष यथेष्ट रूपसे व्याप्त थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक अहिंसाधर्मके बड़े उपासक और प्रचारक थे। पर उनके कालमें भारत कभी पराधीन नहीं हुआ। उस समय यहाँकी प्रजामें जो वीर्य्य, शान्ति और साहस था, वह आजकलकी दुनियामें कहीं नसीब नहीं हो सकता। अहिंसाधर्मके श्रेष्ठ उपासक नृपतियोंने अहिंसा धर्मका पालन करते हुये भी अनेक युद्ध किये और अनेक शत्रुओंको पराजित किया था। जिस धर्मके अनुयायी इतने पराक्रमशील और

शूरवीर थे और जिन्होंने अपने पराक्रमसे देशको तथा अपने राज्यको इतना समृद्ध और सत्त्वशील बनाया था, उस धर्मके प्रचारसे देश और प्रजाकी अधोगति किस प्रकार हो सकती है ? कायरता या ग़ुलामीका मूल कारण अहिंसा कदापि नहीं हो सकती । जिन देशोंमें हिंसा ख़ूब ज़ोर-शोरसे प्रचलित है, जिस देशके निवासी अहिंसाका नामतक नहीं जानते, केवल मांस ही जिनका प्रधान आहार है और जिनकी वृत्तियाँ हिंसक पशुओंसे भी अधिक क्रूर हैं, क्या वे देश हमेशा आजाद रहते हैं ? रोमन साम्राज्यने किस दिन अहिंसाका नाम सुना था ? उसने कब मांस-भक्षणका त्याग किया था ? फिर वह कौनसा कारण था, जिससे उसका नाम दुनियाके परदेसे बिलकुल मिट गया ।

तुर्क प्रजाने कब अपनी हिंसक और क्रूर वृत्तियोंको छोड़ा था ? फिर क्या कारण है कि आज वह इतनी मरणोन्मुख दशामें अपने दिन बिता रही है ? स्वयम् भारतवर्षका ही उदाहरण लीजिये । मुग़ल-सम्राटोंने किस दिन अहिंसाकी आराधना की थी ? उन्होंने कब पशुबधको छोड़ा था ? फिर क्या कारण है कि उनका अस्तित्व नष्ट हो गया ? इन उदाहरणोंसे स्पष्ट जाहिर होता है कि देशकी राजनैतिक उन्नति और अवनतिमें हिंसा अथवा अहिंसा कोई कारणभूत नहीं है। देश क्यों ग़ुलाम होते हैं ? जातियाँ क्यों नष्ट हो जाती हैं ? साम्राज्य क्यों बिखर

जाते हैं? इन घटनाओंके मूल कारण हिंसा और अहिंसामें ढूँढ़नेसे नहीं मिल सकते। जितनी भी जातियाँ अथवा देश-गुलाम होते हैं, वे सब नैतिक कमजोरीके कारण अथवा यों कहिये कि आसुरी सम्पदाके आधिक्यके कारण होते हैं।

अहिंसाके भेद

जैन-आचार्य्योंने अहिंसाको कई भेदोंमें विभक्त कर दिया है। अहिंसाके मुख्य चार भेद किये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१—संकल्पी-हिंसा, २—आरम्भी-हिंसा, ३—व्यवहारी-हिंसा, और ४—विरोधी-हिंसा।

१—किसी भी प्राणीको संकल्प अर्थात् इरादा करके बुरे परणामोंसे मारना, उसे 'संकल्पी-हिंसा' कहते हैं। जैसे कोई चींटी जा रही हो, उसे केवल हिंसक भावनासे जान बूझकर मार डालना।

२—गृहकार्य्यमें, स्नानमें, भोजन बनानेमें, झाड़ू देनेमें, जल पीने आदिमें जो-जो अप्रत्यक्त जीव-हिंसा होजाती है, उसे 'आरम्भी-हिंसा' कहते हैं।

३—व्यापारमें, व्यवहारमें, चलनेमें, फिरनेमें जो हिंसा होती है, उसे 'व्यवहारी-हिंसा' कहते हैं।

४—विरोधीसे अपनी आत्म-रक्षा करनेके निमित्त अथवा किसी आततायी अथवा हमला करनेवालेसे अपने राज्य, देश

अथवा कुटुम्बकी रक्षा करनेके निमित्त जो हिंसा करनी पड़ती है, उसे 'विरोधी-हिंसा' कहते हैं।

इनके पश्चात् स्थूल-अहिंसा और सूक्ष्म-अहिंसा, द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा, देश-अहिंसा और सर्व-अहिंसा इत्यादि और भी कई भेद किये गये हैं।

१—भूलसे, अज्ञानतासे, अनजानपनेसे अगर किसी चलते फिरते जीवकी हिंसा होजाती है, यह ख्याल करते हुये कि कोई जीव मर न जाय, उसे 'स्थूल-अहिंसा' कहते हैं।

२—जान करके या अनजान करके किसी भी प्रकारके प्राणीको कष्टतक न पहुँचानेको 'सूक्ष्म-अहिंसा' कहते हैं।

३—किसी भी प्रकारके जीवको अपने शरीरसे कष्ट न पहुँचानेको 'द्रव्य-अहिंसा' कहते हैं।

४—किसी भी प्रकारके जीवको भावों तकसे कष्ट देनेका भाव न रखनेको 'भाव-अहिंसा' कहते हैं।

५—किसी भी प्रकारकी आंशिक अहिंसाकी प्रतिज्ञाको 'देश-अहिंसा' कहते हैं।

६—सार्वदेशिक अहिंसाकी प्रतिज्ञाको 'सर्व-अहिंसा' कहते हैं।

अब हम यह बतानेका प्रयत्न करेंगे कि गृहस्थ और मुनि कहाँतक अहिंसाव्रतका पालन करते हैं।

यद्यपि आत्माके अमरत्वकी प्राप्तिकेलिये और संसारके सर्व बन्धनोंसे मुक्त होनेकेलिये अहिंसाका पूर्ण रूपसे पालन करना आवश्यक है, तथापि संसारनिवासी तमाम मनुष्योंको इतनी योग्यता और इतनी शक्ति नहीं कि वे अहिंसाका पूर्ण रूपसे पालन कर सकें, इस कारण शास्त्रकारों अथवा तत्त्वज्ञोंने गृहस्थोंकेलिये न्यूनाधिक अहिंसाके मार्ग बता दिये हैं।

अहिंसाके भेदोंकी तरह उनके अधिकारियोंके भी जुदे-जुदे भेद कर दिये हैं। जो गृहस्थ अथवा संसारी मनुष्य पूर्ण रीतिसे अहिंसाका पालन नहीं कर सकते, उन्हें श्रावक, उपासक, अणु-व्रती, देशव्रती इत्यादि नामोंसे सम्बोधित किया गया है।

उपरोक्त चार प्रकारकी हिंसाओंमें गृहस्थ केवल संकल्पी-हिंसा का त्यागी होता है। इसके अलावा वह भाव-हिंसा और स्थूल-हिंसा का भी त्यागी हो सकता है। शेष हिंसाएँ गृहस्थको क्षम्य होती हैं। गृह-कार्यमें होनेवाली आरम्भी-हिंसा, व्यापारमें होने वाली व्यावहारिक-हिंसा तथा आत्म-रक्षाके निमित्त होनेवाली विरोधी-हिंसा अगर एक श्रावक त्यागपूर्वक, ध्यानपूर्वक और अपनी मनोभावनाओंको शुद्ध रखता हुआ करता है तो वह बहुत सूक्ष्म रूपमें दोषका भागी होता है।

जो प्राणी अहिंसा-व्रतका पूर्ण अर्थात् सूक्ष्म रीतिसे पालन करता है, उसको जैनशास्त्रोंमें मुनि, भिक्षु, श्रमण अथवा संयमी शब्दोंसे सम्बोधित किया गया है। ऐसे लोग संसारके सब कामों

से दूर और अलिप्त रहते हैं। उनका कर्त्तव्य केवल आत्म-कल्याण करना तथा मुमुक्षुजनोंको आत्म-कल्याणका मार्ग बताना रहता है। उनकी आत्मा विषय-विकार तथा कषाय-भावसे बिलकुल परे रहती है; उनकी दृष्टिमें जगत्‌के तमाम प्राणी आत्मवत् गोचर होते हैं; अपने और परायेका द्वैपभाव उनके हृदयमेंसे नष्ट हो जाता है; उनके मन, वचन, और काय, तीनों एक रूप हो जाते हैं; जो पुरुष इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं, वे 'महाव्रती' कहलाते हैं। वे पूर्ण-अहिंसाको पालन करनेमें समर्थ होते हैं। ऐसे महाव्रतियोंकेलिये स्वार्थ-हिंसा और परार्थ-हिंसा, दोनों वर्जनीय हैं। वे सूक्ष्म तथा स्थूल, दोनों प्रकार की अहिंसासे मुक्त रहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि इस प्रकारके महाव्रतियोंसे खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने-फिरने व सोने आदिमें कभी-कभी हिंसा अवश्य हो जाती होगी। फिर वे हिंसाजन्य पापोंसे बच कैसे सकते हैं?

उत्तर—ये महाव्रती सदा ध्यानपूर्वक, देखभालकर अपनी सारी क्रिया किया करते हैं। इससे स्थूल-हिंसाकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

हाँ, यद्यपि अनिवार्य्य सूक्ष्म-जीव-हिंसा उक्त क्रियाओंमें हुआ करती है, तथापि उनकी मन, वचन और कायकी क़तई कोई भावना नहीं रहती। इस कारण वह दोषी नहीं होते हैं। इसके

अलावा अगर कोई हिंसा भूल-चूक या अज्ञानतामें होजाती है तो उसकेलिये मुनि सुबह-शाम प्रतिदिन प्रतिक्रमण, क्षमा और पश्चात्ताप करते हैं। इस प्रकार वे सदा हर प्रकारकी हिंसासे मुक्त रहते हैं।

हिंसाका विशेष विवेचन

प्रमत्त भावसे प्राणियोंके प्राणोंका जो नाश किया जाता है, उसीको 'हिंसा' कहते हैं। जो प्राणी विषय अथवा कषायके वशीभूत होकर किसी प्राणीको कष्ट पहुँचाता है, वही हिंसाजनक पापका भागी होता है। इस हिंसाकी व्याप्ति केवल शरीरजन्य कष्टतक ही नहीं, पर मन और वचनजन्य कष्टतक भी है। जो विषय तथा कषायके वशीभूत होकर दूसरोंके प्रति अनिष्ट चिन्तन या अनिष्ट भाषण करता है, वह भी भावहिंसाका दोषी माना जाता है। इसके विपरीत विषय और कषायसे विरक्त मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा भी हो जाय तो उसकी वह परमार्थहिंसा हिंसा नहीं कहलाती। मान लीजिये कि एक बालक है, उसमें किसी प्रकारकी खराब प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्तिको दूर करनेकी खातिर उसके पिता अथवा गुरु केवल मात्र उसकी कल्याण-कामनासे प्रेरित होकर कठोर वचनोंसे उसका ताड़न करते हैं अथवा उसे शारीरिक दण्ड भी देते हैं तो उसके लिये कोई भी उस गुरु अथवा पिताको दण्डनीय अथवा निन्दनीय नहीं मान सकता, क्योंकि दण्ड देते समय उनकी

वृत्तियोंमें किसी प्रकारकी मलीनताके भाव न थे। उनके हृदयमें उस समय भी उज्ज्वल, अहिंसक और कल्याणकारक भाव कार्य्य कर रहे थे। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य द्वेषभावके वश होकर किसी दूसरे व्यक्तिको मारता है अथवा गालियाँ देता है, तो समाजमें निन्दनीय और राज्यसे दण्डनीय होता है; क्योंकि उस व्यवहारमें उसकी भावनाएँ कलुषित रहती हैं, उसका आशय दुष्ट रहता है। यद्यपि उपरोक्त दोनों प्रकारके व्यवहारोंका बाह्य स्वरूप एक ही प्रकारका है, तथापि भावनाओंके भेदसे उनका अन्तरूप बिलकुल एक दूसरेसे विपरीत है। इसी प्रकारका भेद द्रव्य और भाव हिंसाके स्वरूपमें होता है।

वास्तवमें यदि देखा जाय तो हिंसा और अहिंसाका रहस्य मनुष्यकी मनोभावनाओंपर अवलम्बित है। किसी भी कर्मके शुभाशुभ बन्धका आधार कर्त्ताके मनोभावोंपर अवलम्बित है। जिस भावसे प्रेरित होकर मनुष्य जो कर्म करता है, उसीके अनुसार उसे उसका फल भोगना पड़ता है। कर्मकी शुभाशुभता उसके स्वरूपपर नहीं, प्रत्युत कर्त्ताकी मनोभावनाओंपर निर्भर है। जिस कर्मके करनेमें कर्त्ताका विचार शुभ है, वह 'शुभ कर्म' कहलाता है। जिस कर्मके करनेमें उसका विचार अशुभ है, वह 'अशुभ कर्म' कहलाता है।

किसी जीवको कष्ट पहुँचानेमें जो अशुभ परिणाम निमित्त-भूत होते हैं, उसीको हिंसा कहते हैं और बाह्य दृष्टिसे हिंसा

मालूम होनेपर भी जिसके आन्तर्य परिणाम शुद्ध रहते हैं, वह हिंसा नहीं कहलाती। इसके विपरीत जिसका मन शुद्ध अथवा संयमित नहीं है, जो विषय तथा कषायसे लिप्त है, वह बाह्य स्वरूपमें अहिंसक दिखाई देनेपर भी हिंसक है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिसका मन दुष्ट भावोंसे भरा हुआ है, वह यदि कायिक रूपसे हिंसा नहीं करता है, तो भी हिंसक ही है।

अनक़रीब प्रत्येक समझदार मनुष्य यह जानता है कि अहिंसा और क्षमा दोनों वस्तुएँ बहुत ही उज्ज्वल एवं मनुष्य जातिको उन्नतिके पथपर ले जानेवाली हैं। यदि इन दोनोंका आदर्श रूप संसारमें प्रचलित हो जाय तो संसारसे आज ही युद्ध, रक्तपात और जीवन-कलहके दृश्य मिट जाँय और शान्तिका राज्य हो जाय। पर यदि कोई व्यक्ति इस आशासे प्रयत्न करे कि समस्त संसारमें क्षमा और शान्तिका साम्राज्य होजाय तो यह असम्भव है; क्योंकि समस्त समाज इन तत्त्वोंको एकान्तरूपसे स्वीकार नहीं कर सकती। प्रकृतिने मनुष्य-स्वभावकी रचना ही कुछ ऐसे ढङ्गसे की है कि जिससे वह शुद्ध आदर्शको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहता है। मनुष्य-प्रकृतिकी बनावट ही पाप और पुण्य, गुण और दोष एवं प्रकाश और अन्धकारके मिश्रण से की गई है। चाहे आप इसे प्रकृति कहें, चाहें कर्म, पर एक तत्त्व ऐसा मनुष्य-स्वभावमें मिश्रित है कि जिससे उसके अन्तर्गत उत्साहके साथ प्रमादका, क्षमाके साथ क्रोधका, बन्धुत्वके साथ

अहङ्कारका औ अहिंसाके साथ हिंसक प्रवृत्तिका समावेश अनिवार्य रूपसे पाया जाता है। कोई भी मनस्तत्त्वका वेत्ता मनुष्य-हृदयकी इस प्रकृति या विकृति या कर्मकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

आधुनिक संसारमें दो विरुद्ध मार्ग एक साथ प्रचलित होरहे हैं। एक मार्ग तो अहिंसा, क्षमा, दया आदिका; दूसरा हिंसा, युद्ध, बन्धु-विद्रोह आदिका। पहिले मार्गका आदर्श मनुष्य जातिको उच्च व शुद्ध अवस्थामें ले जाता है, जब कि दूसरे मार्गका आदर्श मनुष्यको दुःखित और नीच अवस्थामें ले जाता है।

इसलिये यह हर मनुष्य (गृहस्थ) के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि जहाँतक मुमकिन होसके, वहाँतक वह हिंसाकृत कार्यों की कमी करता रहे। कारण कि अहिंसा इस भव और परभव, दोनोंमें अपार आनन्द देनेवाला तत्त्व है। यहाँतक कि यह मनुष्यको मोक्ष प्राप्त करा सकती है।

यही जैनधर्मकी अहिंसाका संक्षिप्त स्वरूप है।
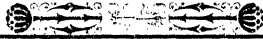
द्वितीय खण्ड
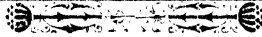
"रस-पूरित और अलंकार-भूषित काव्य मनुष्य-चरित्र के भव्य भवनका निर्माण करते हैं, तो ठोस दार्शनिक तत्त्व उसकी नींवको आपाताल सुदृढ़ करते हैं।"

—तत्त्व-बुभुत्सु ।

द्वितीय खण्ड

सप्तभङ्गी

वस्तुत्वके स्वरूपका सम्पूर्ण विचार प्रदर्शित करनेके लिये जैनाचार्य्योंने सात प्रकारके वाक्योंकी योजना की है। वह इस भाँति है:—

१—स्यादस्ति	कदाचित् है।
२—स्यान्नास्ति	कदाचित् नहीं है।
३—स्यादस्ति नास्त	कदाचित् है और नहीं है।
४—स्यादवक्तव्यम्	कदाचित् अवाच्य है।
५—स्यादस्ति अवक्तव्यम्	कदाचित् है आर अवाच्य है।
६—स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्	कदाचित् नहीं है और अवाच्य है।
७—स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यम्	कदाचित् है, नहीं है और अवाच्य है।

उपरोक्त सात नयोंको घटपर उतारते हैं—

१—यह निश्चय है कि घट सत् है, मगर अमुक अपेक्षासे; इस वाक्यसे अमुक दृष्टिसे घटमें मुख्यतया अस्तित्व-धर्मका विधान होता है।

२—यह निश्चय है कि घट असत् है, मगर अमुक अपेक्षासे; इस वाक्य द्वारा घटमें अमुक अपेक्षासे मुख्यतया नास्तित्व-धर्मका विधान होता है।

३—किसीने पूछा कि—घट क्या अनित्य और नित्य, दोनों धर्मवाला है ? उसके उत्तरमें कहना कि "हाँ, घट अमुक अपेक्षासे अवश्यमेव नित्य और अनित्य है"; इस वाक्यसे मुख्यतया अनित्य धर्मका विधान और उसका निषेध क्रमशः किया जाता है।

४—घट किसी अपेक्षासे अवक्तव्य है। घट अनित्य और नित्य दोनों तरहसे क्रमशः बताया जा सकता है। जैसा कि तीसरे शब्द-प्रयोगमें कहा गया है। मगर यदि क्रम विना, युगपत् (एक ही साथ) घटको नित्य और अनित्य बताना हो तो उसके लिये जैन-शास्त्रकारोंने नित्यानित्य या दूसरा कोई शब्द उपयोगी न समझकर इस 'अवक्तव्य' शब्दका व्यवहार किया है। यह भी ठीक है। घट जैसे अनित्य रूपसे अनुभवमें आता है, उसी तरह नित्य रूपसे भी अनुभवमें आता है। इससे घट, जैसे केवल अनित्य रूपमें नहीं ठहरता, वैसे ही केवल नित्य रूपमें भी घटित नहीं होता है। बल्कि वह नित्यानित्य रूप विलक्षण जातिवाला ठहरता है। ऐसी हालतमें घटके यदि यथार्थ रूपमें नित्य और अनित्य, दोनों तरहसे, क्रमशः नहीं, किन्तु एकही साथ बताना हो तो शास्त्रकार कहते हैं कि इस तरह बतानेकेलिये कोई शब्द नहीं है। अतः घट अवक्तव्य है।

यों चार जो वचन-प्रकार बनाये गये, उनमेंसे मूल तो आरम्भके दो ही हैं। पिछले दो वचन-प्रकार प्रारम्भके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं। कदाचित् अमुक अपेक्षासे घट अनित्य ही है, कदाचित् अमुक अपेक्षासे घट नित्य ही है, ये प्रारम्भके दो वाक्य जो अर्थ बताते हैं, वही अर्थ तीसरा वचन-प्रकार क्रमशः बताता है और उसी अर्थको चौथा वाक्य युगपत्—एक साथ बताता है। इस चौथे वाक्यपर विचार करनेसे यह समझमें आ सकता है कि घटमें अवक्तव्य धर्म भी है परन्तु घटको कभी एकान्त अवक्तव्य नहीं मानना चाहिये। यदि ऐसा मानेंगे तो घट जो अमुक अपेक्षासे नित्य रूप और अमुक अपेक्षासे अनित्य रूपसे अनुभवमें आता है, उसमें बाधा आ जायगी। अतएव ऊपरके चारों वचन-प्रयोगोंको 'स्यात्' शब्दसे युक्त अर्थात् कदाचित् अमुक अपेक्षासे समझना चाहिये।

इन चार वचन-प्रकारोंसे अन्य तीन वचन-प्रयोग भी उत्पन्न किये जा सकते हैं।

५—अमुक अपेक्षासे घट नित्य होनेके साथ ही अवक्तव्य भी है।

६—अमुक अपेक्षासे घट अनित्य होनेके साथ ही अवक्तव्य भी है।

७—अमुक अपेक्षासे घट नित्यानित्य होनेके साथ ही अवक्तव्य भी है।

सामान्यतया घटका तीन तरहसे—नित्य, अनित्य और अवक्तव्य रूपसे विचार किया गया है। इन तीन वचन-प्रकारोंको उक्त चार वचन-प्रकारोंके साथ मिला देनेसे सात वचनप्रकार होते हैं। इन सात वचन-प्रकारोंको जैन-शास्त्रोंमें 'सप्तभङ्गी-न्याय' कहते हैं। सप्त यानी सात और भङ्ग यानी वचन अर्थात् सात वचन-प्रकारके समूहको सप्तभङ्गी-न्याय कहते हैं। इन सातों वचन-प्रयोगोंको भिन्न-भिन्न अपेक्षासे भिन्न-भिन्न दृष्टिसे समझना चाहिये। किसी भी वचन-प्रकारको एकान्त दृष्टिसे नहीं मानना चाहिये। यह बात तो सरलतासे समझमें आसकती है कि यदि एक वचन-प्रकारको एकान्त दृष्टिसे मानोगे तो दूसरे वचन-प्रकार असत्य होजायँगे।

यह सप्तभङ्गी (सात प्रयोग-वचन) दो भागोंमें विभक्त की जाती है। एकको कहते हैं सकलादेश और दूसरेको विकलादेश। अमुक अपेक्षासे यह घट अनित्य ही है, इस वाक्यसे अनित्य-धर्मके साथ रहते हुये घटके दूसरे धर्मोंको बोधन करनेका कार्य्य सकलादेश करता है। सकल यानी तमाम धर्मोंका आदेश यानी कहनेवाला। यह प्रमाण-वाक्य भी कहा जाता है; क्योंकि प्रमाण वस्तुके तमाम धर्मोंको स्पष्ट करनेवाला माना जाता है। अमुक अपेक्षासे घट अनित्य ही है, इस वाक्यसे घटके केवल अनित्य-धर्मको बतानेका कार्य विकलादेशका है। विकल यानी अपूर्ण अर्थात् अमुक वस्तु-धर्मको आदेश यानी कहनेवाला विकलादेश

है। विकलादेश नय-वाक्य माना गया है। नय प्रमाणका अंश है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है और नय उसके अंशको।

इस बातको प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि शब्द या वाक्यका कार्य अर्थ-बोध करानेका होता है। वस्तु के सम्पूर्ण ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, और उस ज्ञानको प्रकाशित करनेवाला वाक्य प्रमाण-वाक्य कहलाता है। वस्तुके किसी एक अंशके ज्ञानको नय कहते हैं, और उस एक अंशके ज्ञानको प्रकाशित करनेवाला नय-वाक्य कहलाता है। इन प्रमाण-वाक्यों और नय-वाक्योंको सात विभागोंमें बाँटनेहीका नाम "सप्तभङ्गी" है *।

---

* यह विषय अत्यन्त गहन और विस्तृत है। "सप्तभङ्गीतरङ्गिणी" नामक जैन-तर्क-ग्रन्थमें इस विषयका प्रतिपादन किया गया है। "सम्मति-तर्क-प्रकरण" आदि जैन-न्याय शास्त्रोंमें इस विषयका बहुत गम्भीरतासे विचार किया गया है।

अनेकान्तवाद

(स्याद्वाद-दर्शन)

भारतीय प्राचीन तथा अर्वाचीन कतिपय दार्शनिक विद्वानों ने जैनदर्शनके अनेकान्तवादका जो स्वरूप सभ्य संसारके सामने रक्खा है, वह उसका यथार्थ स्वरूप नहीं है। उन्होंने अनेकान्तवादका स्वरूप-प्रदर्शन और उसके प्रतिवादात्मक आलोचना करते समय, बहुधा साम्प्रदायिक विचारोंसे ही काम लिया है अर्थात् साम्प्रदायिकत्व मोहके कारण ही कितनेक विद्वानोंने अनेकान्तवादको संदिग्ध तथा अनिश्चितवाद कहकर उसे पदार्थ-निर्णयमें सर्वथा अनुपयोगी और उन्मत्त पुरुषोंका प्रलापमात्र बतला दिया है। पर वास्तवमें बात यह है कि अनेकान्तवादका सिद्धान्त बड़ा ही सुव्यवस्थित और परिमार्जित सिद्धान्त है। इसका स्वीकार मात्र जैनदर्शनने ही नहीं किया है, बल्कि अन्यान्य दर्शन-शास्त्रोंमें भी इसका बड़ी प्रौढ़तासे समर्थन किया गया है कि अनेकान्तवाद वस्तुतः अनिश्चित एवं संदिग्धवाद नहीं, किन्तु वस्तुस्वरूपके अनुरूप सर्वाङ्गपूर्ण एक सुनिश्चित सिद्धान्त है।

अन्य विद्वानोंकी अनेकान्तवादपर सम्मतियाँ

अंग्रेजीके प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर "थामस"का कथन है कि न्याय-शास्त्रमें जैन-न्यायका स्थान बहुत ऊँचा है। इसके कितने ही तर्क पाश्चात्य तर्क-शास्त्रके नियमोंसे बिलकुल मिलते हुए हैं। स्याद्वादका सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। यह वस्तुकी भिन्न-भिन्न स्थितियोंपर अच्छा प्रकाश डालता है।

जैन-तत्त्वज्ञानकी प्रधान नींव स्याद्वाद-दर्शनपर स्थित है। डाक्टर हर्मन जेकोबीका कथन है कि इसी स्याद्वादके ही प्रतापसे महावीरने अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको परास्त करनेमें अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। "अज्ञेयवाद"के बिलकुल प्रतिकूल इसकी रचना की गई है।

अनेकान्तवादका स्वरूप

अनेकान्तवाद जैनदर्शनका मुख्य विषय है। जैनतत्त्वज्ञान की सारी इमारत अनेकान्तवादके सिद्धान्तपर अवलम्बित है। वास्तवमें इसे जैनदर्शनका मूल सिद्धान्त समझना चाहिये। 'अनेकान्त' शब्द एकान्तत्व-सर्वथात्व—सर्वथा-एकमेव, इस एकान्त निश्चयका निषेधक और विविधताका विधायक है। सर्वथा एक ही दृष्टिसे पदार्थके अवलोकन करनेकी पद्धतिको अपूर्ण समझ-कर ही जैनदर्शनमें अनेकान्तवादको मुख्य स्थान दिया गया है। अनेकान्तवादका अर्थ है—वस्तुका भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओंसे

विचार करना, देखना या कहना। अनेकान्तवादका एक ही शब्दमें हम अर्थ करना चाहें तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। एक ही वस्तुमें अमुक-अमुक अपेक्षासे भिन्न-भिन्न धर्मोंको स्वीकार करने हीका नाम अनेकान्तवाद यानी स्याद्वाद है। जैसे एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न लोगोंकी अपेक्षासे पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा, पति, मामा, भानेज आदि माना जाता है। इसी प्रकार एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न अपेक्षासे भिन्न-भिन्न धर्म माने जाते हैं। एक ही घटमें नित्यत्व और अनित्यत्व आदि विरुद्ध रूपमें दिखाई देनेवाले धर्मको तद्रूपमें ही स्वीकार करनेका नाम एकान्तवाद-दर्शन है। स्याद्वाद, अपेक्षावाद और कथंचिद्वाद अनेकान्तवादके ही पर्याय—समानार्थवाची शब्द हैं।

जैनदर्शन किसी भी पदार्थको एकान्त नहीं मानता। उसके मतसे पदार्थमात्र ही अनेकान्त है। केवल एक ही दृष्टिसे किये गये पदार्थ-निश्चयको जैनदर्शन अपूर्ण समझता है। उसका कथन है कि वस्तुका स्वरूप ही कुछ ऐसे ढङ्गका है कि वह एक ही समयमें एक ही शब्दके द्वारा पूर्णतया नहीं कहा जा सकता। एक ही पुरुष अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता, अपने भतीजेकी अपेक्षासे चचा और अपने चचाकी अपेक्षासे भतीजा होता है। इस प्रकार परस्पर दिखाई देनेवाली बातें भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे एक ही मनुष्यमें स्थित रहती हैं। यही हालत प्रायः सभी वस्तुओंकी है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे

सभी वस्तुओंमें सत्, असत्, नित्य और अनित्य आदि गुण पाये जाते हैं।

मान लीजिये एक घड़ा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टीसे घड़ा बना है, उसीसे और भी कई प्रकारके बर्तन बनते हैं। पर यदि उस घड़ेको फोड़कर हम उसी मिट्टीका बनाया हुआ कोई दूसरा पदार्थ किसीको दिखलावें तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी मिट्टी और द्रव्यके होते हुए भी उसको घड़ा न कहनेका कारण यह है कि उसका आकार घड़ेका-सा नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि घड़ा मिट्टीका एक आकार-विशेष है। मगर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि आकार-विशेष मिट्टीसे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। आकार परिवर्तित की हुई मिट्टी ही जब घड़ा, सिकोरा, मटका आदि नामोंसे सम्बोधित होती है तो उसी स्थितिमें आकार मिट्टीसे सर्वथा भिन्न नहीं कहे जा सकते। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि घड़ेका आकार और मिट्टी, ये दोनों घड़ेके स्वरूप हैं। अब देखना यह है कि इन दोनों स्वरूपोंमें विनाशी रूप कौनसा है और ध्रुव कौनसा है? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़ेका आकार-स्वरूप विनाशी है; क्योंकि उसके कई रूप बनते और बिगड़ते रहते हैं। और घड़ेका जो दूसरा स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है; क्योंकि उसका नाश होता ही नहीं।

इतने विवेचनसे हम इस बातको स्पष्ट समझ सकते हैं कि घड़ेका एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा ध्रुव। इसी बातको यदि हम यों कहें कि विनाशी रूपसे घड़ा अनित्य है और ध्रुव रूपसे नित्य है तो कोई अनुचित न होगा। इसी तरह एक ही वस्तुमें नित्यता और अनित्यता सिद्ध करनेवाले सिद्धान्त ही को अनेकान्तवाद कहते हैं।

अनेकान्तवादकी सीमा केवल नित्य और अनित्य, इन्हीं दो बातोंमें समाप्त नहीं हो जाती; सत् और असत् आदि दूसरे विरुद्ध रूपमें दिखलाई देनेवाली बातें भी इस तत्त्वज्ञान के अन्दर सम्मिलित हो जाती हैं। घड़ा आँखोंसे स्पष्ट दिखलाई देता है। इससे हर कोई सहज ही कह सकता है कि "वह सत् है", मगर न्याय कहता है कि अमुक दृष्टिसे वह असत् भी है। यह बात बड़ी गम्भीरताके साथ मनन करने योग्य है कि प्रत्येक पदार्थ किन बातोंके कारण सत् कहलाते हैं। रूप, रस, गन्ध, आकारादि अपने ही गुणों और अपने ही धर्मोंसे, प्रत्येक पदार्थ सत् होता है। दूसरेके गुणोंसे कोई पदार्थ सत् नहीं कहलाता। एक स्कूलका मास्टर अपने विद्यार्थीकी दृष्टिसे मास्टर कहलाता है, एक पिता अपने पुत्रकी दृष्टिसे पिता कहलाता है, पर वही मास्टर और वही पिता दूसरोंकी दृष्टिसे मास्टर या पिता नहीं कहला सकते। जैसे स्वपुत्रकी अपेक्षासे जो पिता होता है, वही परपुत्रकी अपेक्षासे पिता नहीं होता है। उसी तरह अपने

गुणोंसे, अपने धर्मसे, अपने स्वरूपसे जो पदार्थ सत् है, वही दूसरे पदार्थके धर्मसे, और गुणसे और स्वरूपसे 'सत्' नहीं हो सकता। जो वस्तु सत् नहीं है, उसे असत् कहनेमें कोई दोष उत्पन्न नहीं हो सकता।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वस्तुको सत् और असत् कहनेमें विचारशील विद्वानोंको कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। एक कुम्हार है। वह यदि कहे कि मैं सुनार नहीं हूँ तो इस बातमें वह कुछ भी अनुचित नहीं कह रहा है। मनुष्यकी दृष्टिसे यद्यपि वह सत् है तथापि सुनारकी दृष्टिसे वह असत् है। इस प्रकार अनुसन्धान करनेसे एक ही व्यक्तिमें सत् और असत्-का अनेकान्तवाद बराबर सिद्ध होजाता है। किसी वस्तुको असत् कहनेसे मतलब यह नहीं है कि हम उसके सत्-धर्मके विरुद्ध कुछ बोल रहे हैं।

जगत्के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, इन तीन धर्मोंसे युक्त हैं। उदाहरणकेलिए—एक लोहेकी तलवार ले लीजिये, उसको गलाकर उसकी कटारी बना लो। इससे यह स्पष्ट होगया कि तलवारका विनाश होकर कटारीकी उत्पत्ति होगई; लेकिन इससे यह नहीं कहा जासकता कि तलवार बिलकुल ही नष्ट होगई अथवा कटारी बिलकुल नई बन गई। क्योंकि तलवार और कटारीमें जो मूल तत्त्व है, वह तो अपनी उसी स्थितिमें मौजूद है। विनाश और उत्पत्ति तो केवल आकारकी ही हुई है। इस उदा-

हरणसे, तलवारको तोड़कर कटारी बनानेमें, तलवारके आकारका नाश, कटारीके आकारकी उत्पत्ति और लोहेकी स्थिति, ये तीनों बातें भलीभाँति सिद्ध होजाती हैं। वस्तुमें उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, ये तीन गुण स्वभावतया ही रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट होजाती है तो इससे यह न समझना चाहिये कि उसके मूल तत्त्व ही नष्ट होगये। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूपके होते हैं। सूक्ष्म परमाणु तो हमेशा स्थित रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु, दूसरी वस्तुके साथ मिलकर नवीन रूपोंका प्रादुर्भाव करते रहते हैं। जैसे सूर्यकी किरणोंसे पानी सूख जाता है, पर इससे यह समझ लेना भूल है कि पानीका अभाव होगया है। पानी चाहे किसी रूपमें क्यों न हो, बराबर स्थित है। यह हो सकता है कि उसका वह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे, पर यह तो कभी सम्भव नहीं कि उसका अभाव होजाय। यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई मूल वस्तु नष्ट ही होती है और न नवीन उत्पन्न ही होती है। इन मूल तत्त्वोंसे जो अनेक प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं, वह विनाश और उत्पाद हैं। इससे सारे पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, इन तीन गुणोंवाले सिद्ध होते हैं।

आधुनिक पदार्थ-विज्ञानका भी यही मत है। वह कहता है कि "मूल प्रकृति ध्रुव—स्थिर है और उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ उसके रूपान्तर—परिणामान्तर मात्र हैं"। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके जैन-सिद्धान्तका विज्ञान भी पूर्ण समर्थन करता है।

इन तीनों गुणोंमेंसे जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है, उसे जैन शास्त्रमें 'द्रव्य' कहा है, एवं जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है, उसको 'पर्याय' कहते हैं। द्रव्यकी अपेक्षासे हर एक वस्तु नित्य है और पर्यायसे अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थको न एकान्त-नित्य और न एकान्त-अनित्य, बल्कि नित्यानित्य रूपसे मानना ही अनेकान्तवाद है।

इसके सिवाय एक वस्तुके प्रति सत् और असत्का सम्बन्ध भी ध्यानमें रखना चाहिये। ऊपर लिखा जा चुका है कि एक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे सत् है और दूसरी वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे वही असत् है। जसे वर्षा-ऋतुमें इन्दौरके अन्तर्गत मिट्टीका बना हुआ लाल घड़ा है। यह द्रव्यसे मिट्टीका है—मृत्तिका रूप है, जल रूप नहीं। क्षेत्रसे इन्दौरका है, दूसरे क्षेत्रोंका नहीं। कालसे वर्षा-ऋतुका है, दूसरे समयका नहीं। और भावसे लालवर्ण वाला है, दूसरे वर्णका नहीं। संक्षेपमें प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप ही से 'अस्ति' कही जा सकती है। दूसरेके स्वरूपसे वह नास्ति ही कहलायगी।

कोई कहता है कि संसारमें जीव है, कोई कहता है कि जीव नहीं है; कोई जीवको एक रूप और कोई अनेक रूप कहता है; कोई जीवको अनित्य और कोई नित्य कहता है। इस प्रकार अनेक नय हैं। कोई किसीसे नहीं मिलते, परस्पर विरुद्ध हैं और जो सब नयोंको साधता है, वह 'स्याद्वाद' है।

कोई जीव पदार्थको अस्ति स्वरूप और कोई जीव पदार्थको नास्ति रूप कहते हैं। अद्वैतवादी जीवको एक ब्रह्म रूप कहते हैं, नैयायिक जीवको अनेक रूप कहते हैं, बौद्ध मतवाले जीवको अनित्य कहते हैं, सांख्य मतवाले शास्वत अर्थात् नित्य कहते हैं। पर ये सब परस्पर-विरुद्ध हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते, पर स्याद्वादी सब नयोंको अविरुद्ध साधता है।

प्रश्न—जगत्में जीव स्वाधीन है कि पराधीन? जीव एक है अथवा अनेक? जीव सदा काल है अथवा कभी जगत्में नहीं रहता है? जीव अविनाशी है अथवा नाशवान् है?

उत्तर—द्रव्य-दृष्टिसे देखो तो जीव स्वाधीन है, एक है, सदा काल है और अविनाशी है। पर्याय-दृष्टिसे पराधीन, अनेक रूप, क्षणभङ्गुर और नाशवान् है। अतः जहाँ जिस अपेक्षासे कहा गया है, उसे प्रमाण करना चाहिये।

जब जीवकी कर्म-रहित शुद्ध अवस्थापर दृष्टि डाली जाती है, तब वह स्वाधीन है; जब उसकी कर्माधीन दशापर ध्यान दिया जाता है, तब वह पराधीन है। लक्षणकी दृष्टिसे सब जीव द्रव्य एक है; संख्याकी दृष्टिसे अनेक हैं। जीव था, जीव है, जीव रहेगा, इस दृष्टिसे जीव सदा काल है; जीव गतिसे गत्यन्तरमें जाता है, इसलिये एक गतिमें सदा काल नहीं है। जीव पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, इसलिये वह अविनाशी है; क्षण-क्षणमें परिणमन करता है, इसलिये वह अनित्य है। जैनदर्शन एक ही

रूपसे वस्तुको सत् और असत् नहीं मानता किन्तु सत् वस्तुको वह उसके स्वभावकी अपेक्षा कहता है और असत् (अस्वभाव रूप) अन्य वस्तुकी अपेक्षासे कथन करता है। इस तत्त्वके स्पष्टीकरणार्थ ही जैनदर्शनमें स्वरूप और पररूप, इन दो शब्दोंका विधान किया है। स्वरूपकी अपेक्षा वस्तुमें सत् और पररूपकी अपेक्षा असत्। इनके अलावा भाव, अभाव, नित्य, अनित्य स्वरूप ही जैनदर्शनको अभिमत है। इस विषयकी चर्चा करते हुए कुछ जैन विद्वानोंने जो सिद्धान्त स्थिर किया है उसका सारांश इस प्रकार है:—

१—हम एक ही रूपमें वस्तुमें सत् और असत्का अंगीकार नहीं करते, जिससे विरोधकी सम्भावना हो सके, किन्तु सत् उसमें स्वरूपकी अपेक्षा और असत् पररूपकी अपेक्षासे है; इसलिये विरोधकी कोई आशंका नहीं।

—मल्लिषेण सूरि।

२—नित्यानित्य होनेसे वस्तु जैसे अनेकान्त है, वैसे ही सद सत् रूप होनेसे भी अनेकान्त है। तात्पर्य यह कि वस्तु नित्यानित्य की तरह सत् असत् रूप भी है। शंका—यह कथन विरुद्ध है, एक ही वस्तु सत् और असत् नहीं हो सकती, सत् असत्का विनाशक है और असत् सत्का विरोधी है। यदि ऐसा न हो तो सत् और असत् दोनों एक ही हो जावेंगे। अतः जो सत् है वह असत् कैसे और जो असत् है वह सत् कैसे

कहा जा सकता है। इसलिये एक ही वस्तुको सत् भी मानना और असत् भी स्वीकार करना अनुचित है? (समाधान—) यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यदि हम एक ही रूपसे वस्तुमें सत् और असत्को अंगीकार करें तब तो विरोध हो सकता है, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते। तात्पर्य यह कि जिस रूपसे वस्तुमें सत् है उसी रूपसे यदि उसमें असत् मानें तथा जिस रूपसे असत् है उसी रूपसे सत्को स्वीकार करें तब तो विरोध हो सकता है। परन्तु हम तो वस्तुमें जिस रूपसे सत् मानते हैं उसके भिन्न रूपसे उसमें असत्का अंगीकार करते हैं अर्थात् स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा उसमें सत् और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् है। इसलिये अपेक्षा भेदसे सत् असत् दोनों ही वस्तुमें अविरुद्धतया रहते हैं, इसमें विरोधकी कोई आशंका नहीं है।

—रत्नप्रभाचार्य।

वस्तुमात्रमें सामान्य और विशेष ये दो धर्म पाये जाते हैं। सामान्य धर्म उसके सत्गुणका सूचक है, और विशेष धर्म उसके असतगुणका सूचक। जैसे सौ घड़े हैं, सामान्य दृष्टिसे वे सब घड़े हैं; इसलिये सत् हैं। मगर लोग उनमेंसे भिन्न-भिन्न घड़ोंको पहिचानकर जब उठा लेते हैं तब यह मालूम होता है कि प्रत्येक घड़ेमें कुछ-न-कुछ विशेषता या भिन्नता है। यही विशेषता या भिन्नता ही उनका विशेष गुण है। जब कोई

मनुष्य अकस्मात् दूसरे घड़ेको उठा लेता है और यह कहकर कि यह मेरा नहीं है, वापस रख देता है। उस समय उस घड़ेका नास्तित्व प्रमाणित होता है, 'मेरा'के आगे जो 'नहीं' शब्द है वही नास्तित्वका सूचक है। यह घड़ा है, इस सामान्य धर्मसे घड़ेका अस्तित्व साबित होता है। मगर यह घड़ा मेरा नहीं है, इस विशेष धर्मसे उसका नास्तित्व भी साबित होता है। अतः सामान्य और विशेष धर्मके अनुसार प्रत्येक वस्तु को सत् और असत् समझना ही अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद है❀।

❀ यह विषय बहुत ही गहन है। इसकी विशेष जानकारीकेलिये हरिभद्रसूरिजीका 'अनेकान्तजयपताका' और कुन्दकुन्दाचार्य्यजीका 'प्रवचन-सार', 'समयसार' आदि ग्रन्थ पढ़ने चाहिये।

द्रव्य-पर्याय अधिकार

जो वस्तुयें अनादि कालसे चली आती हैं, जिनकी न कभी उत्पत्ति हुई, न कभी जिनका नाश हुआ और न होगा, उनको "द्रव्य" कहते हैं। ये अनादिकालसे अकृत्रिम और अनेक हैं। कोई भी नवीन द्रव्य, जिसका कि पहिले अस्तित्व न था, कभी अस्तित्वमें नहीं आ सकता। जो वस्तु, गुण और पर्यायसे युक्त होती है, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य कभी नाश नहीं होता पर उसकी पर्याय (हालत) परिवर्तन होती रहती है।

जैनशास्त्रोंमें मुख्य द्रव्य दो प्रकारके बतलाये हैं:—

१—चेतन—जीव—आत्मा।

२—जड़—अजीव—पुद्गल।

१—जीव द्रव्यका हम आगे अलग अधिकारमें वर्णन करेंगे।

२—अजीव द्रव्य मुख्य पाँच प्रकारके हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) पुद्गल (Matter), (२) धर्मास्तिकाय (Medium of Motion), (३) अधर्मास्तिकाय (Medium of rest), (४) काल (Time) और (५) आकाश (Shace)।

इन पाँचोंमें सिर्फ पुद्गल मूर्तीक है और शेष अमूर्तीक हैं।

१—संसारमें जितना पुद्गल है अर्थात् Matter है वह न कभी बढ़ता है और न कभी घटता है। वह किसी न किसी रूपमें संसारमें ही रहता है और इतना ही रहता है। शास्त्रकारोंने पुद्गलको मुख्य चार भागोंमें विभाजित किया है। वह इस प्रकार है:—

(१) वर्ण—रंग, (२) रस, (३) गन्ध और (४) स्पर्श।

(१) वर्ण यानी रंगके पाँच प्रकारके पुद्गल होते हैं:—
कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

(२) रसके पाँच प्रकारके पुद्गल होते हैं:—
खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला और चिरपरा।

(३) गन्धके दो प्रकारके पुद्गल होते हैं:—
सुगन्ध और दुर्गन्ध।

(४) स्पर्शके आठ प्रकारके पुद्गल होते हैं:—
कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, चिकना और रूखा।

२—धर्मास्तिकाय वह अरूपी ताक़त (Force) है, जो जीवको चलने फिरनेमें मदद देती है। जैसे—पानी मछलीको तैरनेमें सहायक होता है।

३—अधर्मास्तिकाय वह अरूपी ताक़त (Force) है, जो चलते हुए जीवको रुक जानेपर रोकती है। जैसे—गरमी व धूपमें

चलता हुआ पथिक पेड़की छायामें रुक जाता है और बादमें चलनेमें हिचकिचाता है। उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय चलते हुए जीवको रोकती है।

४—कालका नयेको पुराना बनानेका स्वभाव है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जो द्रव्योंके परिवर्तनरूप—परिणामरूप में देखा जाता है, वह तो व्यवहार काल है और वर्त्तनालक्षण का धारक जो काल है, वह निश्चय काल है।

५—जो जीव आदि द्रव्योंको अवकाश देनेवाला है, उसको आकाश कहते हैं। वह लोकाकाश और अलोकाकाश, इन दो भेदोंसे दो प्रकारका है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव ये पाँचों द्रव्य जितने आकाशमें हैं, वह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाशके आगे यानी परे अलोकाकाश है।

नोट—उपरोक्त जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाश—ये पाँचों द्रव्य विद्यमान हैं, इसलिये शास्त्रकारोंने इनको 'अस्ति' ऐसा कहा है। और यह कायके समान बहु प्रदेशोंको धारण करते हैं; इसलिये इनको 'काय' कहते हैं। अस्ति तथा काय रूप होनेसे इन पाँचों को "पञ्चास्तिकाय" कहते हैं।

जीव, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं और आकाशमें अनन्त हैं। मूर्त्त (पुद्गल)में संख्यात,

असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और कालका एक ही प्रदेश है, इसलिये काल काय नहीं है।

समस्त लोकमें जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल (ऊपर बताये हुए गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श के अलावा कर्मों के पुद्गल आदि) ठसाठस भरे हुए हैं। अमुक व्यक्ति प्रश्न करता है कि क्या ये आपसमें मिल नहीं जाते? उत्तर—हर द्रव्यके रूपी अथवा अरूपी परमाणु एक दूसरेसे मिले हुये भी हैं और साथ-साथ अलहदा भी हैं। उदाहरणार्थ, किसी कमरेमें अनेक दीये बला दो, हरएककी रोशनी एक दूसरेके साथ मिल जायगी और अगर एक दीयेको अलग उठा लाओ तो उसकी रोशनी भी अलग होजायगी। इसी प्रकार जो तमाम द्रव्य आपसमें मिले हुये हैं, पर जहाँ जिसकी आवश्यकता होती है, वहाँ वह एक दीयेकी रोशनीके समान जुदा होजाता है।

शास्त्रकारोंने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इस प्रकार अस्तिकाय तीन बतलाई हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं। इनके प्रत्येकके कुछ विभागको 'देश' कहते हैं; और जो सिर्फ एक प्रदेशावलम्बन करता है, उसे 'प्रदेश' कहते हैं।

कालका कोई हिस्सा नहीं होता है।

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शके पुद्गलोंका समस्त पिण्ड जो लोकमें भरा है, उसे 'स्कन्ध' कहते हैं। उसके विभागको 'देश'

कहते हैं, जो प्रदेशावलम्बन करता है अर्थात् दो आदि परिमाणु मिल रहे हैं, उसे 'प्रदेश' कहते हैं, और जो छोटेसे छोटा हिस्सा, जिसका भाग न हो सके, उसे 'परिमाणु' कहते हैं।

पुद्गलके परिणमन दो प्रकारके हैं—एक सूक्ष्म परिणमन और दूसरा स्थूल परिणमन। उसके अनन्त सूक्ष्म परिणमन आकाशके एक ही प्रदेशमें आसकते हैं।

काल-द्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें है और वह एक-एक अणु रूप है तथा भिन्न-भिन्न रहता है। पुद्गल परिमाणुकी अवगाहनाके बराबर ही इसकी अवगाहना है। इसके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर ही असंख्यात हैं और रत्नोंकी राशिके समान भिन्न-भिन्न हैं, तथा निष्क्रिय हैं। काल-द्रव्य अनन्त समय वाला है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समय मात्र है परन्तु भूत, भविष्य और वर्तमानकी अपेक्षा अनन्त समय वाला है।

'समय' कालकी पर्यायका सबसे छोटा अंश है। इसके समूहसे आवली, घटिका इत्यादि निश्चयकाल द्रव्यकी पर्याय हैं। व्यवहारकाल—दिन, रात यावत् सागरोपमादि कालका परिमाण सूर्यके गमनागमनसे होता है। यह सब ज्योतिषियोंका गमनागमन अढ़ाई द्वीप (मनुष्य लोक)के अन्दर ही है। यहाँके कालसे ही सब स्थानोंका काल-प्रमाण किया है। यह व्यवहारकाल है। मृत्युकाल सिद्ध भगवान्के सिवाय सबके लगा हुआ है।

———

नय अधिकार

एक ही वस्तुके विषयमें भिन्न-भिन्न दृष्टि-विन्दुओंसे उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न यथार्थ अभिप्रायको 'नय' कहते हैं। एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे काका, भतीजा, मामा, भानेज, पुत्र, पिता, ससुर, जमाई आदि समझा जाता है; यह नयके सिवा और कुछ नहीं है। हम यह बता चुके हैं कि वस्तुमें एक ही धर्म नहीं है। अनेक धर्मवाली वस्तुमें अमुक धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला जो अभिप्राय बँधता है, उसको जैन-शास्त्रोंमें 'नय' संज्ञा दी है। वस्तुमें जितने धर्म हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले जितने अभिप्राय हैं, वे सब 'नय' कहलाते हैं।

इस बातको सब मानते हैं कि आत्मा नित्य है और यह बात भी ठीक है, क्योंकि इसका नाश नहीं होता है। मगर इस बातका सबको अनुभव हो सकता है कि उसका परिवर्तन विचित्र तरहसे होता है। कारण, आत्मा किसी समय पशु अवस्थामें होती है, किसी समय मनुष्य-स्थिति प्राप्त करती है, कभी देव-गतिकी भोक्ता बनती है, यह कितना परिवर्तन है? एक ही आत्माकी यह कैसी विलक्षण अवस्था है? यह क्या बताती है?

आत्माकी परिवर्तनशीलता। एक शरीरके परिवर्तनसे भी यह समझमें आसकता है कि आत्मा परिवर्तनकी घटमालामें फिरती रहती है; ऐसी स्थितिमें यह नहीं माना जासकता है कि आत्मा सर्वथा एकान्त नित्य है। अतएव यह माना जासकता है कि आत्मा न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है, बल्कि नित्यानित्य है। इस दशामें जिस दृष्टिसे आत्मा नित्य है वह, और जिस दृष्टिसे अनित्य है वह, दोनों ही दृष्टियाँ 'नय' कहलाती हैं।

यह बात सुस्पष्ट और निस्सन्देह है कि आत्मा शरीरसे जुदी है, तो भी यह ध्यानमें रखना चाहिये कि आत्मा शरीरमें ऐसे ही व्याप्त हो रही है, जैसे कि मक्खनमें घृत। इसीसे शरीरके किसी भी भागमें जब चोट लगती है, तब तत्काल ही आत्माको वेदना होने लगती है। शरीर और आत्माके ऐसे प्रगाढ़ सम्बन्ध को लेकर जैनशास्त्रकार कहते हैं कि यद्यपि आत्मा शरीरसे वस्तुतः भिन्न है तथापि सर्वथा भिन्न नहीं। यदि सर्वथा भिन्न मानें तो आत्माको शरीरपर आघात लगनेसे कुछ कष्ट न होता, जैसा कि एक आदमी को आघात पहुँचनेसे दूसरे आदमीको कष्ट नहीं होता है। परन्तु अनुभव यह सिद्ध करता है कि शरीरपर आघात होनेसे आत्माको उसकी वेदना होती है; इसलिये इसी अंशमें आत्मा और शरीरको अभिन्न भी मानना होगा अर्थात् शरीर और आत्मा भिन्न होनेके साथ ही कदाचित् अभिन्न भी हैं। इस

स्थितिमें जिस दृष्टिसे आत्मा और शरीर भिन्न हैं वह, और जिस दृष्टिसे आत्मा और शरीर अभिन्न हैं वह, दोनों दृष्टियाँ 'नय' कहलाती हैं।

जो अभिप्राय ज्ञानसे मोक्ष होना बतलाता है, वह ज्ञाननय है और जो अभिप्राय क्रियासे मोक्ष सिद्ध बतलाता है, वह क्रिया-नय है, ये दोनों ही अभिप्राय नय हैं।

जो दृष्टि, वस्तुकी तात्त्विक स्थितिको अर्थात् वस्तुके मूल स्वरूपको स्पर्श करनेवाली है, वह निश्चयनय है और जो दृष्टि वस्तुकी बाह्य अवस्थाकी ओर लक्ष्य खींचती है, वह व्यव-हारनय है।

निश्चयनय बताता है कि आत्मा (संसारी जीव) शुद्ध-बुद्ध-निरञ्जन-सच्चिदानन्दमय है और व्यवहारनय बताता है कि आत्मा, कर्मबद्ध अवस्थामें मोहवान्-अविद्यावान् है। इस प्रकारके निश्चय और व्यवहारके अनेक उदाहरण हैं।

अभिप्राय बनाने वाले शब्द, वाक्य, शास्त्र या सिद्धान्त सब नय कहलाते हैं। उक्त नय अपनी मर्यादामें माननीय हैं। परन्तु यदि वे एक दूसरेको असत्य ठहरानेकेलिये तत्पर होते हैं तो अमान्य हो जाते हैं। जैसे ज्ञानसे मुक्ति बतानेवाला सिद्धान्त और क्रियासे मुक्ति बतानेवाला सिद्धान्त, ये दोनों सिद्धान्त स्वपक्षका मण्डन करते हुए यदि वे एक दूसरेका खण्डन करने लगें तो तिरस्कारके पात्र हैं।

यह समझ रखना चाहिये कि नय आंशिक सत्य है, आंशिक सत्य सम्पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता है। आत्माको नित्य या अनित्य मानना सर्वांशमें सत्य नहीं हो सकता है। जो सत्य जितने अंशोंमें हो, उसको उतने ही अंशोंमें मानना युक्त है।

इसकी गिनती नहीं हो सकती है कि वस्तुतः नय कितने हैं। अभिप्राय या वचन-प्रयोग जब गणनासे बाहर हैं, तब नय जो उनसे जुदा नहीं हैं, कैसे गणनाके अन्दर हो सकते हैं—नयों की भी गिनती नहीं हो सकती है। ऐसा होनेपर भी नयोंके मुख्यतया दो भेद बताये गये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। मूल पदार्थको द्रव्य कहते हैं; जैसे घड़ेकी मिट्टी। मूल द्रव्यके परिणामको पर्याय कहते हैं। मिट्टी अथवा अन्य किसी द्रव्यमें जो परिवर्त्तन होता है, वे सब पर्याय हैं। द्रव्यार्थिकका मतलब है—मूल पदार्थोंपर लक्ष्य देनेवाला अभिप्राय और पर्यायार्थिक नय का मतलब है—पर्यायोंपर लक्ष रखनेवाला अभिप्राय। द्रव्यार्थिक नय सब पदार्थोंको नित्य मानता है। जैसे-घड़ा, मूल द्रव्य मृत्तिका रूपसे नित्य है। पर्यायार्थिक नय सब पदार्थोंको अनित्य मानता है। जैसे—स्वर्णकी माला, जंजीर, कड़े, अंगूठी आदि पदार्थोंमें परिवर्त्तन होता रहता है। इस अनित्यत्वको परिवर्त्तन-जितना ही समझना चाहिये, क्योंकि सर्वथा नाश या सर्वथा अपूर्व उत्पाद किसी वस्तुका कभी नहीं होता है।

प्रकारान्तरसे नयके सात भेद बताये गये हैं:—

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूतनय।

नैगम—इसका अर्थ है संकल्प—कल्पना। कल्पनासे जो वस्तु व्यवहारमें आती है, वह 'नैगमनय' कहलाता है। यह नय तीन प्रकारका होता है—भूत नैगम, भविष्य नैगम और वर्तमान नैगम। जो वस्तु हो चुकी है उसका वर्तमान रूपमें व्यवहार करना भूत नैगम है। जैसे—आज वही दिवालीका दिन है कि जिस दिन महावीर भगवान् मोक्ष गये थे। यह भूतकालका वर्तमान में उपचार है। महावीरके निर्वाणका दिन आज (दिवालीका दिन) मान लिया जाता है। इस तरह भूतकालके वर्तमानमें उपचारके अनेक उदाहरण हैं। होनेवाली वस्तुको हुई कहना भविष्य नैगम है। जैसे—चावल पूरे पके न हों, पक जानेमें थोड़ी ही देर रही हो तो उस समय कहा जाता है कि चावल पक गये हैं। ऐसे वाक्य व्यवहारमें प्रचलित हैं। अथवा अर्हंतदेवको मुक्त होनेके पहिले ही कहा जाता है कि मुक्त होगये, यह भविष्य नैगमनय है। ईंधन, पानी आदि चावल पकानेका सामान इकट्ठा करते हुये मनुष्यको कोई पूछे कि तुम क्या करते हो? वह उत्तर दे कि मैं चावल पकाता हूँ—यह उत्तर वर्तमान नैगमनय है, क्योंकि चावल पकाने की क्रिया यद्यपि वर्तमानमें प्रारम्भ नहीं हुई है तो भी वह वर्तमान रूपमें बताई गई है।

संग्रह—सामान्यतया वस्तुओंका समुच्चय करके कथन करना संग्रहनय है। जैसे—सारे शरीरोंमें आत्मा एक है। इस कथनसे

वस्तुतः सब शरीरमें एक आत्मा सिद्ध नहीं होती है, प्रत्येक शरीरमें आत्मा भिन्न-भिन्न ही है तथापि सब आत्माओंमें रही हुई समान जातिकी अपेक्षासे कहा जाता है कि सब शरीरोंमें आत्मा एक है।

व्यवहार—यह नय वस्तुओंमें रही हुई समानताकी उपेक्षा करके, विशेषताकी ओर लक्ष्य खींचती है। इस नयकी प्रवृत्ति लोक-व्यवहारकी तरफ़ है। पाँच वर्णवाले भँवरेको काला भँवरा बताना इस नयकी पद्धति है। रास्ता आता है, कूडा झरता है, इन सब उपचारोंका इस नयमें समावेश हो जाता है।

ऋजुसूत्र—यह नय वस्तुमें होते हुए नवीन-नवीन रूपान्तरोंकी ओर लक्ष्य आकर्षित करता है। स्वर्णका मुकट, कुण्डल आदि जो पर्यायें हैं, उन पर्यायोंको यह नय देखता है। पर्यायके अलावा स्थायी द्रव्यकी ओर यह नय दृग्पात नहीं करता है। इसीलिये पर्यायें विनश्वर होनेसे सदा स्थायी द्रव्य इस नयकी दृष्टिमें कोई चीज़ नहीं है।

शब्द—इस नयका काम है, अनेक पर्याय शब्दोंका एक अर्थ मानना। यह नय बताता है कि कपड़ा, वस्त्र, वसन आदि शब्दों का अर्थ एक ही है।

समभिरूढ़—इस नयकी पद्धति है कि पर्याय शब्दोंके भेद से अर्थका भेद मानना। यह नय कहता है कि कुम्भ, कलश, घट आदि शब्द भिन्न अर्थवाले हैं; क्योंकि कुम्भ, कलश, घट आदि

शब्द यदि भिन्न अर्थवाले न हों तो घट, पट, अम्ब आदि शब्द भी भिन्न अर्थवाले न होने चाहिये। इसलिये शब्दके भेदसे अर्थका भेद है।

एवंभूत—इस नयकी दृष्टिसे शब्द, अपने अर्थका वाचक (कहनेवाला) उस समय होता है जिस समय वह अर्थ—पदार्थ उस शब्दकी व्युत्पत्तिमेंसे क्रियाका जो भाव निकलता है, उस क्रियामें प्रवृत्त हुआ हो। जैसे—"गो" शब्दकी व्युत्पत्ति है—"गच्छतीति गौः" अर्थात् जो गमन करता है उसे गौ कहते हैं, मगर वह 'गो' शब्द इस नयके अभिप्रायसे प्रत्येक गऊका वाचक नहीं हो सकता है किन्तु केवल गमन क्रियामें प्रवृत्त चलती हुई गायका ही वाचक हो सकता है। इस नयका कथन है कि शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार ही यदि उसका अर्थ होता है तो उस अर्थको वह शब्द कह सकता है।

यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है कि यह सातों नय एक प्रकारके दृष्टि-विन्दु हैं। अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित रहकर अन्य दृष्टि-विन्दुओंका खण्डन न करनेहीमें नयोंकी साधुता है। मध्यस्थ पुरुष सब नयोंको भिन्न-भिन्न दृष्टिसे मान देकर तत्त्वक्षेत्रकी विशाल सीमाका अवलोकन करते हैं। इसलिये वे राग-द्वेषकी बाधा न होनेसे, आत्माकी निर्मल दशाको प्राप्त कर सकते हैं।

सात नयोंके घटानेके वास्ते एक दृष्टान्त दिया जाता है:—

कोई बढ़ई पायली (अनाज तोलनेका फर्मा) बनानेके ख्यालसे जंगलसे काष्ठ लेने जा रहा था। किसीने प्रश्न किया कि तुम कहाँ जाते हो? तो बढ़ईने उत्तर दिया कि पायली बनानेको काष्ठ लेने जंगल जारहा हूँ। लकड़ी काटते समय, लकड़ी घर लाते समय, लकड़ीसे पायली बनाते समय, इत्यादि जिस समय उससे पूछा तो उसने उत्तर दिया कि पायली बनाता हूँ, यह नैगमनय है। इसपर व्यवहारनयवाला तो चुप रहा पर संग्रहनयवाला बोला कि जब इस पायलीसे नाजका संग्रह करो तब इसे पायली कहना। इसपर व्यवहारनयवाला बोला कि अभी तो तुम पायली बना रहे हो, जब पायली बन जाय और व्यवहार-योग्य होजाय, तब उसे पायली कहना। इसपर ऋजुसूत्रनयवाला बोला कि पायली बन जानेसे पायली नहीं कही जाती, परन्तु नाजका नाप करोगे तब पायली कही जायगी। तब शब्दनयवाला बोला कि नाजका नाप करते समय एक दो ऐसे गिनो जब पायली कहना। तब समभिरूढ़नय वालाबोला कि किसी कायसे माप होगा, जब यह पायली कही जायगी। तब एवम्भूतनयवाला बोला कि नापते समय जब नापमें उपयोग होगा, तभी पायली कही जायगी।

इन सात नयोंमें नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय, ये चार नय व्यवहारमें हैं और शब्दनय, समभिरूढ़ नय और एवम्भूतनय, ये तीन नय निश्चयमें हैं। किसी-किसी समय ऋजुसूत्रनयको भी निश्चयनयमें शामिल कर लेते हैं।

निक्षेप अधिकार

किसी भी वस्तुमें गुणावगुणका आरोप निक्षेपों द्वारा होता है। जैनदर्शनमें चार निक्षेप हैं। वे इस भाँति हैं :—

१—नाम, २—स्थापना, ३—द्रव्य और ४—भाव।

१—गुण, जाति, द्रव्य और क्रियाकी अपेक्षा बिना ही अपनी इच्छानुसार लोक-व्यवहारकेलिये किसी पदार्थकी संज्ञा करनेको 'नामनिक्षेप' कहते हैं। जैसे—किसी पुरुषका नाम इन्द्रराज है, परन्तु उसमें इन्द्रके समान गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया कुछ भी नहीं है; उसके माता-पिताने केवल व्यवहारार्थ नाम रख लिया है या दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि गुण, जाति, द्रव्य, क्रियाकी अपेक्षासे जो नाम नहीं रक्खे जाते हैं, उन्हींको नामनिक्षेप कहते हैं।

२—धातु, काष्ठ, पाषाण, मिट्टीके खिलौने, चित्रादि, शतरँजके हाथी, घोड़ा, बादशाह इत्यादिमें आकार-रूप व बिना आकार-रूप कल्पना कर लेनेको 'स्थापनानिक्षेप' कहते हैं।

(१) फोटो या मूर्त्ति जिससे उस वस्तुका भान होवे, उसे 'सद्भावस्थापना' या 'तदाकारस्थापना' कहते हैं।

(२) जिन वस्तुओंसे उनका भान न होवे; जैसे—शतरँजके मोहरोंमें बादशाह, हाथी, घोड़ा, आदि होते हैं, उन्हें 'असद्भावस्थापना' या 'अतदाकारस्थापना' कहते हैं।

३—जिस मनुष्य या वस्तुमें वर्त्तमान समयमें गुण न होनेपर भूत-भविष्यकालकी पर्यायकी मुख्यता लेकर वर्त्तमानमें कहना, वह 'द्रव्यनिक्षेप' है। जैसे—भविष्यमें होनेवाले राजाके पुत्रको (युवराजको) वर्त्तमानमें राजा कहना अथवा जो भूतकालमें फ़ौजदार था उसका ओहदा चला जानेपर भी उसे फ़ौजदार कहना, यह द्रव्यनिक्षेप है।

४—जिस पदार्थकी वर्त्तमानमें जो पर्याय हो, उसको उसी रूपमें कहना, उसे 'भावनिक्षेप' कहते हैं। जैसे काष्ठको काष्ठ अवस्थामें काष्ठ कहना, कोयला होनेपर कोयला और राख होनेपर राख कहना।

उक्त चारों निक्षेपोंमेंसे प्रथम तीन निक्षेप गुण बिना होनेसे 'अवस्तुक' कहे हैं और चौथा भाव निक्षेप सगुण होनेसे 'उपयोगी' कहा है।

प्रमाण

जो पदार्थके सर्वदेशको कहे और जनावे, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

जो पदार्थके एक देशको कहे और जनावे, उसे 'नय' कहते हैं।

आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा बिना अन्य पदार्थकी सहायताके पदार्थको अत्यन्त निर्मल स्पष्टतया जाने, उसको 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहते हैं।

जो पर्यायको उदासीन रूपसे देखता हुआ द्रव्यको ही मुख्य-तयासे कहे, उसे 'द्रव्यार्थिकनय' कहते हैं।

जो द्रव्यको मुख्य न करके एक पर्यायको ही कहे, उसे 'पर्यायार्थिकनय' कहते हैं।

शास्त्रकारोंने वस्तुका वस्तुत्व सिद्ध करनेकेलिये चार प्रमाण कहे हैं। वे इस भाँति हैं :—

१—प्रत्यक्ष, २—अनुमान, ३—आगम और ४—उपमा-प्रमाण।

१—आत्मा बिना अन्य पदार्थकी सहायताके ही पदार्थोंको अत्यन्त निर्मल स्पष्टतया जाने, उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। शास्त्रकारोंने प्रत्यक्ष प्रमाणके अनेक भेदानुभेद किये हैं। जैसे—

इन्द्रियप्रत्यक्ष, नोइन्द्रियप्रत्यक्ष, द्रव्य-इन्द्रियप्रत्यक्ष, भाव-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, निर्वृत्ति और उपकरण आदि ।

२—जिस अनुमानसे वस्तुका ज्ञान हो, उसे 'अनुमान प्रमाण' कहते हैं। जैसे—किसीका पुत्र बाल्यावस्थामें विदेश गया हो और युवा होकर पीछे आवे, तब उसके घरवाले शरीराकृति, वर्ण, तिल आदिसे पहिचानें; मयूरको उसके शब्दसे; रथको झंझन शब्दसे पहिचानें आदि । इसके भी शास्त्रकारोंने कई भेदानुभेद किये हैं। जैसे—पुव्वं, सव्वं, दिट्ठी आदि ।

३—ज्ञानी पुरुषोंद्वारा कथित शास्त्रोंसे वस्तुका जो ज्ञान होता है, उसे 'आगम प्रमाण' कहते हैं। इसके भी शास्त्रकारोंने कई भेद किये हैं; जैसे—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम आदि ।

४—किसी अन्य वस्तुकी सदृशता बतलाकर किसी मुख्य वस्तुका ज्ञान कराना, उसे 'उपमा प्रमाण' कहते हैं। जैसे भविष्य-कालमें प्रथम तीर्थङ्कर श्रीपद्मनाथजी कैसे होंगे ? तो कहा कि वर्त्तमानके अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर भगवान् जैसे । पल्यो-पम व सागरोपमका समय बतानेकेलिये कुएँका दृष्टान्त देते हैं, इत्यादि ।

कर्म अधिकार

जैनदर्शनमें कर्मवाद एक मुख्य सिद्धान्त है। जिस प्रकार वेदान्तदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन इत्यादि ईश्वरको सृष्टिका अधिष्ठाता और कर्त्ता—उसकी प्रेरणासे अच्छे-बुरे कर्मोंका फल मिलता है, यह मानते हैं; उस प्रकार जैनदर्शन नहीं मानता। जैनदर्शन न तो ईश्वरको सृष्टिको रचनेवाला अथवा अधिष्ठाता मानता है, और न उसकी प्रेरणासे कर्मोंका फल मिलता है, यह मानता है।

कर्मवादका मन्तव्य है कि जिस प्रकार जीव, कर्म करनेको स्वतन्त्र है; उसी प्रकार उसके कर्म भोगनेको भी वह आज़ाद है। जैनदर्शन सृष्टिको अनादि–अनन्त मानता है अर्थात् न तो वह कभी पैदा हुई और न कभी उसका विनाश होगा।

ईश्वरको कर्त्ता या प्रेरक माननेवाले कर्मवादपर नीचे लिखे आक्षेप किया करते हैं :—

१—छोटी-मोटी चीजें जैसे घड़ी, मकान, महल इत्यादि, यदि किसी व्यक्तिके द्वारा निर्मित होती हैं तो फिर सम्पूर्ण जगत्, जो कार्य रूप दिखाई देता है, उसका भी कोई उत्पादक अवश्य होना चाहिये।

२—सभी प्राणी अच्छे बुरे कर्म करते हैं, पर कोई बुरे कर्मोंका फल नहीं चाहता; और कर्म स्वयं जड़ होनेसे किसी चेतनकी प्रेरणा बिना फल देनेमें असमर्थ हैं। इसलिये ईश्वर ही प्राणियोंको कर्मफल भोगवाता है।

३—ईश्वर एक ऐसी सत्ता अर्थात् आत्मा है, जो सदासे मुक्त है और मुक्त जीवोंकी अपेक्षा उसमें कुछ विशेषता है। इस कारण जैनदर्शन जो यह मानता है कि कर्मोंसे छूट जानेपर सब जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं, सो ठीक नहीं है।

आक्षेपोंका समाधान

१—यह जगत् किसी समय नहीं बना है—वह सदासे ही है। हाँ, इसमें परिवर्त्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्त्तन ऐसे हैं कि जिनके होनेमें मनुष्य आदि प्राणी वर्गके प्रयत्नकी अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्त्तन भी होते हैं कि जिनमें किसीके प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं रहती; वे जड़-तत्त्वके तरह-तरहके संयोगसे उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियोंसे बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ—मिट्टी, पत्थर आदि चीजोंके इकट्ठे होनेसे छोटे-मोटे टीले या पहाड़का बन जाना; इधर-उधरसे पानीका प्रवाह मिल जानेसे उनका नदी रूपमें बहना, भापका पानी रूपमें बरसना, और फिरसे पानीका भाप-रूप बन जाना इत्यादि। इसलिये ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं।

२—प्राणी जैसा कर्म करते हैं, वैसा फल उनको कर्मके द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है और प्राणी अपने किये हुए बुरे कर्मका फल नहीं चाहते—यह ठीक है, पर ध्यानमें रखना चाहिये कि जीवके चेतनके संगसे कर्ममें ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे बुरे विपाकोंको नियत समयपर जीवपर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता कि चेतनके सम्बन्धके बिना ही जड़ कर्म भोग देनेमें समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देनेकेलिये ईश्वर रूप चेतनकी प्रेरणा माननेकी कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि सभी जीव चेतन हैं—वे जैसे कर्म करते हैं उनके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्मके फलकी इच्छा न रहनेपर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फलको न चाहना दूसरी बात है। केवल चाहना न होनेहीसे किये कर्मका फल मिलनेसे रुक नहीं सकता। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूपमें खड़ा है, गर्म चीज़ खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे सो क्या प्यास रुक सकती है।

३—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है; फिर उनमें अन्तर ही क्या? हाँ, अन्तर इतना हो सकता है कि जीवकी सभी शक्तियाँ आवरणों (कर्म पुद्गलों) से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणोंको हटा देता है,

उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ परिपूर्ण रूपमें प्रकाशित हो जाती हैं, फिर जीव और ईश्वरमें विषमता किस बातकी ? इस कारण कर्मवादके अनुसार यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं।

'कर्म' शब्दका अर्थ

कर्मशास्त्र जाननेकी चाह रखनेवालोंको आवश्यक है कि वे 'कर्म' शब्दका अर्थ, भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें प्रयोग किये गये उसके पर्याय शब्द, कर्मका स्वरूप, आदिसे परिचित हो जायँ।

'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनोंमें प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते हैं। साधारण लोग अपने व्यवहारमें काम, धन्धे या व्यवसायके मतलबमें कर्म शब्दका प्रयोग करते हैं। शास्त्रमें उसकी एक गति नहीं है। खाना, पीना, चलना, काँपना आदि किसी भी हलचलके लिये, चाहे वह जीवकी हो या जड़की—कर्म शब्दका प्रयोग किया जाता है। कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ, योग आदि क्रिया-कलाप अर्थमें; पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओंके अर्थमें; नैय्यायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मोंमें कर्म शब्दका व्यवहार करते हैं। परन्तु जैन-शास्त्रमें कर्म शब्दसे दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय—'भावकर्म' कहते हैं और दूसरा कार्मण जातिके पुद्‌गल-

विशेष, जो कषायके निमित्तसे आत्माके साथ चिपके हुए होते हैं, वह 'द्रव्यकर्म' कहलाता है।

जैनदर्शनमें जिस धर्मकेलिये कर्म शब्द इस्तैमाल होता है, उस अर्थके अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थकेलिये जैनेतर दर्शनोंमें ये शब्द मिलते हैं—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं, उनको पुनर्जन्मकी सिद्धि—उपपत्तिकेलिये कर्म मानना ही पड़ता है।

कर्मका स्वरूप

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणोंसे जीवके द्वारा जो किया जाता है, वही 'कर्म' कहलाता है। कर्मका पहिला लक्षण उपर्युक्त भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनोंमें घटित होता है। क्योंकि भावकर्म आत्माका—जीवका—वैभाविक परिणाम है। इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता जीव ही है, और द्रव्यकर्म जो कि कार्मण जातिके सूक्ष्म पुद्गलोंका विकार है, उसका भी कर्त्ता निमित्त रूपसे जीव ही है। भावकर्मके होनेमें द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्ममें भावकर्म निमित्त है। इस प्रकार उन दोनोंमें आपसमें बीज-अङ्कुरकी तरह कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है।

कर्म स्वयं जड़ पदार्थ है। 'कर्मपुद्गल' उसको कहते हैं, जिनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हों और पृथ्वी, पानी, अग्नि

और वायुके पुद्गलसे बने हों। जो पुद्गल कर्म बनते हैं, वे एक प्रकारकी अत्यन्त सूक्ष्म रज हैं अथवा धूलि हैं, जिसको इन्द्रियाँ यंत्रकी मददसे भी नहीं जान सकतीं या देख सकतीं। सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम अवधिज्ञानवाले योगी ही इस रजको देख सकते हैं। जीवके द्वारा जब वह रज ग्रहण की जाती है, तब उसे 'कर्म' कहते हैं।

जिस प्रकार चिकने घड़ेपर वायु चलनेसे धूलिके छोटे छोटे अणु लग जाते हैं, उसी प्रकार जब कोई भी जीव किसी प्रकारकी क्रिया, चाहे वह मनसे हो या वचनसे हो या कायसे हो, करता है, तब जिस आकाशमें आत्माके प्रदेश हैं, वहींके अनन्त-अनन्त कर्मयोग्य पुद्गल परमाणु, जीवके एक-एक प्रदेशके साथ बँध जाते हैं। जिस प्रकार दूध और पानीका, तथा आगका और लोहेके गोलेका सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्मपुद्गलोंका सम्बन्ध होता है।

कर्म और जीवका अनादिकालसे सम्बन्ध चला आरहा है। पुराने कर्म अपना फल देकर आत्म-प्रदेशोंसे जुदा होजाते हैं और नये कर्म प्रतिसमय बँधते हैं।

कर्म और जीवका अनादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त दो प्रकार का सम्बन्ध है। जो जीव मोक्ष पा चुके या पावेंगे उनका कर्मके साथ अनादि-सान्त सम्बन्ध है और जिन जीवोंको कभी मोक्ष न होगी उनका कर्मके साथ अनादि-अनन्त सम्बन्ध है। जिन जीवों

में मोक्ष पानेकी योग्यता है उन्हें 'भव्य' और जिनमें योग्यता नहीं है उन्हें 'अभव्य' कहते हैं। जीवका कर्मके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध होनेपर भी जब जन्म-मरणरूप संसारसे छूटनेका समय आता है तब जीवको विवेक उत्पन्न होता है अर्थात् आत्मा और जड़की बुराई मालूम होजाती है। तप-ज्ञान-रूप अग्निके बलसे वह सम्पूर्ण कर्म मलको जलाकर शुद्ध सुवर्णके समान निर्मल होजाता है। यही शुद्ध आत्मा ईश्वर है, परमात्मा है अथवा ब्रह्म है।

कर्म-शत्रुपर विजय

अनादिकालसे कर्म-शत्रु आत्माके साथ लगा हुआ है। जब तक आत्माका छुटकारा इससे नहीं होगा, उस समय तक यह आत्मा आवागमन अर्थात् चौरासी लाख जीव-योनिके चक्करसे कभी मुक्ति नहीं पा सकता। अगर कोई पुरुषार्थी और चतुर राजा अपने शत्रुपर विजय करना चाहता है तो पेश्तर इसके कि वह उसपर चढ़ाई करे, यह निहायत ज़रूरी है कि वह उसकी तमाम शक्तियोंका अर्थात् फ़ौज, पलटन, अस्त्र, शस्त्र, मोर्चे, गढ़ आदि और तमाम रास्ते तथा उसकी स्थितिका पूरा-पूरा अध्ययन कर ले और उसके बाद उसका मुक़ाबिला करनेकेलिये जब सारे ज़रूरी सामान इकट्ठे होजायँ, उस समय पराक्रम और हिम्मतके साथ चढ़ाई करे। परिणाम यह होगा कि वह अवश्य कामयाब अर्थात् विजयी होगा। ठीक इसी

प्रकार अगर एक पुरुषार्थी और ज्ञानी आत्मा कर्मरूपी शत्रुको विजय करना चाहता है तो उसको अपने कर्मरूपी शत्रुके बारेमें पूरा-पूरा अध्ययन कर लेना चाहिये ताकि वह आसानीसे जीता जा सके और मुक्तिरूपी राज्य विजय किया जा सके।

प्रश्न यह उठता है कि कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक शुभ कर्म और दूसरा अशुभ कर्म। शुभ कर्म करनेसे आत्माको आनन्द व सुखकी प्राप्ति होती है और अशुभ कर्म करनेसे आत्माको दुःख व तकलीफ़ मिलती है। तब किस प्रकार शास्त्रकार शुभ और अशुभ, दोनों प्रकारके कर्मोंको छोड़नेको कहते हैं, जब कि शुभ कर्मसे सुख व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

इसका मतलब यह है कि शुभ कर्मों द्वारा जो आनन्द व सुख मिलते हैं, वे असार व क्षणिक हैं। कोई यह कहेगा कि वे क्षणिक कैसे हैं, जब कि शुभ कर्म करनेवाली आत्मा देवगतिको प्राप्तकर सागरोंकी आयु व अनेक आनन्द व सुखकारी ऋद्धि व सिद्धि भोगती है ? यह बात बिलकुल यथार्थ है, पर इस न्यायसे विचारना चाहिये कि एक समय नहीं, दस समय नहीं, हज़ार समय नहीं, बल्कि असंख्यात समय यह आत्मा देवगतिके आनन्द व सुखोंको भोग आया है, पर आज तक इसकी गरज़ नहीं सरी है अर्थात् परम आनन्द पदको प्राप्त नहीं हुआ है। इस ख़्यालसे यह सारे सुख व आनन्द क्षणिक हैं। संसारके सारे आनन्द व सुख किम्पाक फलके समान हैं, जो देखने और खानेमें बड़ा सुन्दर

और स्वादिष्ट लगता है, पर खानेके बाद प्राणी कालको प्राप्त होजाता है; इसी प्रकार यह शुभ कर्म आनन्द और सुख देनेवाला है, पर इसका परिणाम बुरा होता है। इस कारण यह शुभ कर्म भी त्यागने योग्य है।

कर्म-शत्रुकी प्रबलता

कर्म बड़े-बड़े और महान-महान् आत्माको, जैसे—ऋषि, मुनि और त्यागियोंको, यहाँ तक कि जो आत्मा अरिहन्त होनेको जा रही है उनको और सांसारिक बड़े-बड़े पुरुष जैसे चक्रवर्ती, बलदेव वा वासुदेवको कष्ट, दुःख व सन्ताप देनेमें नहीं चूकता है तो हम साधारण पुरुषोंकी तो क्या चलाई। कर्म किसीकी रियायत नहीं करता, चाहे वह महान् पुरुष हो या कोई छोटा जीव हो। हाँ, यह बात अवश्य है कि कर्मोंका चूर्ण अथवा नाश किया जा सकता है। जिस प्रकार कर्म अपने कर्त्तव्यमें नहीं चूकते, उसी प्रकार त्यागी, पुरुषार्थी और महान् आत्मा इसको चूर-चूर अथवा नष्ट करनेमें नहीं चूकते।

कर्मोंसे छूटनेका मुख्य गुरु

१—पहिले बुरे, नीच और त्याज्य कर्मोंका करना छोड़ दो ताकि अशुभ यानी पाप कर्मका बन्ध न हो।

२—बँधे हुये कर्मोंका नाश ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपस्या आदि विधियोंसे कर दो अर्थात् जला दो।

३—प्रारब्ध अर्थात् निःकाङ्क्षित कर्मोंको भोगकर क्षीण कर दो। ऐसा करनेसे आत्मा कर्मोंसे अवश्य मुक्त हो जायगी अर्थात् सिद्धगतिको प्राप्त कर लेगी।

जैनदर्शनमें कर्म-बन्धके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार कारण बतलाये हैं और कहीं कहीं संक्षेपमें कषाय योग भी मिलते हैं, अगर और अधिक संक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्मबन्धका कारण है, पर उन सबको संक्षेपमें वर्गीकरण करके आध्यात्मक विद्वानोंने उसके राग-द्वेष सिर्फ दो ही भेद किये हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही प्रवृत्तिसे अपने किये हुए जालेमें फँसती है, उसी प्रकार जीव भी अपनी बेसमझी आदि चतुराईसे अपने पैदा किये हुये कर्मजाल में फँसता है।

कर्मोंके विषयमें विशेष ज्ञान

वैसे तो कर्मकी मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ और उनकी वर्गणाओंके पचास नहीं, सौ नहीं, हजार नहीं, लाख नहीं, बल्कि असंख्याते भेदानुभेद हैं। पर ज्ञानी पुरुषोंने साधारण जनसमुदाय को समझानेके हेतु कर्मको आठ मूल प्रकृतियों और १५८ उत्तर प्रकृतियोंमें बाँट दिया है यानी यों कहना चाहिये कि अपने ज्ञान-बलद्वारा समुद्रके समान ज्ञानको एक लोटेके रूपमें समावेश कर दिया है।

जीवका ज्ञानवान् होना, मूर्ख होना, नेत्र सहित होना, अन्धा होना, धनी होना, निर्धन होना, पुत्रवान् होना, पुत्रहीन होना, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी होना, शान्ति-स्वभावी, सरलस्वभावी, अहंकार रहित होना और निर्लोभी होना, स्त्री होना, पुरुष होना, या नपुंसक होना, पशु होना या मनुष्य होना, नेरिया या देवता होना, कम आयु पाना या ज्यादा आयु पाना या होते ही मर जाना, सुरूप या कुरूप होना, कमजोर या बलवान् होना, निरोगी या रोगी होना, सुखी या दुःखी होना, सुडौल या बेडौल शरीरी होना, मुख्तलिफ रंगका होना, मुख्तलिफ रसका होना, हलका होना, भारी होना, ठंढा या गरम होना, सूक्ष्म या बादर शरीरी होना, सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी होना, दानी होना, या लोभी होना, भोग उपभोग होते हुए न भोग सकना, इत्यादि-इत्यादि बातें जो जीव-मात्रमें पाई जाती हैं, वे सब उसके शुभ व अशुभ कर्मोंका फलरूप हैं। जैसे-जैसे जीव-कर्मका बन्ध करता है, वैसे-ही-वैसे उसके फल मिलते हैं अर्थात् जैसा बीज मनुष्य बोवेगा, वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

अब कर्मकी मूल प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके बारेमें वर्णन किया जाता है।

कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:—

(क)—ज्ञानावरणीय, (ख)—दर्शनावरणीय, (ग)—वेदनीय, (घ)—मोहनीय, (ङ)—आयु, (च)—नाम, (छ)—गोत्र और (ज)—अन्तराय।

क—ज्ञानावरणीय—ज्ञान + आवरण = जो कर्म ज्ञान गुण पर पर्दा गेरे अर्थात् आत्माके ज्ञानगुणोंको आच्छादित करे—ढके, उसे 'ज्ञानावरणीय कर्म' कहते हैं।

ख—दर्शनावरणीय—दर्शन + आवरण = जो कर्म देखनेपर पर्दा गेरे अर्थात् जो कर्म दर्शन गुणको आच्छादित करे—ढके, उसे 'दर्शनावरणीय कर्म' कहते हैं।

ग—वेदनीय—जो कर्म आत्माको सुख-दुःख पहुँचावे, वह 'वेदनीय कर्म' कहा जाता है।

घ—मोहनीय—जो कर्म स्व-पर-विवेकमें तथा स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाता है, वह 'मोहनीय कर्म' कहा जाता है।

ङ—आयु—जिस कर्मके अस्तित्वमें (रहनेसे) प्राणी जीता है तथा खतम होनेसे मरता है, उसे 'आयुः कर्म' कहते हैं।

च—नाम—जिस कर्मके उदयसे जीव नरक, तिर्यञ्च आदि नामोंसे सम्बोधित होता है, जैसे—अमुक मनुष्य है, अमुक देवता है, उसे 'नाम कर्म' कहते हैं।

छ—गोत्र—जो कर्म आत्माको उच्च तथा नीच कुलमें जन्मावे, उसे 'गोत्र कर्म' कहते हैं।

ज—अन्तराय—जो कर्म आत्माके वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियोंका घात करता है, उसे 'अन्तराय कर्म' कहते हैं।

अब उक्त आठ कर्मोंकी उत्तर-प्रकृतियोंका वर्णन किया जाता है:--

ज्ञानावरणीयकी ५, दर्शनावरणीयकी ६, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २८, आयुकी ४, नामकी १०३, गोत्रकी २ और अन्तरायकी ५—इस प्रकार कुल उत्तर-प्रकृतियाँ १५८ होती हैं, जिनका वर्णन निम्नलिखित है:—

क—ज्ञानावरणीय:—

ज्ञानावरणीयकी उत्तर-प्रकृतियोंको समझनेकेलिये ज्ञानके भेद समझनेसे उनके आवरण सरलतासे समझमें आजायँगे। ज्ञानके मुख्य भेद पाँच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान और केवलज्ञान। इन पाँचोंके अवान्तर-भेद अर्थात् उत्तर-भेद हैं:—

मतिज्ञानके २८, श्रुतज्ञानके १४ अथवा २०, अवधिज्ञानके ६, मनःपर्यायज्ञानके २ और केवलज्ञान सिर्फ १ प्रकारका है। इन सबके भेदोंको मिलानेसे पाँच ज्ञानके ५१ भेद होते हैं और ५७ भेद भी होते हैं।

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं।

श्रुतज्ञान—शास्त्रोंके बाँचने तथा सुननेसे जो अर्थज्ञान होता है, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय तथा मनकी सहायताके बिना मर्यादा-को लिये हुये रूपवाले द्रव्यका जो ज्ञान होता है, उसे 'अवधिज्ञान' कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञान—इन्द्रिय और मनकी मददके बिना मर्यादा-को लिये हुये संज्ञी (जिनके मन होता है)के मनोगत भावों अर्थात् मनकी बातोंको जाननेको 'मनःपर्यायज्ञान' कहते हैं।

केवलज्ञान—संसारके भूत, भविष्य और वर्तमान कालके सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् (एक साथ) जानना 'केवलज्ञान' कहलाता है।

पहिले दो ज्ञानोंमें इन्द्रियों और मनकी सहायता लेनी पड़ती है। किन्तु अन्तके तीन ज्ञानोंमें इन्द्रिय और मनकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मको 'ज्ञानावरण' अथवा 'ज्ञानावरणीय' कहते हैं। जिस प्रकार आँखपर पतले या मोटे कपड़े की पट्टी लपेटनेसे वस्तुओंके देखनेमें कम और ज्यादा रुकावट होती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण-कर्मके प्रभावसे आत्माको पदार्थोंके जाननेमें रुकावट पहुँचती है, किन्तु ऐसी रुकावट नहीं होती, जिससे आत्माको किसी प्रकारका ज्ञान ही न हो। जैसे सूर्य्य चाहे-जैसे घने बादलोंसे क्यों न घिर जाय तो भी उसका कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य ही रहता है। जिससे दिन-रातमें भेद समझा

जाता है। इसी प्रकार कर्मोंका चाहे-जैसा गाढ़ आवरण क्यों न हो, आत्माको कुछ-न-कुछ ज्ञान होता ही रहता है।

मतिज्ञानावरणीय—भिन्न २ प्रकारके मतिज्ञानोंको आवरण करनेवाले, भिन्न २ कर्मोंको 'मतिज्ञानावरणीय' कहते हैं। मति-ज्ञानके २८ भेद कहे हैं, पर दूसरी अपेक्षासे ३४० भेद होते हैं। उन सबोंके आवरण करनेवाले कर्म जुदा २ होते हैं। उन सब आव-रण करनेवालोंको 'मतिज्ञानावरणीय' कर्म कहते हैं।

श्रुतज्ञानावरणीय—श्रुतज्ञानके १४ अथवा २० भेद कहे गये हैं, उनके आवरण करनेवाले कर्मोंको 'श्रुतज्ञानावरणीय' कर्म कहते हैं।

अवधिज्ञानावरणीय—अवधिज्ञानके ६ भेद कहे गये हैं, उनके आवरण करनेवाले कर्मोंको 'अवधिज्ञानावरणीय' कर्म कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञानावरणीय—मनःपर्यायज्ञानके २ भेद कहे हैं, उनके आवरण करनेवाले कर्मोंको 'मनःपर्यायज्ञानावरणीय' कर्म कहते हैं।

केवलज्ञानावरणीय—केवलज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मों को 'केवलज्ञानावरणीय' कर्म कहते हैं।

ख—दर्शनावरणीय कर्मः—

चक्षुर्दर्शनावरणीय—आँखके द्वारा जो पदार्थोंका सामान्य धर्म-ग्रहण होता है, उसे 'चक्षुर्दर्शन' कहते हैं; उस सामान्य ग्रहणको रोकनेवाले कर्मको 'चक्षुर्दर्शनावरणीय' कर्म कहते हैं।

अचक्षुर्दर्शनावरणीय—आँखको छोड़कर त्वचा, जीभ, नाक, कान और मनसे जो पदार्थोंके सामान्य-धर्मका प्रतिभास होता है, उसे 'अचक्षुर्दर्शन' कहते हैं, उसके आवरणको 'अचक्षुर्दर्शनावरणीय' कर्म कहते हैं।

अवधिदर्शनावरणीय—इन्द्रियों और मनकी सहायताके बिना ही आत्माको रूपीद्रव्यके सामान्य-धर्मका जो बोध होता है, उसे 'अवधिदर्शन' कहते हैं; उसका आवरण 'अवधिदर्शनावरणीय' कर्म कहाता है।

केवलदर्शन—संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका जो सामान्य अवबोध होता है, उसे 'केवलदर्शन' कहते हैं; उसका आवरण 'केवलदर्शनावरणीय कर्म' कहाता है।

निद्रा—कोई-कोई सोया हुआ जीव थोड़ी-सी आवाज़ या पैछरसे जाग जाता है। जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उस कर्मको 'निद्रा कर्म' कहते हैं।

निद्रा-निद्रा—कोई-कोई सोया हुआ जीव बड़े ज़ोरसे चिल्लाने या हाथसे ज़ोर-ज़ोरसे हिलानेपर उठता है। जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उसे 'निद्रा-निद्रा कर्म' कहते हैं।

प्रचला—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे किसी-किसी जीवको नींद आती है, उसको 'प्रचला' कहते हैं; जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उस कर्मको 'प्रचला कर्म' कहते हैं।

प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जिस जीवको नींद आती है, उसकी नींदको प्रचला-प्रचला कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उस कर्मको 'प्रचला-प्रचला कर्म' कहते हैं।

सत्यानगृद्धि—जो जीव दिनमें अथवा रातमें सोचे हुए कामको नींदकी अवस्थामें कर डालता है, उसकी इस नींदको सत्यानगृद्धि कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है, उस कर्मको 'सत्यानगृद्धि' कर्म कहते हैं।

ऋषभ-नाराचसंहननवाले जीवको जब इस सत्यानगृद्धि कर्मका उदय होता है, तब उसे वासुदेवका आधा बल हो जाता है। यह जीव मरनेपर अवश्य नरक जाता है।

ग—वेदनीय कर्म:—

इस कर्मका स्वभाव तलवारकी शहद लगी हुई धाराको चाटनेके समान है। वेदनीय कर्मके दो भेद हैं :—

१—सातावेदनीय और २—असातावेदनीय।

१—तलवारकी धारपर लगे हुए शहदको चाटनेके समान सातावेदनीय है।

२—तलवारकी धारसे जीवके कटनेके समान असातावेदनीय है।

१—जिस कर्मके उदयसे आत्माको विषय सम्बन्धी सुखका अनुभव होता है, उसे 'सातावेदनीय कर्म' कहते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे आत्माको अनुकूल विषयोंकी अप्राप्तिसे अथवा प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्तिसे दुःखका अनुभव होता है, उसे 'असातावेदनीय कर्म' कहते हैं।

आत्माको जो अपने स्वरूपके सुखका अनुभव होता है, वह किसी भी कर्मके उदयसे नहीं होता है।

घ—मोहनीय कर्म :—

चौथा कर्म मोहनीय है। इसका स्वभाव मद्यके समान है। जिस प्रकार मद्यके नशेमें मनुष्यको अपने हित-अहितकी पहिचान नहीं रहती, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माको अपने हित-अहितके पहिचाननेकी बुद्धि नहीं रहती।

मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय।

१—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है अर्थात् तत्त्वार्थकी श्रद्धाको 'दर्शन' कहते हैं। यह आत्माका गुण है। इसके घात करनेवाले कर्मको 'दर्शनमोहनीय कर्म' कहते हैं।

दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं:—

(१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिश्रमोहनीय और (३) मिथ्यात्वमोहनीय।

१—जिस कर्मके उदयसे जीवको जीव आदि नव तत्त्वोंपर श्रद्धा होती है, उसे 'सम्यक्मोहनीय' कहते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे अर्द्ध शुद्ध और अर्द्ध अशुद्ध सम्यक्त्व होता है, उसे 'मिश्रमोहनीय कर्म' कहते हैं।

३—जिस कर्मके उदयसे जीवकी हितमें अहित बुद्धि और अहितमें हित बुद्धि होती है अर्थात् अहितको हित और हितको अहित समझता है, उसे 'मिथ्यात्वमोहनीय कर्म' कहते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे आत्मा अपने असली स्वरूपको पाता है, उसे 'चारित्रमोहनीय कर्म' कहते हैं।

चारित्रमोहनीय कर्मके दो भेद होते हैं। १—कषायमोहनीय, २—नोकषायमोहनीय। कषायमोहनीयके १६ भेद हैं और नोकषायमोहनीयके ६ भेद हैं। कषायका अर्थ है—जन्म-मरणरूप संसार, उसकी प्राप्ति जिससे हो, उसे 'कषाय' कहते हैं।

कषायमोहनीयके १६ भेद निम्न प्रकार होते हैं:—

१—जिस कषायसे जीव अनन्तकाल संसारमें भ्रमण करता है, उस कषायको 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहते हैं। जिस प्रकार पर्वत फटनेपर नहीं मिलता, उसी प्रकारसे यह कषाय किसी भी उपायसे शान्त नहीं होती।

२—जिस कषायके उदयसे श्रावक-धर्मकी प्राप्ति नहीं होती है, उसे 'अप्रत्याख्यानावरण कषाय' कहते हैं। जिस प्रकार सूखे तालाबमें मिट्टीके फट जानेपर दरारें हो जाती हैं। वे वर्षा होनेसे मिलती हैं, उसी प्रकार यह कषाय विशेष परिभ्रमणसे शान्त होती है।

३—जिस कषायके उदयसे मुनि-धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, उसे 'प्रत्याख्यानावरण कषाय' कहते हैं। जिस प्रकारसे धूलमें लकीर खींचनेपर कुछ समयमें हवा चलनेपर मिट जाती है, उसी प्रकार यह कषाय कुछ उपायसे शान्त हो जाती है।

४—जो कषाय परिषह तथा उपसर्गोंके आ जानेपर मुनियोंको भी थोड़ासा चलायमान कर देती है अर्थात् उनपर भी थोड़ासा असर जमाती है, उसे 'संज्वलन कषाय' कहते हैं। जिस प्रकारसे पानीमें लकीर खींचनेसे वह फ़ौरन मिट जाती है, उसी प्रकार यह कषाय शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

कषाय चार प्रकारके हैं:—क्रोध, मान, माया और लोभ।

प्रत्येक कषाय ऊपर वर्णन किये चार-चार प्रकारके होते हैं। इस प्रकार चारको चारसे गुणा करनेसे कषायके १६ भेद होते हैं।

(२) नोकषाय मोहनीयके नौ भेद इस प्रकार होते हैं:—

१—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अर्थात् भाँड़ आदिकी चेष्टाको देखकर अथवा बिना कारण हँसी आती है, वह 'हास्य-मोहनीय कर्म' कहलाता है।

२—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थोंमें अनुराग हो-प्रेम हो, वह 'रतिमोहनीय कर्म' कहलाता है।

३—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थोंसे अप्रीति हो, वह 'अरतिमोहनीय कर्म' कहलाता है।

४—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा विना कारण शोक हो, वह 'शोकमोहनीय' कहलाता है।

५—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा बिना कारण भय हो, वह 'भय-मोहनीय कर्म' कहलाता है।

भय सात प्रकारका होता है:—

इहलोक-भय, परलोक-भय, आदान-भय, अकस्मात्-भय, आजीविका-भय, मृत्यु-भय और अपयश-भय।

६—जिस कर्मके उदयसे कारण अथवा विना कारण मांस, शराब आदि बुरे पदार्थोंको देखकर घृणा पैदा होती है, वह 'जुगुप्सामोहनीय कर्म' कहलाता है।

७—जिस कर्मके उदयसे स्त्रीको पुरुषके साथ भोग करनेकी इच्छा होती है, वह 'स्त्रीवेद कर्म' कहलाता है।

८—जिस कर्मके उदयसे पुरुषको स्त्रीके साथ भोग करनेकी इच्छा होती है, वह 'पुरुषवेद कर्म' कहलाता है।

९—जिस कर्मके उदयसे स्त्री-पुरुष दोनोंके साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह 'नपुंसक कर्म' कहलाता है।

ङ—आयुकर्म:—

जिस कर्मके अस्तित्वसे प्राणी जीता है और क्षयसे मृत्युको प्राप्त होता है, उसे 'आयुकर्म' कहते हैं।

आयुकर्म दो प्रकारका होता है। १—अपवर्त्तनीय, २—अनपवर्त्तनीय।

१—बाह्य निमित्तोंसे जो आयु कम हो जाती है, उस आयुको 'अपवर्त्तनीय' अथवा 'अपवर्त्य' आयु कहते हैं। जैसे जलमें डूबकर मरना, आगमें जलकर मरना, ज़हर खाकर मरना या शस्त्रकी चोटसे मरना आदि।

२—जो आयु किसी भी कारणसे कम न हो सके अर्थात् जितने काल तककी पहिले बँध गई है उतने काल तक भोगी जावे, उस आयुको 'अनपवर्त्य आयु' कहते हैं।

च—नामकर्मः—

नामकर्म चित्रकारके समान है। जैसे चित्रकार नाना भाँतिके मनुष्य, हाथी, घोड़े आदिको चित्रित करता है, ऐसे ही नामकर्म नाना भाँतिके देव, मनुष्य, नारकोंकी रचना करता है।

नामकर्मकी संख्या कई अपेक्षासे है—किसीसे ४२, किसीसे ९३, किसीसे १०३ और किसीसे ६३ भेद होते हैं।

नामकर्मकी पिण्डप्रकृतियोंके मुख्य चौदह भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१-गतिनाम, २-जातिनाम, ३-तनुनाम, ४-अङ्गोपाङ्गनाम, ५-बन्धनाम, ६-सङ्घातनाम, ७-संहनननाम, ८-संस्थाननाम, ९-वर्णनाम, १०-गन्धनाम, ११-रसनाम, १२-स्पर्शनाम, १३-आनुपूर्वीनाम और १४-विहायोगति नाम।

१—जिस कर्मके उदयसे जीव नरक, देव आदि अवस्थाओंको प्राप्त करता है, उसे 'गतिनाम कर्म' कहते हैं। इसके चार भेद हैं—

मनुष्यगति नाम, तिर्यञ्चगति नाम, नरकगति नाम और देवगति नाम।

२—जिस कर्मके उदयसे जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहा जाता है, उसे 'जातिनाम कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं:—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जाति नाम कर्म।

३—जिस कर्मके उदयसे जीवको औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरकी प्राप्ति होती है, उसे 'तनुनाम कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं:—औदारिकशरीर नाम, वैक्रियशरीर नाम, आहारिक शरीर नाम, तैजसशरीर नाम और कार्मणशरीर नाम।

४—जिस कर्मके उदयसे जीवके अङ्ग (सिर, पैर आदि) और उपाङ्ग (अँगुली, कपाल आदि) के आकारमें पुद्गलोंका परिणमन होता है, उसे 'अङ्गोपाङ्गनाम कर्म' कहते हैं। इस कर्मके तीन भेद हैं:—औदारिक अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग, और आहारिक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म।

५—जिस कर्मके उदयसे प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक आदि शरीर पुद्गलोंके साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलोंका आपसमें सम्बन्ध हो, उसे 'बन्धन नामकर्म' कहते हैं। इसके १५ भेद होते हैं:—औदारिक-औदारिक बन्धन, औदारिक-तैजस बन्धन, औदारिक-कार्मण बन्धन, औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन, वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, वैक्रिय-तैजस बन्धन, वैक्रिय-कार्मण

बन्धन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन, आहारिक-आहारिक बन्धन, आहारिक-तैजस-बन्धन, आहारिक-कार्मण बन्धन, आहारिक-तैजस-कार्मण बन्धन, तैजस-तैजस बन्धन, तैजस-कार्मण बन्धन, और कार्मण कार्मण बन्धन नामकर्म।

६—जिस कर्मके उदयसे शरीर योग्य पुद्गल प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलोंपर व्यवस्थित रूपसे स्थापित किये जाते हैं। उसे 'सङ्घातनाम कर्म' कहते हैं, इसके पाँच भेद होते हैं:—औदारिक संघातनाम, वैक्रिय संघातनाम, आहारिक संघातनाम, तैजस संघातनाम और कार्मण संघातनाम कर्म।

७—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें हाड़ोंकी सन्धियाँ—जोड़ जुड़े होते हैं (जैसे लोहेकी पट्टियोंसे किवाड़ मजबूत किये जाते हैं) उसे 'संहनननाम कर्म' कहते हैं। इसके छह भेद होते हैं:—वज्र-ऋषभनाराच संहनन, ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलक संहनन और सेवार्त संहनन नाम कर्म।

८—जिस कर्मके उदयसे शरीरके जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार होते है, उसे 'स्थाननाम कर्म' कहते हैं। इसके ६ भेद होते हैं:—समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध संस्थान, सादि संस्थान, वामन-संस्थान, कुब्ज संस्थान और हुण्ड संस्थान नाम कर्म।

९—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें कृष्ण, गौर आदि रङ्ग होते हैं, उसे 'वर्णनाम कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद होते हैं:—

कृष्णवर्ण नाम, नीलवर्ण नाम, लोहितवर्ण नाम, हरिद्रवर्ण नाम और श्वेतवर्णनाम कर्म।

१०—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें अच्छी या बुरी गन्ध हो, उसे 'गन्धनाम कर्म' कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं:—सुरभि-गन्ध नाम और दुरभिगन्धनाम कर्म।

११—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें खट्टा-मीठा आदि रसोंकी उत्पत्ति होती है, उसे 'रसनाम कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद होते हैं:—तिक्तरस, कटुरस, कषायरस, अम्लरस और मधुररस नाम कर्म।

१२—जिस कर्मके उदयसे शरीरमें कोमल, रूक्ष आदि स्पर्श हो, उसे 'स्पर्शनाम कर्म' कहते हैं इसके आठ भेद होते हैं:—कर्कशस्पर्श, मृदुस्पर्श, गुरुस्पर्श, लघुस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, स्निग्धस्पर्श और रूक्षस्पर्श नाम कर्म।

१३—जिस कर्मके उदयसे जीव विग्रहगतिमें अपने उत्पत्ति स्थानपर पहुँचता है, उसे 'आनुपूर्वीनाम कर्म' कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं:—नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी नाम कर्म।

१४—जिस कर्मके उदयसे जीवकी चाल (चलना) शुभ अथवा अशुभ होती है, उसे 'विहायोगति नामकर्म' कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं:—शुभविहायोगति और अशुभ विहायोगति नाम कर्म।

इनके अलावा इस कर्मकी २८ प्रकृतियाँ और भी हैं। वे इस प्रकार हैं:—

परघातनाम कर्म, उच्छ्वासनाम कर्म, आतापनाम कर्म, उद्योतनाम कर्म, अगुरुलघुनाम कर्म, तीर्थङ्करनाम कर्म, निर्माण-नाम कर्म, उपघातनाम कर्म, त्रसदशककी जितनी प्रकृतियाँ हैं, उनकी विरोधनी स्थावर-दशककी दस प्रकृतियाँ हैं। उनके नाम इस भाँति हैं:—त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम, सुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम और यशःकीर्तिनाम; स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारण-नाम, अस्थिरनाम; अशुभनाम, दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेय-नाम, अयशःकीर्तिनाम इस प्रकार नामकी १०३ प्रकृतियाँ होती हैं।

छ—गोत्र कर्म।

यह कर्म कुँभारके सदृश है। कुँभार अनेक प्रकारके घड़े बर्तन आदि बनाता है। जिनमेंसे कुछ तो ऐसे होते हैं जिनको लोग कलश बनाकर अक्षत चन्दनसे पूजते हैं और कुछ घड़े ऐसे होते हैं जो मद्य रखनेके काममें आते हैं। अतएव वे निन्द्य समझे जाते हैं। इसी प्रकार यह गोत्र कर्म है। जिसके उदयसे जीव नीच अथवा ऊँच कुलमें जन्म लेते हैं।

इस कर्मके दो भेद होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—१—उच्च-गोत्र और २—नीचगोत्र।

१—जिस कर्मके उदयसे जीव उत्तम कुलमें जन्म लेता है, उसे 'उच्चगोत्र कर्म' कहते हैं।

२—जिस कर्मके उदयसे जीव नीच कुलमें जन्म लेता है, उसे 'नीचगोत्र कर्म' कहते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उच्च और नीच कुल किसको कहना चाहिये।

जो कुल धर्म और नीतिकी रक्षासे सम्बन्ध रखता है, वह 'उच्चकुल' है। जो कुल अधर्म और अनीतिसे सम्बन्ध रखता है, वह 'नीचकुल' है।

ज—अन्तराय कर्म।

इसका दूसरा नाम विघ्न कर्म है। इसके पाँच भेद हैं। जिस कर्मके उदयसे जीव धन, भोग, उपभोगका सामान होते हुए भी उन्हें नहीं भोग सकता है अर्थात् फायदा नहीं उठा सकता है; जैसे किसी व्यापारमें लाभ होते-होते नहीं होता है, शक्ति होते हुए किसी कार्यको नहीं कर सकता है; इस प्रकारके कर्मको 'अन्तराय कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद होते हैं:—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

१—जिसके उदयसे दानकी चीजें मौजूद हों, गुणवान् पात्र आया हो, दानका फल भी जानता हो तो भी दान करनेका उत्साह नहीं होता, उसे 'दानान्तराय कर्म' कहते हैं। यह दानीके वास्ते है।

२—दाता उदार हो, दानकी चीजें मौजूद हों, याचनामें कुशलता हो तो भी जिस कर्मके उदयसे लाभ न हो सके, वह 'लाभान्तराय कर्म' कहलाता है। यह याचना करनेवालेके वास्ते हैं।

३—भोगके सामान मौजूद हों, वैराग्य न हो, तो भी जिस कर्मके उदयसे जीव भोग्य चीजोंको न भोग सके, वह 'भोगान्तराय कर्म' कहलाता है।

४—उपभोगकी सामग्री मौजूद हो, विरति-रहित हो, तथापि जिस कर्मके उदयसे जीव उपभोग्य पदार्थोंका उपभोग न ले सके, वह 'उपभोगान्तराय कर्म' कहलाता है।

५—वीर्यका अर्थ है सामर्थ्य। बलवान् हो, रोग-रहित हो, युवा हो तथापि जिस कर्मके उदयसे जीव एक तृणको भी टेढ़ा न कर सके, उसे 'वीर्यान्तराय कर्म' कहते हैं।

वीर्यान्तराय कर्मके अवान्तर तीन भेद हैं:—

बाल-वीर्यान्तराय, पण्डित-वीर्यान्तराय और बाल-पण्डित वीर्यान्तराय।

बन्ध

बन्ध किसे कहते हैं ?

जीव कषायवश होकर कर्म-पुद्गलोंको ग्रहण करे तथा आत्माके प्रदेश और कर्मके पुद्गल एक साथ मिलें, जैसे—दूध और पानी तथा लोहेका गोला अग्निके पुद्गलोंके साथ सारभूत हो जाता है, उसे 'बन्ध' कहते हैं।

इन कर्म-वर्गोंमें बन्धके चार विशेषण होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

एक प्रकृतिबन्ध, जिसके अनुसार कर्म-वर्गोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। दूसरा प्रदेशबन्ध, जिसके अनुसार आत्म-प्रदेशोंमें कर्म-प्रदेशोंका सम्बन्ध होता है। तीसरा स्थिति-बन्ध, जिसके अनुसार कर्म-वर्गोंकी सत्ता या उदयकालका प्रमाण होता है। चौथा अनुभागबन्ध, जिसके अनुसार कर्म-वर्गोंमें फलदायक शक्ति उत्पन्न होती है।

प्रकृति और प्रदेश-बन्ध योगोंके अनुसार होते हैं और स्थिति और अनुभाग-बन्ध कषायोंके अनुसार होते हैं। जीवके भावोंकी हालत, योग और कषायोंका जैसा फल होता है, वैसी होती है।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश-बन्धका स्वरूप यों समझना चाहिये:—

वात-नाशक पदार्थोंसे—सोंठ, मिर्च, पीपल आदिसे बने हुये लड्डुओंका स्वभाव जिस प्रकार वायुके नाश करनेका है; पित्त-नाशक पदार्थोंसे बने हुये लड्डुओंका स्वभाव जिस प्रकार पित्तके दूर करनेका है; कफनाशक पदार्थोंसे बने हुये लड्डुओंका स्वभाव जिस प्रकार कफके नष्ट करनेका है; उसी प्रकार आत्माके द्वारा ग्रहण किये हुए कुछ कर्म-पुद्गलोंमें आत्माके ज्ञान-गुणके घात करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है; कुछ कर्म-पुद्गलोंमें आत्माके

दर्शन-गुणको ढक देनेकी शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्म-पुद्गलोंमें आत्माके आनन्द-गुणको छिपा देनेकी शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्म-पुद्गलोंमें आत्माकी अनन्त सामर्थ्यको दबा देनेकी शक्ति पैदा होती है। इस तरह भिन्न-भिन्न कर्म-पुद्गलोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रकृतियोंके अर्थात् शक्तियोंके बन्धको अर्थात् उत्पन्न होनेको 'प्रकृतिबन्ध' कहते हैं।

कुछ लड्डू एक सप्ताह तक रहते हैं, कुछ लड्डू एक मास तक, कुछ लड्डू एक महीने तक, इस तरह लड्डुओंकी जुदी-जुदी काल-मर्यादा होती है। काल-मर्यादाको स्थिति कहते हैं। स्थितिके पूर्ण होनेपर, लड्डू अपने स्वभावको छोड़ देते हैं अर्थात् बिगड़ जाते हैं। इसी प्रकार कर्म-दल आत्माके साथ सत्तर क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक; कोई कर्म-दल बीस क्रोडाक्रोडी सागरोपम तक; कोई कर्म-दल अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं। इस तरह जुदे-जुदे कर्म-दलोंमें जुदी-जुदी स्थितियोंका अर्थात् अपने स्वभावको त्याग न कर आत्माके साथ बने रहनेकी काल-मर्यादाओंका बन्ध अर्थात् उत्पन्न होना 'स्थितिबन्ध' कहलाता है। स्थितिके पूर्ण होनेपर कर्म-दल अपने स्वभावको छोड़ देते हैं अर्थात् आत्मासे जुदा हो जाते हैं।

कुछ लड्डुओंमें मधुर रस अधिक, कुछ लड्डुओंमें कम; कुछ लड्डुओंमें कटु रस अधिक, कुछ लड्डुओंमें कम; इस तरह मधुर-कटु आदि रसोंकी न्यूनाधिकता देखी जाती है। उसी

प्रकार कुछ कर्म-दलोंमें शुभरस अधिक, कुछ कर्म-दलोंमें कम; कुछ कर्म-दलोंमें अशुभरस अधिक, कुछ कर्म-दलोंमें कम; इस तरह विविध प्रकारके अर्थात् तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम, मन्द-मन्दतर-मन्दतम शुभ-अशुभ रसोंका कर्म-पुद्गलोंमें बन्धन अर्थात् उत्पन्न होना 'रसबन्ध' कहलाता है।

शुभ कर्मोंका रस ईख-द्राक्षादिके रसके सदृश मधुर होता है, जिसके अनुभवसे जीव ख़ुश होता है। अशुभ कर्मोंका रस नीव आदिके रसके सदृश कड़वा होता है, जिसके अनुभवसे जीव बुरी तरह घबड़ा उठता है। तीव्र-तीव्रतर आदिको समझनेकेलिये दृष्टान्तकी तौरपर ईख या नीवका चार-चार सेर रस लिया जाय। इस रसको स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आँचके द्वारा औटा कर चार सेरकी जगह तीन सेर रस बच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये, और औटानेसे दो सेर रस बच जाय तो तीव्रतर कहना चाहिये और और औटा कर एक सेर रस बच जाय तो तीव्रतम कहना चाहिये। ईख या नीवका एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय। उसमें एक सेर पानीके मिलानेसे मन्द-रस बन जायगा, दो सेर पानीके मिलानेसे मन्दतर-रस बन जायगा और तीन सेर पानीके मिलानेसे मन्दतम-रस बन जायगा।

निःकाङ्क्षित कर्म

साधारणतया—एक न्यायसे कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो तपस्याके बलसे अथवा संयमकी शक्तिसे जल जाते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकारके कर्म वे जिन्हें निःकाङ्क्षित कर्म कहते हैं। वे ऐसे होते हैं जिनका फल आत्माको भोगना ही पड़ता है; वे तपस्या वगैरहसे निवृत्त नहीं हो सकते।

कुछ लड्डुओंका परिमाण दो तोलेका, कुछ लड्डुओंका छटाँकका और कुछ लड्डुओंका परिमाण पावभरका होता है। उसी प्रकार कुछ कर्म-दलोंमें परमाणुओंकी संख्या अधिक और कुछ कर्म-दलोंमें कम; इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकारकी परमाणु-संख्याओंसे युक्त कर्म-दलोंका आत्मासे सम्बन्ध होना 'प्रदेश-बन्ध' कहलाता है। संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त परमाणुओंसे बने हुए स्कन्धको जीव ग्रहण नहीं करता, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंसे बने हुए स्कन्धोंको ग्रहण करता है।

निम्नलिखित कर्म करनेसे अमुक कर्मका बन्ध होता है:—

१—ज्ञानावरणीयकर्म-बन्धके कारण:—

मुनि, साधु अथवा ज्ञानियोंकी असातना करना—अपने गुरु आदि महान् पुरुषोंका उपकार न मानना—पुस्तकों व शास्त्रोंका अपमान तथा नाश करना—विद्यार्थियोंके विद्याभ्यास में विघ्न पहुँचाना अथवा बाधा गेरना—मुनिओं, साधुओं अथवा उच्च आत्माओंको कष्ट पहुँचाना; इत्यादि।

२—दर्शनावरणीयकर्म-बन्धके कारण:—

जो कुदेव, कुगुरु और कुधर्मकी प्रशंसा करे—धर्म-निमित्त हिंसा करे—अन्यायका पक्षपाती हो—कुशास्त्रकी प्रशंसा करे और

झूठे जाल रचे—साधु आदि तथा दर्शनके साधन इन्द्रियों को नष्ट करे—चिन्ता अधिक करे; इत्यादि।

३—वेदनीयकर्म-बन्धके कारण:—

(१) सातावेदनीय कर्म बन्धके कारण:—

माता, पिता, धर्माचार्य्य, वृद्ध आदिकी सेवा करना—अपने साथ हित करनेवालेके साथ उपकार करना—दीन, दुखियोंके दुःखको दूर करना—कषायोंपर विजय प्राप्त करना अर्थात् क्रोध, लोभ, मान और मायासे अपनी आत्माको बचाना—सुपात्रको आहार देना—रोगियोंकी औषधि तथा देख-भाल का प्रबन्ध करना—जीवोंको अभयदान देना—विद्यार्थियोंके वास्ते पढ़ने व खानेका प्रबन्ध करना—धर्ममें अपनी आत्माको स्थिर रखना—दान देना; आदि। इन कर्मोंका उलटा करनेसे जीव असातावेदनीय कर्म बाँधता है।

(२) इनके अलावा असातावेदनीय-कर्म-बन्धके कारण:—

जीवका घात करे—छेदन-भेदन आदि क्रिया करे—चुगली करे—जीवोंको दुःख व तक़लीफ़ दे—असत्य बोले—वैर विरोध करे—क्रोध-मान पैदा करे तथा झगड़े करे—परनिन्दा करे; इत्यादि।

४—मोहनीय-कर्म-बन्धके कारण:—

(१) दर्शनमोहनीय:—

मोक्षके मार्गका खण्डन करे—मिथ्यात्वके मार्गका समर्थन करे—नास्तिक धर्मका समर्थन करे—धर्मादेके द्रव्यका गबन करे—साधु मुनियोंकी निन्दा करे; इत्यादि।

(२) चारित्रमोहनीयः—

जिसका हास्य आदि क्रिया करनेका स्वभाव पड़ गया है—जो व्यभिचारी है—जो ईर्ष्या करता है—जो आरम्भ करता है—जिसके सदा बुरे परिणाम रहते हैं—जो शिकार खेलता है—मांस खाता तथा शराब पीता है—जिसका दिल सदा हिंसामें रहता है; इत्यादि।

५—आयु-कर्म-बन्धके कारणः—

(१) नरक-आयु-बन्धके कारणः—

जो षट् काय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों)की महाहिंसा करता है—पञ्चेन्द्रिय प्राणियोंका बध करता है—मांस खाता है—बराबर मैथुन सेवता है—विश्वासघात करता है—दूसरोंके धनको मारता है—जो रौद्र-परिणामी है; इत्यादि।

(२) तिर्यञ्च-आयु-बन्धके कारणः—

जो दूसरोंके साथ कपटका व्यवहार करता है—जो मुँहसे मीठी-मीठी बात करता है, पर दिलमें विष रखता है—झूठ जिसको जन्मसे ही प्यारा है—किसीको धोखा देना अथवा ठगना अपना

कर्तव्य समझता है—सदा बुरे विचार किया करता है; इत्यादि।

(३) मनुष्य-आयु-बन्धके कारण:—

जो विनयशील है—सदा कपटसे दूर रहता है—जो विचार व भाव उच्च रखता है—सादा जीवन व्यतीत करता है—जिसके रग-रगमें दयाका संचार है—जिसने ईर्ष्या और मानको त्याग दिया है—दान देनेमें जिसकी रुचि है—जो अल्प कषायवाला है; इत्यादि।

(४) देव-आयुके बन्धके कारण:—

जो अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यञ्च देशविरती अर्थात् श्रावकपना और सरागसंयमी साधुपना पालता है—बालतप अर्थात् आत्मस्वरूपको न जानकर अज्ञानपूर्वक तप आदि करता है—अकामनिर्जरा अर्थात् इच्छा न होते हुए जिसके कर्मकी निर्जरा होती है—भूख, प्यास, गर्मी आदिको सहन करता है; इत्यादि।

६—नामकर्म-बन्धके कारण—

(१) शुभनामकर्मके कारण:—

जो सरल अर्थात् मायारहित है—मन, वचन और काय का व्यापार जिसका एक-सा है—गौरवरहित अर्थात् धन-सम्पत्ति, महत्त्व, शील, सुन्दरता, नीरोगी कायका अभिमानरहित होता

है—सदा पाप कर्मोंसे डरता है—क्षमावन्त है—मार्दव आदि गुणोंसे युक्त है; इत्यादि।

(२) अशुभनामकर्मके कारण:—

जिसके मनमें कुछ है और ऊपर कुछ है—दूसरोंको ठगता है—धोखा देता है—झूठी गवाही देता है—घीमें चर्बी आदि वस्तु मिलाता है—दूधमें पानी या अच्छी वस्तुमें निबल वस्तु मिलाता है—अपनी प्रशंसा और दूसरोंकी निन्दा करता है—जो वेश्याओंको वस्त्र, अलंकार देनेवाला हो—धर्मादेके पैसेको खाने वाला या उसका दुरुपयोग करनेवाला हो।

उक्त कार्य करनेवाला जीव नरक व एकेन्द्रिय जाति पाता है और अपयश व अकीर्तिको प्राप्त करता है।

७—गोत्रकर्म-बन्धके कारण:—

(१) उच्चगोत्र-बन्धके कारण:—

जो किसी व्यक्तिमें दोषके रहते हुए भी उनके विषयमें उदासीन—सिर्फ गुणोंको ही देखनेवाला है—आठ प्रकारके मदोंसे रहित अर्थात् जातिमद, कुलमद, रूपमद, बलमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपोमद, इनसे रहित है—हमेशा पढ़ने-पढ़ानेमें जिसका अनुराग है—जिनेन्द्र भगवान्, सिद्ध, आचाय, उपाध्याय, साधु, माता-पिता तथा गुणवानोंकी भक्ति करता है; इत्यादि।

(२) नीचगोत्र-बन्धके कारण:—

उपरोक्त कार्योंसे उलटा करना।

८—अन्तरायकर्म-बन्धके कारण:—

जो जीव न्याय-पूर्वक धर्मको बुरा बताता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, रात्रि-भोजन करता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष-मार्गमें दोष दिखा कर भव्य जीवोंको मार्गसे च्युत करता है, दूसरोंके दान, लाभ, भोग, उपभोगमें अन्तराय पहुँचाता है, मन्त्र-तन्त्र आदि द्वारा दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है।

जन साधारणकी जानकारीके वास्ते कर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्नोंका उत्तर दिया जाता है:—

१—मनुष्य किन कर्मोंके फलसे पुत्रकी प्राप्ति नहीं कर पाता ?

उत्तर—पशु, पक्षी और मनुष्योंके अनाथ बच्चोंका घात करे—ज्यूँ, खटमल, मच्छर आदि को मारे—गाय, भैंस, आदिके बच्चोंको दूध न देकर ख़ुद पूरा दूध पीले—अनाथ बच्चोंका माता व पोषकोंसे बिछोआ करे; इत्यादि।

२—मनुष्य किन कर्मोंके उदयसे निर्धन होता है ?

उत्तर—चोरीसे, धोखेबाज़ीसे, ठगईसे, जुल्मसे, हिंसाकारी कुव्यवहारों द्वारा धन उपार्जन करनेसे, धनियोंसे द्वेष करनेसे, उनको निर्धन बनानेसे, साधु होकर धन रखनेसे, धरोहर—

धन-वस्तुको दबानेसे, किसीके माल व धनको जलमें डुबाने व अग्निमें जलानेसे; इत्यादि।

३—मनुष्य किन कर्मोंके कारण रोगी होता है?

उत्तर—रोगियोंको सन्ताप पहुँचानेसे, रोगियोंकी निन्दा व हँसी करनेसे, औषधि-दानका अन्तराय करनेसे, रोग तथा तकलीफ़ बढ़ानेका प्रयत्न करनेसे, साधुओं व मुनियोंके वस्त्रको मलीन देखकर घृणा करनेसे; इत्यादि।

४—मनुष्य किन कर्मोंके कारण पराधीन होता है?

उत्तर—जीवोंको बन्दीखानेमें डालनेसे, बहुत मेहनत कराकर थोड़ी मजदूरी देनेसे, कर्ज़दारोंको धोखा देकर उनसे धन वसूल करनेसे और उनकी बेइज्ज़ती करनेसे, नौकरोंको या घरके आदमियों को आहारमें अन्तराय देनेसे, ज़बरदस्ती काम व मेहनत लेनेसे, पशु-पक्षियोंको बाड़ेमें या पिंजरेमें रखनेसे, दूसरोंको पराधीन देखकर .खुशी होनेसे, दूसरोंकी स्वाधीनता नष्ट करने आदिसे।

५—मनुष्य निर्बल किन कर्मोंके कारण होता है?

उत्तर—दीन-ग़रीबोंको सतानेसे, अन्न वस्त्रका अन्तराय डालनेसे, निर्बलोंको दबानेसे, अपने बलका अभिमान करने आदिसे।

कर्मोंका सिद्धान्त बड़ा सरल व सीधा है कि जैसा कर्म आप करेंगे, उसीके अनुसार आपको फलकी प्राप्ति होगी।

ठीक उसी प्रकार कि जिस प्रकारका आप बीजारोपण करेंगे, उसीके अनुसार आपको उसके फलकी प्राप्ति होगी।

शुभाशुभ कर्मोंकी कसौटी

साधारण लोग यह कहा करते हैं कि दान, सामायिक, सेवा आदि क्रियाओंके करनेमें शुभ कर्मका बन्ध होता है और किसीको कष्ट पहुँचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदिमें अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है, परन्तु अशुभ और शुभ कर्मोंका निर्णय करनेकी मुख्य कसौटी यह नहीं है, क्योंकि किसीको कष्ट पहुँचाता हुआ या इच्छा-विरुद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य शुभ कर्मका बन्ध कर सकता है। इसी तरह दान, प्रौषध, सामायिक आदि करता हुआ पुरुष कभी-कभी अशुभ बन्ध अर्थात् पाप भी बाँध लेता है।

एक परोपकारी चिकित्सक जब किसीपर शस्त्र-क्रिया करता है, तब उस मरीजको कष्ट अवश्य होता है। हितैषी माता-पिता नासमझ लड़केको जब उसकी इच्छाके विरुद्ध पढ़ानेकेलिये प्रयत्न करते हैं, तब उस बालकको दुःख-सा मालूम होता है; पर इतनेसे न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करनेवाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता दोषी समझे जाते हैं। इसके विपरीत कोई जीव भोले लोगोंको ठगनेके इरादेसे या किसी तुच्छ आशयसे दान-धर्म करके उसके बदलेमें

अशुभ कर्म बाँधता है। अतएव शुभ और अशुभ कर्म-बन्धकी सच्ची कसौटी केवल ऊपरकी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ताका आशय है, अर्थात् अच्छे आशयसे जो काम किया जाता है, उससे शुभ कर्मका बन्ध होता है और जो बुरे आशयसे किया जाता है, उससे अशुभ कर्मका बन्ध होता है।

साधारण लोग यह समझते हैं कि अमुक काम करनेसे अशुभ कर्मका बन्ध न होगा। इससे वे उस कामको तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे साधारण रूपमें क्रिया न करते हुए भी वे अशुभ कर्मोंका बन्ध करते रहते हैं। अतएव विचारना चाहिये कि सच्ची निर्लेपता क्या है? लेप (बन्ध) मानसिक क्षोभको अर्थात् कषायको कहते हैं। यदि कषाय नहीं है तो ऊपरकी कोई भी क्रिया आत्माको बन्धमें रखनेकेलिये समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषायका वेग भीतर वर्त्तमान है तो ऊपर हजार प्रयत्न करनेपर भी कोई जीव अपनी आत्माको कर्म-बन्धसे छुड़ा नहीं सकता।

कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली विशेष बातें:—

१—बन्ध, २—उदय, ३—उदीरणा, ४—सत्ता, ५—अपवर्तना-करण, ६—उदयकाल, ७—अबाधाकाल, ८—संक्रमण, और ९—निर्जरा।

१—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आदि निमित्तोंसे ज्ञानावरण आदि रूपमें परिणत होकर कर्म-पुद्गलोंका आत्माके साथ दूध-पानीके समान मिल जाना 'बन्ध' कहलाता है।

२—उदयकाल आनेपर कर्मोंके शुभाशुभ फलका भोगना 'उदय' कहलाता है।

३—अबाधाकाल व्यतीत हो चुकनेपर भी जो कर्म दलिक पीछेसे उदयमें आनेवाले होते हैं, उनको प्रयत्न-विशेषसे खींचकर उदय प्राप्त दलिकोंके साथ भोग लेना, उसे 'उदीरण' कहते हैं।

४—बँधे हुए कर्मोंका अपने स्वरूपको छोड़ कर आत्माके साथ लगा रहना 'सत्ता' कहलाता है।

५—जिस वीर्य-विशेषसे पहले बँधे हुए कर्मकी स्थिति तथा रस घट जाता है, उसको 'अपवर्तनाकरण' समझना चाहिये।

६—अबाधाकाल व्यतीत हो चुकनेपर जिस समय कर्मके फलका अनुभव होता है, उस समयको 'उदयकाल' समझना चाहिये।

७—बँधे हुए कर्मसे जितने समय तक आत्माको बाधा नहीं होती अर्थात् शुभाशुभ-फलकी वेदना नहीं होती उतने समय को 'अबाधा-काल' समझना चाहिये।

८—जिस वीर्य-विशेषसे कर्म एक स्वरूपको छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य-विशेषका नाम

'संक्रमण' है। इस प्रकार एक कर्म प्रकृतिका दूसरी सजातीय कर्म-प्रकृति रूप बन जाना भी संक्रमण कहाता है। जैसे मतिज्ञानावरणीय कर्मका श्रुतज्ञानावरणीय कर्म रूपमें बदल जाना या श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका मतिज्ञानावरणीय कर्म रूपमें बदल जाना। क्योंकि यह दोनों प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्मका भेद होनेसे आपसमें सजातीय हैं।

६—बँधे हुये कर्मका तप-ध्यान आदि साधनोंके द्वारा आत्मासे अलग हो जाना 'निर्जरा' कहलाती है।

कर्मोंका स्थितिकाल-प्रमाण

१—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मोंकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस क्रोड़ाक्रोड़ सागरकी और अबाधकाल तीन हज़ार वर्षका।

२—वेदनीय कर्मः—

(१) सातावेदनीय जघन्य दो मास ('इरियावही' क्रिया-आश्रित), उत्कृष्ट पन्द्रह क्रोड़ाक्रोड़ सागरकी और अबाधाकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट डेढ़ हज़ार वर्षका।

(२) असातावेदनीय कर्मः—

असाता वेदनीय जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट तीस क्रोड़ाक्रोड़ सागर और अबाधाकाल तीन हज़ार वर्षका।

३—मोहनीय कर्म जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ सागर और अबाधाकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट सात हज़ार वर्षका।

४—आयु कर्मका स्थिति-प्रमाण अर्थात् जबतक जीव जीवे तबतक।

५—नाम और गोत्र कर्म—जघन्य आठ मुहूर्त, उत्कृष्ट बीस कोडाक्रोड सागर और अबाधाकाल दो हज़ार वर्षका।

मुख्य कर्मोंके दूर होनेका क्या परिणाम होता है ?

कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक घातिक दूसरे अघातिक।

घातिक कर्म चार हैं:—

१—ज्ञानावरणीय, २—दर्शनावरणीय, ३—अन्तराय और ४—मोहनीय।

अघातिक कर्म भी चार होते हैं:—

१—वेदनीय, २—गोत्र, ३—नाम और ४—आयु।

ज्ञानावरण कर्मके अभावसे अनन्त ज्ञान। २—दर्शनावरण कर्मके अभावसे अनन्त दर्शन। ३—अन्तराय कर्मके अभावसे अनन्तवीर्य। ४—दर्शनमोहनीय कर्मके अभावसे शुद्ध सम्यक्त्व और चारित्रमोहनीय कर्मके अभावसे शुद्ध चारित्र होता है अर्थात् इन समस्त कर्मोंके अभावसे अनन्त सुख होता है। मगर शेष चार कर्मोंके बाकी रहनेसे जीव ऐसी ही जीवन्मुक्त अवस्थामें संसारमें रहता है और इसी अवस्था

वाले सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थङ्कर भगवान्से सांसारिक जीवोंको सच्चे धर्मका उपदेश मिलता है—यही सर्वज्ञोपदेश संसारमें प्राणी-मात्रकेलिये हितकारी व उपयोगी होता है।

ऊपरके चार अघातीय अर्थात् वेदनीय, गोत्र, नाम और आयु कर्मकी स्थिति पूरी होनेपर जीव अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभावसे जिस स्थानपर कर्मोंसे मुक्त होता है उस स्थानसे सीधा पवनके झकोरोंसे रहित अग्निकी तरह ऊर्ध्व-गमन करता है और जहाँ तक ऊपर बताये हुए गमनसहचरी धर्म-द्रव्यका सद्भाव है वहाँ तक गमन करता है। आगे धर्मद्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे अलोकाकाशमें उसका गमन नहीं होता। इस कारण समस्त मुक्त जीव लोकके शिखर पर विराजमान रहते हैं। यहाँ जिस शरीरसे जीव मुक्ति प्राप्त करता है उस शरीरसे जीव-आकार ($\frac{2}{3}$ होजाता है) अर्थात् पोलका भाग नहीं रहनेसे आत्म-प्रदेश ठोस हो जाते हैं—किंचित् न्यून हो जाते हैं।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि जब जीव मोक्षसे लौटकर आते नहीं तथा नवीन जीव उत्पन्न होते नहीं और मुक्ति होनेका सिलसिला हमेशा जारी रहता है तो एक दिन संसारके सब जीव मोक्षको प्राप्त कर लेंगे और संसार शून्य हो जायगा। पर इसका उत्तर अथवा समाधान यह है कि जीव-राशि अक्षय अनन्त है, जिस तरह आकाश द्रव्य सर्वव्यापी अनन्त है।

आयुर्बन्धका नियम

आयुका बन्ध एक भवमें एक ही बार होता है। आयु कर्मकेलिये यह नियम है कि वर्तमान आयुका तीसरा, नवाँ या सत्ताईसवाँ आदि भाग बाक़ी रहनेपर ही परभवके आयुका बन्ध होता है।

इस नियमके अनुसार यदि बन्ध न हो तो अन्तमें जब वर्तमान आयु, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण बाकी रहती है, तब अगले भवकी आयुका बन्ध अवश्य होता है।

संसारमें प्रत्येक प्राणी हर समय अर्थात् सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते इत्यादि कार्य करते समय कर्म-बन्ध किया करता है, चाहे वह शुभ हो या अशुभ हो। जैसे-जैसे वचन, काय और मनकी भावनाएँ हुआ करती हैं, उसीके अनुसार कर्म-बन्ध हुआ करता है। अगर हमारे अनजानपनेमें हमारी कायसे कोई क्रिया हो जाती है तो कर्म-बन्ध अवश्य होता है। अगर हम कोई वाहियात क्रिया नहीं करते हैं, सिर्फ़ मनसे ही विचार करते हैं तो भी कर्म-बन्ध अवश्य होता है। इसी प्रकार वचनसे भी कर्म-बन्ध हुआ करता है। ज्यादातर कर्म-बन्धका कारण हमारा मन है। मन हर समय कुछ-न-कुछ सोचा-विचारा ही करता है और जैसी-जैसी मनो-वृत्ति होती रहती है, उसीके अनुसार शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका बन्ध हुआ करता है।

कर्म-बन्धके मुख्य हेतु

कर्म-बन्धके मुख्य हेतु चार हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१—मिथ्यात्व, २—अविरति, ३—कषाय और ४—योग।

(१) मिथ्यात्व—आत्माका वह परिणाम है, जो मिथ्या-मोहनीय-कर्मके उदयसे होता है और जिससे चित्तमें कदाग्रह, संशय आदि दोष पैदा होते हैं।

(२) अविरति—वह परिणाम है, जो अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होता है और जो चारित्रको रोकता है।

(३) कषाय—वह परिणाम है, जो चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है और जिससे क्षमा, विनय, सरलता, संतोष, गम्भीरता आदि गुण प्रकट नहीं हो पाते या बहुत कम प्रमाणमें प्रकट होते हैं।

(४) योग—आत्म-प्रदेशोंके परिस्पन्द (चाञ्चल्य) को कहते हैं, जो मन, वचन या शरीरके योग्य पुद्गलोंके आलम्बनसे होता है।

(क) मिथ्यात्वके पाँच भेद होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१—आभिग्रहिक, २—अनाभिग्रहिक, ३—आभिनिवेशिक, ४—सांशयिक और ५—अनाभोग❀।

❀ इन पाँचोंमेंसे आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक, ये दो मिथ्यात्व गुरु हैं और शेष तीन लघु; क्योंकि ये दोनों विपर्यासरूप होनेसे तीव्र क्लेशके कारण हैं और शेष तीन विपर्यासरूप न होनेसे तीव्र क्लेश के कारण नहीं हैं।

१—तत्त्वकी परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धान्तका पक्षपात करके अन्य पक्षका खण्डन करना 'आभिग्रहिक मिथ्यात्व' है।

२—गुण-दोषकी परीक्षा किये बिना ही सब पक्षोंको बराबर समझना 'अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व' है।

३—अपने पक्षको असत्य जानकर भी उसको स्थापना करनेके लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना 'आभिनिवेशिक मिथ्यात्व' है।

४—ऐसा देव होगा या अन्य प्रकारका, इसी तरह गुरु और धर्मके विषयमें संदेह-शील बने रहना 'सांशयिक मिथ्यात्व' है।

५—विचार व विशेष ज्ञानका अभाव अर्थात् मोहकी प्रगाढ़तम अवस्था 'अनाभोग मिथ्यात्व' है।

(ख) अविरतिके बारह भेद होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

मनको अपने विषयमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना 'मन-अविरति' है। इसी प्रकार त्वचा, जिह्वा आदि पाँच इन्द्रियोंकी अविरतिको भी समझ लेना चाहिये। पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा करना 'पृथ्वीकाय-अविरति' है। शेष पाँच कायोंकी अविरतिको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। ये बारह अविरतियाँ मुख्य हैं। मृषावाद-अविरति, अदत्तादान-अविरति आदि सब अविरतियोंका समावेश इन बारहमें ही हो जाता है।

(ग) कषायके पच्चीस भेद हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार भेद हैं। इनमेंसे हर एकके चार-चार भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—१—संज्वलन, २—प्रत्याख्यानावरण, ३—अप्रत्याख्यानावरण और ४—अनन्तानुबन्धी। इस प्रकार चार कषायोंके ४×४ सोलह भेद होते हैं। इनके अलावा नोकषायमोहनीयके नौ भेद और होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१—हास्य, २—रति, ३—अरति, ४—शोक, ५—भय, ६—जुगुप्सा, ७—स्त्रीवेद, ८—पुरुषवेद और ९—नपुंसकवेद।

(घ) योगके पन्द्रह भेद होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१—सत्यमनोयोग, २—असत्यमनोयोग, ३—मिश्रमनोयोग और ४—व्यवहारमनोयोग, ये चार भेद मनोयोगके हैं।

१—सत्यवचनयोग, २—असत्यवचनयोग, ३—मिश्रवचनयोग और ४—व्यवहार वचन योग—ये चार भेद वचनयोगके हैं।

१—वैक्रियशरीरकाययोग, २—आहारिकशरीरकाययोग, ३—औदारिकशरीरकाययोग, ४—वैक्रियकमिश्रकाययोग, ५—आहारिकमिश्रकाययोग, ६—औदारिकमिश्रकाययोग और ७—कार्मणशरीरकाययोग, इस प्रकार काययोगके सात भेद होते हैं।

चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग, इन तीनोंको मिलाकर कुल पन्द्रह भेद योगके होते हैं।

बन्धु-हेतुके कुल निम्न प्रकार ५७ भेद हुए:—

मिथ्यात्वके ५, अविरतिके १२, कषायके २५ और योगके १५।

गुणस्थानोंमें मूलबन्ध-हेतु

पहिले गुणस्थानमें मिथ्यात्व आदि चारों बन्धु-हेतु पाये जाते हैं। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें मिथ्यात्वोदयके सिवाय अन्य सब बन्ध-हेतु पाये जाते हैं।

छठे, सातवें, आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी तरह अविरति भी नहीं पाया जाता है।

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें कषाय भी नहीं पाई जाती है। चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव हो जाता है।

गुणस्थानोंमें उत्तरबन्ध-हेतु

१—पहिले गुणस्थानमें आहारिक-द्विकको छोड़कर पचपन बन्ध-हेतु हैं। अर्थात् आहारिक और आहारिकमिश्र नहीं होते हैं।

२—दूसरे गुणस्थानमें पाँचों मिथ्यात्व भी नहीं होते हैं। इसीसे उनको छोड़कर शेष पचास हेतु कहे गये हैं।

३—तीसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धि-चतुष्क नहीं हैं; क्योंकि उसका उदय दूसरे गुणस्थान तक ही है तथा इस गुण-स्थानके समय मृत्यु न होनेके कारण अपर्याप्त-अवस्था-भावी-कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग भी नहीं होते। इस प्रकार तीसरे गुणस्थानमें सात बन्ध-हेतु घट जानेसे उक्त पचासमेंसे शेष तेतालीस बन्ध हेतु हैं।

४—चौथा गुणस्थान अपर्याप्त-अवस्थामें भी पाया जाता है; इसलिये इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण, औदारिक-मिश्र और वैक्रियमिश्र, इन तीन योगोंका होना सम्भव है। तीसरे गुणस्थान-सम्बन्धी तेतालीस और ये तीन योग, कुल छयालीस बन्ध-हेतु चौथे गुणस्थानमें समझने चाहिये।

५—अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क चौथे गुणस्थान तक ही उदय में रहता है, आगे नहीं। इस कारण वह पाँचवें गुणस्थानमें नहीं पाया जाता।

पाँचवाँ गुणस्थान देशविरतिरूप होनेसे उसमें त्रस-हिंसारूप त्रस-अविरति नहीं है तथा यह गुणस्थान केवल पर्याप्त-अवस्था-भावी है; इस कारण इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग भी नहीं होते। इस तरह चौथे गुणस्थानसम्बन्धी छयालीस हेतुओंमेंसे उक्त सातके सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध-हेतु पाँचवें गुणस्थानमें होते हैं।

६—छठा गुणस्थान सर्वविरतिरूप है। इसलिये इसमें शेष ग्यारह अविरतियाँ नहीं होतीं। इसमें प्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क, जिसका उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त ही रहता है, नहीं होता। इस तरह पाँचवें गुणस्थान-सम्बन्धी उन्तालीस हेतुओंमेंसे पन्द्रह घटा देनेपर शेष चौबीस रहते हैं। ये चौबीस तथा आहारिक-द्विक कुल छब्बीस बन्ध-हेतु छठे गुणस्थानमें है।

७—सातवें गुणस्थानमें वैक्रियशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय वैक्रियमिश्र तथा आहारिक-शरीरके आरम्भ और परित्यागके समय आहारिकमिश्र योग होता है। पर उस समय प्रमत्त-भाव होनेके कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता। इस कारण इस गुणस्थानके बन्ध हेतुओंमें ये दो योग नहीं गिने गये हैं। इस प्रकार इसमें चौबीस हेतु हैं।

८—वैक्रिय शरीरवालेको वैक्रियककाययोग और आहारिक शरीरवालेको आहारिककाययोग होता है। ये दो शरीर-वाले अधिकसे अधिक सातवें गुणस्थानके ही अधिकारी हैं, आगेके नहीं। इस कारण आठवें गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें इन दो योगोंको नहीं गिना है। इस प्रकार सिर्फ बाईस बन्ध-हेतु इस गुणस्थानमें हैं।

९—हास्य-षट्क अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा आठवें आगेके गुणस्थानमें नहीं होते। इसलिये

उन्हें छोड़कर आठवें गुणस्थानके बाईस हेतुओंमेंसे शेष सोलह बन्ध-हेतु नौवें गुणस्थानमें समझने चाहिये।

१०—तीन वेद तथा संज्वलन क्रोध, मान और माया, इन छहका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है। इस कारण इन्हें छोड़कर शेष दस बन्ध-हेतु दसवें गुणस्थानमें कहे गये हैं।

११—१२—संज्वलन लोभका उदय दसवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसलिये इसके सिवाय उक्त दसमेंसे शेष नौ हेतु ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें पाये जाते हैं। नौ हेतु ये हैं:—चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग।

१३—तेरहवें गुणस्थानमें सात हेतु हैं:—सत्य और असत्यामृषामनोयोग, सत्य और असत्यामृषावचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग तथा कार्मणकाययोग।

१४—चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है। इसलिये इसमें बन्ध-हेतु सर्वथा नहीं है।

संक्षेप

१—पहिले गुणस्थानमें पचपन बन्ध-हेतु हैं।

२—दूसरे गुणस्थानमें पचास बन्ध-हेतु हैं।

३—तीसरे गुणस्थानमें तेतालीस बन्धहेतु हैं।

४—चौथे गुणस्थानमें छयालीस बन्धहेतु हैं।

५—पाँचवें गुणस्थानमें उन्तालीस बन्ध-हेतु हैं।

६—छठे गुणस्थानमें छब्बीस बन्ध-हेतु हैं।

७—सातवें गुणस्थानमें चौबीस बन्ध-हेतु हैं।

८—आठवें गुणस्थानमें बाईस बन्ध-हेतु हैं।

९—नौवें गुणस्थानमें सोलह बन्ध-हेतु हैं।

१०—दसवें गुणस्थानमें दस बन्ध-हेतु हैं।

११—१२—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें नौ बन्ध-हेतु हैं।

१३—तेरहवें गुणस्थानमें सात बन्ध-हेतु हैं।

१४—चौदहवें गुणस्थानमें बन्ध-हेतु नहीं होते।

———

नवतत्त्व अधिकार

जीव, पुद्गल, पुण्य, पाप आदि तत्त्वों (पदार्थों) का जो यथार्थ ज्ञान है अर्थात् श्रद्धान अथवा तथ्य-तादृश स्वरूपकी जो जानकारी है, उसे 'सम्यक्त्व' कहते हैं। श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इन तीनोंकी प्राप्तिसे सिद्धपद अथवा मोक्षका उपार्जन किया जाता है।*

---

* दिगम्बर सम्प्रदायमें मोक्षके कारण तो यही तीन माने गये हैं। किन्तु उनके क्रममें थोड़ासा अन्तर है और वह यह है कि वे सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञानसे पहले मानते हैं। यथा—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"—मोक्षशास्त्र। उनका कहना है कि जबतक जीवको आत्माकी रुचि पैदा नहीं होती, तबतक वह तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञान उपार्जनके लिये प्रयत्नशील नहीं हो सकता और जबतक उसका विशिष्ट ज्ञान न हो, तबतक तदनुकूल आचरण करना घटित नहीं होता। सामान्य ज्ञान तो सभी संसारी जीवोंको स्वतः होता ही है।

रोगीको रोग-मुक्त होनेकेलिये प्रथम वैद्यपर श्रद्धा करनेकी आवश्यकता है। बादमें वह जो औषधोपचार बतलावे, उसका ज्ञान—स्मरण रहना भी आवश्यक है। तत्पश्चात् तदनुकूल औषधि-निर्माण-सेवन भी अति-आवश्यक है। तभी वह रोगी रोग-मुक्त हो सकता है।

१—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरहित अर्थात् शुद्ध और यथार्थ तत्त्वों—पदार्थोंके जाननेको 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं।

२—सम्यक् ज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थोंका जो श्रद्धान—विश्वास करना है, उसे 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

३—मिथ्यात्व-कषायादिक संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे विरक्त होनेको 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।

जिस प्रकार व्याधियुक्त रोगी औषधिका ज्ञान, श्रद्धान और उपचारका ठीक-ठीक पालन करे तभी वह रोगसे मुक्त होता है। एक बातकी भी कमी होनेसे रोग नहीं जा सकता है। इसी प्रकार सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अगर इनमेंसे एक बातकी भी कमी हो तो मोक्ष पाना दुर्लभ है।

बिना ज्ञानके सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, ज्ञानकी प्राप्ति बिना चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती और चारित्रकी प्राप्ति बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। इस कारण प्रथम ज्ञान उपार्जन करने की परम आवश्यकता है।

भव्य प्राणियोंको ज्ञानका आराधन करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान पाप-रूपी तिमिरको नष्ट करनेकेलिये सूर्यके समान है; मोक्ष-रूपी लक्ष्मीके निवास करनेकेलिये कमलके समान है; काम-रूपी सर्पको कीलनेकेलिये मन्त्रके समान है; माया-रूपी हस्तीकेलिये सिंहके समान है; व्यसन—आपदा—कष्ट-रूपी

मेघोंको उड़ानेकेलिये पवनके समान है और समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेकेलिये दीपकके समान है।

ज्ञानके बिना मुमुक्षु मनुष्य किस प्रकार मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं? इस कारण ज्ञानी पुरुषोंने मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये नवतत्त्वरूपी ज्ञान फ़रमाया है, जो निम्न प्रकार है:—

१—जीव, २—अजीव, ३—पुण्य, ४—पाप, ५—आस्रव, ६—बन्ध, ७—संवर, ८—निर्जरा और ९—मोक्ष।

जीव

जीव सदासे है और सदा रहेगा। इसको न कभी किसीने बनाया और न कभी इसका नाश होगा। सदा काल यह जीवित—ज़िन्दा रहता है। इसी कारण यह 'जीव' कहलाता है। जो सुख-दुःखको भोगता है—अनुभव करता है, उसे 'जीव' कहते हैं।

जीवका लक्षण चेतना है, जो सदा इसके साथ रहती है। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश बादलोंसे ढका रहता है, उसी प्रकार इस जीवका ज्ञान-दर्शन-गुण ज्ञानावरणीय आदि कर्म-पुद्गलोंसे ढका रहता है।

संसारमें जीव अनन्तानन्त हैं—बेशुमार हैं। लेकिन फिर भी सर्वज्ञाज्ञानुसार शास्त्रकारोंने उनका अनेक रूपसे वर्गीकरण किया है। यथा—

१—संसारके समस्त जीवोंमें चैतन्य होनेसे वे सब एक प्रकारके हैं।

२—जीव दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जीव हैं जो कर्म-सहित हैं—कर्मके वशीभूत हैं; नाना प्रकारके जन्म-मरण करते हुए संसारमें संसरण—भ्रमण करते रहते हैं, इसलिये उनको 'संसारी जीव' कहते हैं। दूसरे वे हैं जो समस्त कर्मोंको क्षयकर अर्थात् काटकर मुक्त हो गये हैं, उन्हें 'मुक्त जीव' अथवा 'सिद्ध जीव' कहते हैं।

३—मोक्ष प्राप्त हुये जीव सब एक प्रकारके होते हैं, परन्तु संसारी जीव अनेक प्रकारके होते हैं। इस कारण केवल संसारी जीवोंके ही भेद बताये जाते हैं :—

१—सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २—बादर एकेन्द्रिय, ३—द्वीन्द्रिय, ४—त्रीन्द्रिय, ५—चतुरिन्द्रिय, ६—असैनी (असंज्ञी) पञ्चेन्द्रिय और ७—सैनी (संज्ञी) पञ्चेन्द्रिय।

संसारमें पञ्चेन्द्रिय जीव दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनके मन नहीं होता, उन्हें 'असैनी' कहते हैं। ये जीव माता-पिताके संयोगके बिना ही पैदा होते हैं अर्थात् पानी, पृथ्वी, वायु आदिके संयोग-विशेषसे पैदा होते हैं। दूसरे वे जो माताकी रज और पिताके वीर्यके संसर्गसे पैदा होते हैं। इनके मन होता है। इसलिये ये 'सैनी' (संज्ञी) कहलाते हैं।

१—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे किसी यन्त्र द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। इस प्रकारके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके अनन्तानन्त-जीव समस्त लोकमें

भरे हुये हैं। ये केवल ज्ञान द्वारा ही अवलोकन किए जा सकते हैं।

२—बादर एकेन्द्रिय जीव भी नेत्रोंद्वारा कठिनतासे दीख पड़ते हैं, पर यन्त्रद्वारा आसानीसे दीख जाते हैं। इस प्रकारके पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पतिके अनन्तानन्त जीव हैं। सूक्ष्म और बादर जीवोंके केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है। अर्थात् केवल शरीर ही होता है।

३—द्वीन्द्रिय-जीव वे होते हैं, जिनके केवल दो ही इन्द्रियाँ होती हैं। एक स्पर्श और दूसरी रसना अर्थात् जिह्वा। जैसे—केचुआ, लट आदि।

४—त्रीन्द्रिय-जीव वे होते हैं, जिनके केवल तीन इन्द्रियाँ होती हैं। एक स्पर्श, दूसरी रसना और तीसरी घ्राण अर्थात् नासिका। जैसे—चींटी, खटमल आदि।

५—चतुरिन्द्रिय-जीव वे होते हैं, जिनके केवल चार ही इन्द्रियाँ होती हैं। एक स्पर्श, दूसरी रसना, तीसरी घ्राण और चौथी नेत्र। जैसे—मकड़ी, भौंरा आदि।

६—असैनी पञ्चेन्द्रिय-जीव वे होते हैं, जिनके पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। एक स्पर्श, दूसरी रसना, तीसरी घ्राण, चौथी नेत्र और पाँचवीं श्रोत्र अर्थात् कान। इन जीवोंके मन नहीं होता है। जैसे—मेंढ़क आदि।

७—सैनी पञ्चेन्द्रिय-जीव वे होते हैं, जिनके उपरोक्त पाँच इन्द्रियाँ और मन होता है। जैसे—मनुष्य, पशु आदि।

जीवके शरीर

प्रश्न—शरीर किसको कहते हैं?

उत्तर—जिसमें प्रतिक्षण बढ़ने-घटनेका धर्म हो अथवा जो शरीरनाम-कर्मके उदयसे उत्पन्न होता हो, उसे 'शरीर' कहते हैं।

शास्त्रकारोंने शरीर पाँच प्रकारके बताये हैं। १—औदारिक, २—वैक्रियक, ३—आहारिक, ४—तैजस और ५—कार्मण।

१—मनुष्य, पशु आदिके स्थूल शरीरको, जिसमें हाड़, मांस, लोहू आदि हो, उसको 'औदारिक-शरीर' कहते हैं।

२—जिसमें छोटे-बड़े एक-अनेक आदि नाना प्रकारके रूप बनानेकी शक्ति हो, उसको 'वैक्रयिक-शरीर' कहते हैं। वैक्रयिक-शरीर देव और नारकीके होते हैं। इनमें लोहू, हाड़, मांस आदि नहीं होते। जब ये मरते हैं तो इनके शरीर कपूरकी तरह बिखर जाते हैं।

३—कुछ पहुँचे हुए मुनियों (छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों) को जब तत्त्वोंमें कोई ऐसी पपृच्छा हो जाती है, जिसका समाधान तीर्थङ्कर या श्रुतकेवली बिना अन्य किसी ज्ञानीसे नहीं हो सकता हो तब वे तीर्थङ्कर महाराज या केवली महाराजके निकट जानेके लिये अपने शरीरमेंसे एक हाथका पुतला निकालते है, वह

उनके पास जाकर प्रश्नका उत्तर लाकर मुनिराजोंको समाहित-चित्त करता है। इस प्रकारके पुतले रूपी शरीरको 'आहारिक-शरीर' कहते हैं।

४—ग्रहण किये हुए आहारको जो पचावे, उसको 'तैजस शरीर' कहते हैं।

५—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको 'कार्मण शरीर' कहते हैं। यह शरीर संसारी जीवके हर हालतमें रहता है और उसके परिभ्रमणका यही कारण होता है।

औदारिक शरीरसे वैक्रयिक शरीर सूक्ष्म होता है, वैक्र-यिकसे आहारिक सूक्ष्म होता है, आहारिकसे तैजस सूक्ष्म होता है और तैजससे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है।

औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं, उनसे असंख्यगुणे परमाणु वैक्रयिक शरीरमें हैं। वैक्रयिक शरीरसे असंख्यगुणे परमाणु आहारिक शरीरमें हैं। तेजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणे परमाणुवाले होते हैं अर्थात् आहारिकसे अनन्त गुणे परमाणु तैजस शरीरमें हैं और तैजससे अनन्तगुणे परमाणु कार्मण शरीरमें होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर आत्मासे अनादि कालसे सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् ये दोनों शरीर संसारके समस्त जीवोंके साथ अनादिसे लगे हुए हैं और तब तक जीवके साथ लगे भी रहेंगे जब तक उसकी मुक्ति नहीं हो जाती है।

जीवके साथ सदा दो शरीर तैजस और कार्मण तो रहते ही हैं; अगर तीन हों तो औदारिक, तैजस और कार्मण होते हैं अथवा वैक्रयिक, तैजस और कार्मण, ये तीन भी होते हैं। परन्तु ये देव तथा नरक गतिमें ही होते हैं। यदि किसीके एक साथ चार शरीर हों तो औदारिक, आहारिक, तैजस और कार्मण होते हैं। बस, एक साथ एक जीवके एक समयमें चारसे अधिक शरीर नहीं हो सकते।

जीवकी गति

एक शरीरको छोड़ कर नया शरीर धारण करनेकेलिये जीव जो गति अर्थात् गमन करता है, वह कार्मण शरीरके योगके द्वारा ही करता है। जीवकी इस गतिको 'विग्रह गति' कहते हैं और वह आकाशके प्रदेशानुसार ही होती है, अन्य प्रकार नहीं।

एक शरीरको छोड़ कर जीव जब नया शरीर धारण करता है तो उसको अधिक-से-अधिक तीन समय लगते हैं। चौथे समयमें अवश्य वह नवीन शरीरके योग्य पुद्गल ग्रहण कर लेता है। जो जीव मोड़ा बिना गमन अर्थात् सीधा गमन करता है, वह एक समय मात्रमें ही नवीन शरीरके योग्य पुद्गल ग्रहण कर लेता है।

मुक्त जीवकी गति वक्रता रहित (मोड़ा रहित) सीधी होती है, अर्थात् मुक्त जीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊँचा

गमन करता हुआ सिद्ध क्षेत्रमें चला जाता है--इधर-उधर नहीं मुड़ता।

एक शरीरको छोड़कर कर्म-परवश जीव दूसरी जगह जहाँ जाता है, वहाँ वह सबसे पहले पुद्गल वर्गणाएँ ग्रहण करता है। उस वर्गणा-पिण्डमेंसे वह अपना शरीर रचना आरम्भ करता है। ऊपर हम सात प्रकारके जीव बता आये हैं। उनमेंसे जीव जब आहारवर्गणा, शरीरवर्गणा, इन्द्रियवर्गणा, स्वासोच्छ्वासवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणाके पूर्ण पुद्गलोंको प्राप्त कर लेता है, तब वह 'पर्याप्त' कहलाता है। और जब इनके पूर्ण करनेके पहले ही मृत्युको प्राप्त कर लेता है, तब वह 'अपर्याप्त' कहलाता है। इस प्रकार जीवोंके सात अपर्याप्त और सात पर्याप्त मिलाकर चौदह भेद होते हैं।

जब जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है, तब वह प्रथम उस 'पिण्ड' को ग्रहण करता है जिससे कि वह अपना शरीर आदि बनावेगा। उसके इस पिण्डको 'आहार' कहते हैं। फिर उससे वह अपना शरीर बनाता है। उसके बाद इन्द्रियाँ बनाता है। इसके बाद उसके श्वासोच्छ्वास चलते हैं। फिर भाषा प्राप्त करता है और सबके अन्तमें मन प्राप्त करता है। जब तक जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करता है, तब तक वह 'अनाहारक' रहता है। जीव कम-से-कम एक समय

तक और अधिक-से-अधिक तीन समय तक अनाहारक रहता है।

पाँच इन्द्रिय और मनके निम्नलिखित पृथक्-पृथक् विषय हैं:—

१—स्पर्श इन्द्रियका विषय स्पर्श करना अर्थात् छूना है, २—रसना इन्द्रियका विषय रस चखना अर्थात् स्वाद लेना है, ३—घ्राण इन्द्रियका विषय सुगन्ध लेना अर्थात् सूंघना है, ४—नेत्र इन्द्रियका विषय वर्ण-ग्रहण अर्थात् देखना है और ५—श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द-ग्रहण अर्थात् सुनना है। मनका विषय श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है।

जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको तीन प्रकारसे धारण करता है अर्थात् जन्म लेता है। १—सम्मूर्च्छन, २—गर्भ और ३—उपपाद।

१—अपने योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विशेषतासे तीन लोकमें भरे हुए अपने चारों ओरके पुद्गल परमाणुओंसे (माता-पिताके रजोवीर्यके मिलनेके बिना ही) देहकी रचना होने को 'सम्मूर्छनजन्म' कहते हैं। इनके शास्त्रमें चौदह स्थान बताये हैं।

२—स्त्रीके गर्भाशयमें माताके रज और पिताके वीर्यके संयोगसे जो जन्म होता है. उसे 'गर्भजन्म' कहते हैं।

३—माता-पिताके रज-वीर्यके बिना देवयोनिके स्थान-विशेषमें जो जन्म होता है, उसे 'उपपादजन्म' कहते हैं।

जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका गर्भजन्म होता है; देव और नारकियोंका उपपादजन्म होता है और शेष समस्त जीवों का—बिच्छू, कॉंतर, मेढ़क आदिका सम्मूर्छनजन्म होता है*।

जीवोंके भेद

शास्त्रकारोंने संसारी समस्त जीवोंको चार हिस्सोंमें विभाजित किया है:—

१—नारकीय, २—तिर्यञ्च, ३—मनुष्य और ४—देव।

(१) शास्त्रकारोंने सात नरक फरमाये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१—घम्मा, २—बंसा, ३—मेघा-सीला, ४—अंजना, ५—अरिष्ठा-निष्ठा, ६—मघा और ७—माघवी।

इन सातों नरकोंमें रहनेवाले नारकीय जीवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त करके कुल चौदह भेद होते हैं।

(२) तिर्यञ्चके भेद इस प्रकार हैं:—

१—पृथ्वीकायके दो भेद—सूक्ष्म और बादर। इन दोनोंके पर्याप्त और अपर्याप्त, इस तरह चार भेद होते हैं।

---

* 'जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः', 'देवनारकाणामुपपादः', 'शेषाणां सम्मूर्च्छनम्'। —उमास्वाति।

२—अप् (पानी) कायके भी दो भेद—सूक्ष्म और बादर। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार चार भेद होते हैं।

३—तेऊ (अग्नि) कायके भी दो भेद—सूक्ष्म और बादर। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार चार भेद होते हैं।

४—वायुकायके भी दो भेद—सूक्ष्म और बादर। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार चार भेद होते हैं।

५—वनस्पतिकायके भी सूक्ष्म और बादर, इस तरह दो भेद होते हैं। वनस्पतिके प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो भेद और होते हैं। एक शरीरका जो एक जीव अधिष्ठाता हो, उसे 'प्रत्येक वनस्पति' और एक शरीरके अनन्तानन्त जीव अधिष्ठाता हों, उसे 'साधारण वनस्पति' कहते हैं। इन तीनों प्रकारके वनस्पति जीवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद होनेसे वनस्पतिके छह भेद होते हैं।

६—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, इन तीनोंके पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार छह भेद होते हैं।

७—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके भेद बताये जाते हैं:—

१—मगर-मच्छ आदि जलचर जीवोंके चार भेद—सैनी, असैनी, पर्याप्त और अपर्याप्त।

२—गाय-बैल आदि स्थलचर जीवोंके चार भेद—सैनी, असैनी, पर्याप्त और अपर्याप्त।

३—मैना-तोता आदि खेचर जीवोंके चार भेद—सैनी, असैनी, पर्याप्त और अपर्याप्त।

४—साँप आदि उर:परिसर्पके चार भेद—सैनी, असैनी, पर्याप्त और अपर्याप्त।

५—नौला-चूहा आदि भुजपरिसर्पके चार भेद—सनी, असैनी, पर्याप्त और अपर्याप्त।

इस प्रकार तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियके २२+६+२०=कुल ४८ भेद हुये।

(३) मनुष्यके भेद इस प्रकार हैं:—

शास्त्रकारोंने दो प्रकारकी भूमि फ़रमाई है—एक वह, जहाँ व्यापार, कृषि आदि कार्य होते हैं; उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं। और दूसरी वह, जिसमें मनुष्योंको कोई कार्य नहीं करना पड़ता है। उनकी इच्छायें कल्पवृक्षोंसे पूर्ण हो जाती हैं; उसे 'अकर्मभूमि' या 'भोगभूमि' कहते हैं।

जहाँ मनुष्य पाये जाते हैं, ऐसे केवल तीन बड़े बड़े द्वीप हैं:—

१—जम्बूद्वीप, २—धातकीखण्ड और ३—पुष्करार्धद्वीप।

१—जम्बूद्वीपमें तीन क्षेत्र हैं। १-भरत, १-ऐरावत, और १-महाविदेह।

२—धातकीखण्डमें छह क्षेत्र हैं। २-भरत, २-ऐरावत और २-महाविदेह।

३—पुष्करार्धद्वीपमें भी छह क्षेत्र हैं। २-भरत, २-ऐरावत और २-महाविदेह।

इस प्रकार कर्मभूमिज मनुष्योंके १५ क्षेत्र हैं।

अकर्मभूमिके क्षेत्र इस प्रकार हैं—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, और पुष्करार्धद्वीप।

१—जम्बूद्वीपमें छह क्षेत्र हैं:—१-देवकुरु, १-उत्तरकुरु, १-हरिवास, १-रम्यक वास, १-हेमवास और १-एरण्यवास।

२—धातकीखण्डमें बारह क्षेत्र हैं:—२-देवकुरु, २-उत्तरकुरु, २-हरिवास, २-रम्यकवास, २-हेमवास और २-एरण्यवास।

३—पुष्करार्धद्वीपमें भी बारह क्षेत्र हैं:—२-देवकुरु, २-उत्तरकुरु, २-हरिवास, २-रम्यकवास, २-हेमवास और २-एरण्यवास।

इस प्रकार तीस क्षेत्र अकर्मभूमिज—भोगभूमिज मनुष्योंके हैं। अकर्मभूमि इस प्रकार और हैं:—

जम्बूद्वीपमें भारत क्षेत्रकी हद करनेवाला 'चूलहेमवन्त' नामक पर्वत है और ऐरावत क्षेत्रकी हद करनेवाला 'शिखरी' नामक पर्वत है। इन दोनों पर्वतोंके दोनों कोनोंसे दो-दो शाखायें निकली हैं। इन चारों शाखाओंमेंसे दो-दो अर्थात् आठ उप-

शाखाएँ और निकली हैं। प्रत्येक उप-शाखापर सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार ८ × ७ = ५६ 'अन्तर्द्वीप' हैं। इन सब अन्तर्द्वीपोंमें जो 'युगलिये' मनुष्य रहते हैं, वे भी कोई कर्म नहीं करते हैं। कल्प-वृक्ष इन मनुष्योंकी इच्छाओंको पूरा किया करते हैं।

इस प्रकार कर्मभूमि और अकर्मभूमिके कुल क्षेत्र १५ + ३० + ५६ = १०१ होते हैं। इनमें रहनेवाले मनुष्य परस्परमें विशेष स्वभावके रखनेवाले हैं। इस प्रकार एक-सौ एक भेद मनुष्योंके हुए। इनके भी पर्याप्त और अपर्याप्तके भेद करनेसे कुल दो-सौ दो भेद होते हैं।

इन उक्त एक-सौ एक क्षेत्रोत्पन्न मनुष्योंके विष्टा, पेशाब, खकार, नाकका मैल, वमन, पित्त, पीप, रक्त, वीर्य, वीर्यके सूके पुद्‌गल, मृतक शरीर, स्त्री-पुरुषके संयोग, नगरके नाले-नालियों आदि अशुचि स्थानोंमें अन्तर्मुहूर्तमें असंख्य समूर्च्छिम (सूक्ष्म मनुष्य) उत्पन्न होते हैं। चूँकि एक-सौ एक प्रकारके मनुष्य होते हैं। इस कारण ये संमूर्च्छिम जीव भी एक-सौ एक प्रकारके होते हैं। ये अपर्याप्त अवस्थाहीमें कालको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्यके कुल तीन-सौ तीन भेद हैं।

(४) देवताओंके भेद इस प्रकार हैं:—

१—भवनपतिदेव दस जातिके, २—परमाधामीदेव पन्द्रह जातिके, ३—वाणव्यन्तरदेव सोलह जातिके, ४—ज्योतिषीदेव दस जातिके, ५—किल्विषीदेव तीन जातिके, ६—बारह

देवलोकके देव बारह जातिके, ७—लौकान्तिकदेव नव प्रकारके, ८—ग्रैवेयकदेव नव प्रकारके और अनुत्तरदेव पाँच प्रकारके होते हैं। इस प्रकार कुल देव निन्यानवे जातिके होते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद होनेसे देवताओंके कुल भेद एक-सौ अट्ठानवे होते हैं।

इस प्रकारसे नरकके १४, तिर्यञ्चके ४८, मनुष्यके ३०३ और देवके १९८ कुल मिलकर सब ५६३ भेद जीवके हुए।

लोगोंके मनमें प्रायः यह शङ्का उत्पन्न होती रहती है कि यहाँ जो जीव एक छोटेसे शरीरमें होता है, वही बड़े शरीरमें कैसे व्याप्त हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके समान हैं अर्थात् जीव असंख्य-प्रदेशी हैं। जीवके असंख्यात प्रदेश दीपककी रोशनीके समान संकोच-विस्तार-शील होते हैं। उन्हें जैसा आधार—आश्रय—शरीर प्राप्त हो जाता है, वे वैसे ही संकोच-विस्ताररूप हो जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिस प्रकार दीपककी रोशनी एक छोटी-सी कोठरीमें होती है और वही दीपक अगर किसी बड़े कमरेमें रख दिया जाय तो रोशनी तमाम कमरेमें फैल जाती है। इसी प्रकार आत्मा अर्थात् जीवका स्वभाव है।

जीवके प्राण

१—जिस शक्तिके निमित्तसे आत्मा प्राण धारण करे, उसको 'जीवत्वगुण' कहते हैं।

२—जिसके संयोगसे यह जीव जीवन अवस्थाको प्राप्त हो और वियोगसे मरण अवस्थाको प्राप्त हो, उसको 'प्राण' कहते हैं।

३—प्राण दो प्रकारके होते हैं:—एक द्रव्य प्राण और दूसरा भाव प्राण।

(१) द्रव्य प्राण दस हैं:—मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबल प्राण, स्पर्शेन्द्रियबल प्राण, रसनेन्द्रियबल प्राण, घ्राणेन्द्रियबल प्राण, चक्षुरिन्द्रियबल प्राण, श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण, श्वासोच्छ्वास और आयु।

(२) आत्माकी जिस शक्तिके निमित्तसे इन्द्रियादिक अपने कार्यमें प्रवृत्त हों, उसे 'भाव प्राण' कहते हैं।

(क) एकेन्द्रिय जीवके चार प्राण होते हैं:—स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु।

(ख) द्वीन्द्रियके छह:—स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास, आयु, रसनेन्द्रिय और वचनबल।

(ग) त्रीन्द्रियके सात प्राण:—उपरोक्त छह और घ्राणेन्द्रिय।

(घ) चतुरिन्द्रियके आठ:—उपरोक्त सात और एक चक्षुरिन्द्रियबल प्राण।

(ङ) पञ्चेन्द्रिय असंज्ञीके नौ प्राणः—उपरोक्त आठ और और एक श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण।

(च) सैनी पञ्चेन्द्रियके दस प्राणः—उपरोक्त नौ और एक मनोबल।

जीवोंकी आयु और स्थिति

१—एकेन्द्रिय जीवकी कम-से-कम आयु एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक बाईस हजार वर्षकी होती है।

२—द्वीन्द्रिय जीवकी कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक बारह वर्षकी होती है।

३—त्रीन्द्रिय जीवकी कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक उनंचास रात्रि-दिनकी होती है।

४—चतुरिन्द्रिय जीवकी कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक छह महीनेकी होती है।

५—पञ्चेन्द्रिय जीवकी कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक तेतीस सागरकी होती है।

१—एकेन्द्रिय एकेन्द्रिय अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्त काल तक।

२—द्वीन्द्रिय द्वीन्द्रिय अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असंख्यात काल तक।

३—त्रीन्द्रिय त्रीन्द्रिय अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असंख्यात काल तक।

४—चतुरिन्द्रिय चतुरिन्द्रिय अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असंख्यात काल तक।

५—पञ्चेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक एक हज़ार सागर तक।

अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीवसे लेकर पञ्चेन्द्रिय जीव तककी कम-से-कम और अधिक-से-अधिक एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु है।

१—एकेन्द्रिय जीव पर्याप्त अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक संख्यात हज़ार वर्ष तक रहे।

२—द्वीन्द्रिय जीव पर्याप्त अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक संख्यात वर्ष तक रहे।

३—त्रीन्द्रिय जीव पर्याप्त अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक संख्यात रात्रि-दिन रहे।

४—चतुरिन्द्रिय जीव पर्याप्त अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक संख्यात मास तक रहे।

५—पञ्चेन्द्रिय जीव पर्याप्त अवस्थामें कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक तेतीस सागरसे कुछ अधिक रहे।

१—एकेन्द्रियका अन्तरकाल कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक दो हज़ार सागर और संख्यात हज़ार वर्ष है।

२—द्वीन्द्रियका अन्तरकाल कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल है।

३—त्रीन्द्रियका अन्तरकाल कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल है।

४—चतुरिन्द्रियका अन्तरकाल कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल है।

५—पञ्चेन्द्रियका अन्तरकाल कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल है।

जीवोंका अल्प-बहुत्व

लोकमें सबसे कम जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं। इनसे विशेषाधिक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। इनसे विशेषाधिक चतुरिन्द्रिय जीव हैं। इनसे विशेषाधिक त्रीन्द्रिय जीव हैं। इनसे विशेषाधिक द्वीन्द्रिय जीव हैं। एकेन्द्रिय जीव उनसे अनन्त गुणे हैं।

सबसे कम संख्यामें चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं। इनसे पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव विशेषाधिक संख्यामें हैं। इनसे द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव विशेषाधिक संख्यामें हैं। इनसे त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीव विशेषाधिक संख्यामें हैं। इनसे पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त जीव असंख्यातगुणे हैं। इनसे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त जीव विशेषाधिक हैं। इनसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त जीव विशेषाधिक हैं। इनसे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीव विशेषाधिक हैं। इनसे एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव अनन्तगुणे हैं।

१—संसारमें सबसे थोड़े पुरुषवेदी; इनसे स्त्रीवेदी संख्यातगुणे; इनसे अवेदी अनन्तगुणे और इनसे नपुंसकवेदी अनन्तगुणे जीव हैं।

२—संसारमें सबसे थोड़े संयति हैं; इनसे असंख्यातगुणे संयतासंयति हैं; इनसे नो-संयति, नो-असंयति और नो-संयतासंयति अनन्तगुणे हैं और असंयति अनन्तगुणे जीव हैं।

३—संसारमें सबसे थोड़े सम्यग्दृष्टि हैं; इनसे मिश्रदृष्टि अनन्तगुणे हैं और मिथ्यादृष्टि जीव भी अनन्त हैं।

४—संसारमें सबसे थोड़े संज्ञी जीव हैं; इनसे नो-संज्ञी नो-असंज्ञी अनन्तगुणे हैं और असंज्ञी जीव भी अनन्तगुणे हैं।

५—संसारमें सबसे थोड़े जीव अभव्य हैं, इनसे नो-भव्य और नो-अभव्य अनन्तगुणे हैं और भव्य जीव अनन्तगुणे हैं।

६—संसारमें सबसे थोड़े अवधिदर्शनी हैं; इनसे असंख्यातगुणे चक्षुदर्शनी हैं; केवलदर्शनी अनन्तगुणे हैं और अचक्षुदर्शनी भी अनन्तगुणे हैं।

७—संसारमें सबसे थोड़े पर्याप्त जीव हैं; इनसे अनन्तगुणे नो-पर्याप्त और नो-अपर्याप्त हैं और अपर्याप्त जीव अनन्तगुणे हैं।

८—संसारमें सबसे थोड़े जीव भाषक हैं और इनसे अनन्तगुणे जीव अभाषक हैं।

९—संसारमें सबसे थोड़े परित हैं; इनसे नो-परित और नो-अपरित अनन्तगुणे हैं और अपरित जीव अनन्तगुणे हैं।

१०—संसारमें सबसे थोड़े मनःपर्यवज्ञानी जीव हैं; इनसे असंख्यातगुणे अवधिज्ञानी जीव हैं; मति और श्रुतज्ञानी इनसे असंख्यातगुणे हैं, पर आपसमें तुल्य विशेषाधिक हैं और केवलज्ञानी जीव अनन्तगुणे हैं।

११—संसारमें सबसे थोड़े विभङ्गज्ञानी; इनसे मति-श्रुत अज्ञानी अनन्तगुणे हैं, पर परस्पर तुल्य विशेषाधिक हैं।

१२—संसारमें सबसे थोड़े मनोयोगी जीव हैं; इनसे असंख्यातगुणे वचनयोगी जीव हैं; अयोगी जीव अनन्तगुणे हैं और काययोगी जीव भी अनन्तगुणे हैं।

१३—संसारमें सबसे थोड़े जीव साकारोपयुक्त हैं; इनसे विशेषाधिक अनाकारोपयुक्त हैं।

१४—संसारमें सबसे थोड़े आहारिक जीव हैं; इनसे असंख्यातगुणे अनाहारिक जीव हैं।

१५—संसारमें सबसे थोड़े नो सूक्ष्म, नो-बादर जीव हैं; इनसे अनन्तगुणे बादर जीव हैं; सूक्ष्म जीव संख्यातगुणे हैं।

१६—संसारमें सबसे थोड़े जीव अचरमी जीव हैं; इनसे अनन्तगुणे चरमी जीव हैं।

संसारी जीवके गुण

१-शरीर, २-अवगाहना, ३-संहनन, ४-संस्थान, ५-कषाय, ६-संज्ञा, ७-लेश्या, ८-इन्द्रिय, ९-समुद्घात, १०-संज्ञा, ११-वेद,

१२–पर्याप्ति, १३–दृष्टि, १४–दर्शन, १५–ज्ञान, १६–योग, १७–उपयोग, १८–आहार, १९–उपपात, २०–स्थिति, २१–समोहाय, २२–च्यवन और २३–गति-अगति।

१—जीव जिसके द्वारा भोगोपभोग भोगता है तथा कर्मोंका क्षय करता है, उसे 'शरीर' कहते हैं। वह शरीरनामकर्मके उदयसे जीवको प्राप्त होता है। जिसका वर्णन 'कर्म अधिकार'में कर आये हैं। वह शरीर पाँच प्रकारका होता है—(१) औदारिक शरीर, (२) वैक्रिय शरीर, (३) आहारिक शरीर, (४) तैजस शरीर और (५) कार्मण शरीर।

२—शरीरके क़द अथवा लम्बाईको 'अवगाहना' कहते हैं। अवगाहना कम-से-कम अङ्गुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण और अधिक-से-अधिक एक लक्ष योजनसे कुछ अधिक तक होती है।

३—शरीरके हाड़ोंके बन्धन-विशेषको 'संहनन' कहते हैं। 'संहनन' नामक नाम-कर्मके उदयसे जीवको यह प्राप्त होता है। वह छह प्रकारका होता है:—वज्रऋषभनाराच संहनन, ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलक संहयन और सेवार्त (असंप्राप्तासृपाटिका) संहनन।

४—शरीरकी आकृति अथवा शक्लको 'संस्थान' कहते हैं। यह भी जीवको 'संस्थान' नाम कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। यह छह प्रकारका होता है:—समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्जक संस्थान और हुंडक संस्थान।

५—आत्माके बुरे परिणामोंको 'कषाय' कहते हैं। जीवको यह 'चारित्र मोहनीय कर्म'के उदयसे प्राप्त होती है। वह चार प्रकारकी है। १-क्रोध, २-मान, ३-माया और ४-लोभ।

६—अभिलाषाको—वाञ्छाको 'संज्ञा' कहते हैं। संज्ञाके चार भेद हैं:—१-आहार संज्ञा, २-भय संज्ञा, ३-मैथुन संज्ञा और ४-परिग्रह संज्ञा।

७—जिस परिणाम-विशेष द्वारा आत्मा कर्मोंसे लिप्त होता है तथा योग और कषायकी तरंगसे जो उत्पन्न होती हो, ऐसे मन के शुभाशुभ परिणामको 'लेश्या' कहते हैं। लेश्याके छह भेद हैं। १-कृष्ण लेश्या, २-नील लेश्या, ३-कापोत लेश्या, ४-तेजो लेश्या, ५-पद्म लेश्या और ६-शुक्ल लेश्या।

८—आत्माके लिङ्गको—चिह्नको 'इन्द्रिय' कहते हैं। इन्द्रियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं। १-श्रोत्रेन्द्रिय, २-चक्षुरिन्द्रिय, ३-घ्राणेन्द्रिय, ४-रसनेन्द्रिय और ५-स्पर्शेन्द्रिय।

९—मूल शरीरको बिना छोड़े जीवके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको 'समुद्घात' कहते हैं। समुद्घातके सात भेद हैं। १-वेदनीय, २-कषाय, ३-मारणान्तिक, ४-वैक्रिय, ५-आहारिक, ६-तैजस और ७-केवलि समुद्घात।

१०—जिसमें संज्ञा हो-मन हो, उसे 'संज्ञी' कहते हैं और जिस जीवके मन नहीं होता है, उसे 'असंज्ञी' कहते हैं।

११—नोकषायके उदयसे उत्पन्न हुई जीवके मैथुन करनेकी अभिलाषाको 'भाववेद' कहते हैं। नाम-कर्मके उदयसे आविर्भूत जीवके चिह्न-विशेषको 'द्रव्यवेद' कहते हैं। वेदके तीन भेद होते हैं:—१-पुरुषवेद, २-स्त्रीवेद और ३-नपुंसकवेद।

१२—वर्गणाओंको आहार, भाषा आदि रूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको 'पर्याप्ति' कहते हैं। उसके छह भेद हैं:—१-आहार, २-शरीर, ३-इन्द्रिय, ४-श्वासोच्छ्वास, ५-भाषा और ६-मन:पर्याप्ति।

१३—जीवकी मान्यता अथवा विचारोंको 'दृष्टि' कहते हैं। दृष्टि तीन प्रकारकी होती है:—१-सम्यक्दृष्टि, २-मिथ्यादृष्टि और ३-मिश्रदृष्टि।

१४—देखनेको 'दर्शन' कहते हैं। ज्ञानके पहिले दर्शन होता है। बिना दर्शनके अल्पज्ञ जनोंको ज्ञान नहीं होता है परन्तु सर्वज्ञ देवको ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। दर्शनके चार भेद होते हैं:—१-चक्षुर्दर्शन, २-अचक्षुर्दर्शन, ३-अवधिदर्शन और ४-केवलदर्शन।

१५—किसी वस्तुकी जानकारीको 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञानके आठ भेद हैं:—१-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-मन:पर्ययज्ञान, ५-केवलज्ञान, ६-मति-अज्ञान, ७-श्रुत-अज्ञान और ८-विभङ्गज्ञान।

१६—मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके चञ्चल होनेको 'योग' कहते हैं। योगके तीन भेद हैं:—१-मनो-योग, २-वचनयोग और ३-काययोग।

१७—जीवके लक्षण रूप चैतन्यानुविधायी परिणामको 'उपयोग' कहते हैं। उपयोगके दो भेद हैं:—१-साकारोपयुक्त और २-अनाकारोपयुक्त।

१८—औदारिक आदि शरीर और भाषा आदि पर्याप्तिके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेको 'आहार' कहते हैं।

१६—गतिमें उत्पन्न होनेको 'उपपात' कहते हैं। उपपात पाँच प्रकारका होता है:—१—नरक, २—तिर्यञ्च, ३—मनुष्य, ४—देव और ५—सिद्ध।

२०—जीवके एक शरीरमें रहनेको 'स्थिति' कहते हैं। जीव की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर है।

२१—प्रदेशोंकी श्रेणी-बद्ध व बिना श्रेणीसे जीवकी मृत्यु होनेको 'समोहाय' कहते हैं।

२२—आयु पूर्ण होनेपर एक गतिसे छूटनेको 'च्यवन' कहते हैं।

२३—एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेको 'गमनागमन' कहते हैं।

ये तेईस गुण प्रत्येक संसारी जीवमें होते हैं। इनके अवान्तर भेद भी ऊपर कहे गये हैं। वे किसी जीवके कितने ही होते हैं

और किसी जीवके कितने ही। उदाहरणकेलिये, 'सूक्ष्म पृथ्वी-काय'के जीवको लीजिए। उसमेंः—

१—शरीर—औदारिक, तैजस और कार्मण।

२—अवगाहना—जघन्य उत्कृष्ट अंगुलके असंख्यातवें भाग।

३—संहनन—सेवार्त।

४—संस्थान—मसूरकी दाल व अर्धचन्द्रमाके आकारका।

५—कषाय—क्रोधादि चारों कषाय।

६—संज्ञा—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

७—लेश्या—कृष्ण, नील और कापोत।

८—इन्द्रिय—स्पर्शेन्द्रिय।

९—समुद्‌घात—वेदनीय, कषाय और मारणान्तिक।

१०—संज्ञी या असंज्ञी—असंज्ञी।

११—वेद—नपुंसक वेद।

१२—पर्याप्ति—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति।

१३—दृष्टि—मिथ्या दृष्टि।

१४—दर्शन—अचक्षुर्दर्शन।

१५—ज्ञान—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

१६—योग—काययोग।

१७—उपयोग—साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त।

१८—आहार—द्रव्यसे अनन्तप्रदेशी स्कन्धका आहार करता है। क्षेत्रसे असंख्यातप्रदेश-अवगाही पुद्गलोंका आहार करता है। कालसे अन्यतर समय स्थितिवाले अर्थात् जघन्य-स्थितिवाले, मध्यमस्थितिवाले व उत्कृष्टस्थितिवाले पुद्गलोंका आहार करता है और भावसे वर्णमय, गन्धमय, रसमय और स्पर्शमय पुद्गलोंका आहार करता है। और आत्म-प्रदेशके साथ अवगाहे हुए पुद्गलोंका आहार करता है।

१९—उपपात—तिर्यञ्च और मनुष्योंमेंसे उत्पन्न होता है। तिर्यञ्चमें भी असंख्यात वर्षके आयुष्यवाले पर्याप्त व अपर्याप्त जीव उत्पन्न नहीं होते। वैसे ही असंख्यातवर्षके आयुष्यवाले अकर्मभूमिके मनुष्य भी उत्पन्न नहीं होते।

२०—स्थिति—जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

२१—समोहाय—समोहता और असमोहता दोनों प्रकारका मरण करता है।

२२—च्यवन—यह जीव नारकी व देवमेंसे उत्पन्न नहीं होता है। सिर्फ तिर्यञ्च और मनुष्यमेंसे उत्पन्न होता है।

२३—गति-आगति—तिर्यञ्च और मनुष्य इन दो गतिओंमें जाता है।

आत्मा और केवलज्ञान

सांसारिक सुख या दुःखके होनेमें राग-द्वेषकी तीव्रता कारण है। जब राग अतितीव्र हो जाता है, तब सांसारिक सुख और

जब द्वेष अतितीव्र हो जाता है, तब सांसारिक दुःख अनुभवमें आता है। जब किसी इष्ट विषयके मिलनेमें असफलता होती है, तब उस वियोगसे द्वेषभाव होता है कि यह वियोग हटे। जिससे परिणाम बहुत ही संक्लेश रूप हो जाते हैं। उसी समय अरति तथा शोक नोकषायका तीव्र उदय हो आता है। बस, यह प्राणी दुःखका अनुभव करता है।

कभी किसी अनिष्ट पदार्थसे द्वेष भाव होता है, तब उसका संयोग न हो, यह भाव होता है। तब भय तथा जुगुप्सा नोकषायका तीव्र उदय हो आता है। इसी समय यह कषाययुक्त जीव दुःखका अनुभव करता है।

कषायोंमें माया, लोभ, हास्य, रति और तीनों वेद 'राग' तथा क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा 'द्वेष' कहलाते हैं। ये कषाय रूप राग या द्वेष प्रकट रूपसे एक समयमें एक झलकते हैं, परन्तु एक दूसरेके कारण होकर शीघ्र बदला-बदली कर लेते हैं। जैसे—किसी स्त्रीकी तृष्णासे राग हुआ, उसके वियोग होने पर दूसरे समयमें द्वेष हो गया। फिर यदि उसका संयोग हुआ तब फिर राग हो गया, इत्यादि। परिणामोंमें संक्लेशता द्वेषसे होती है तथा उन्मत्तता-आसक्ति रागसे होती है। बाहरी पदार्थ तो निमित्त कारण मात्र हैं।

प्रयोजन यह है कि यही अशुद्ध आत्मा कषाय द्वारा सुखी तथा दुःखी होता रहता है। शरीर सुख या दुःख रूप नहीं होता

है। ऐसा जानकर सांसारिक सुखको कषाय-जनित विकार मानकर तथा निजाधीन निर्विकार आत्मिक सुखका उपाय ठीक-ठीक करना कर्तव्य समझकर उस सुखकेलिये निज शुद्धात्मामें उपयोग रखकर साम्य भावका मनन करना चाहिये।

इन्द्रियोंका सुख बिजलीके चमत्कारके समान अस्थिर है। अपना चमत्कार दिखाकर वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। तथा इस सुखसे तृष्णारूपी रोग मिटनेकी अपेक्षा और अधिक बढ़ जाता है। तृष्णाकी वृद्धि निरन्तर प्राणीको संतापित करती रहती है। यह इच्छाओंका दाहरूपी ताप जगत्के प्राणियोंको निरन्तर क्लेशित किया करता है। ये प्राणी उस पीड़ाके सहनेमें असमर्थ होकर नाना प्रकारके उद्यम करके धनका संग्रह करते हैं। फिर धन द्वारा विषयोंकी सामग्री लानेकी चेष्टा करते हैं और भोगते हैं। फिर भी शान्ति नहीं पाते और तृष्णा दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। इस कारण इन्द्रियोंके सुखका भोग अधिक आकुलताका कारण है। इस रोगकी शान्तिका उपाय अपना आत्मानुभव ही है।

श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान्ने अच्छी तरह बता दिया है कि जीवोंका प्रयोजन क्षणभङ्गुर भोगोंसे सिद्ध नहीं होगा, किन्तु अविनाशी रूपसे अपने आत्मामें स्थिर होनेसे ही होगा। क्योंकि भोगोंसे तृष्णाकी वृद्धि होती जाती है, इस कारण ताप भी मिटता नहीं है। मतलब यह कि इन्द्रियोंका सुख उलटा दुःखरूप ही है।

जैसे—खाज खुजानेसे खाजका रोग बढ़ता ही है, वैसे ही इन्द्रियोंके भोगसे इच्छाओंका रोग बढ़ता ही जाता है। इन्द्रियों द्वारा होनेवाला सुख अशुद्ध है, पराधीन है, मोह व रागको बढ़ानेवाला है, अतृप्तिकारी है तथा कर्म-बन्धका बीज है, इसलिये त्यागनेयोग्य है।

शास्त्रकारोंने यह भी बताया है कि सुख या दुःख अपने भावोंमें ही होता है। शरीरादि कोई बाहरी पदार्थ सुख या दुःखदायी नहीं है। जैसे—एक मनुष्य, जो कङ्कड़ोंपर सोता है, वह परम आनन्द मानता है और एक मनुष्य, जो तकिये-गद्दोंपर सोता है, पर तब भी वह कष्ट महसूस करता है। इस कारण हमको अपनी मिथ्या बुद्धिको त्याग देना चाहिये कि यह शरीर, पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, भोजन, वस्त्र आदि सुखदायी हैं। हमारी कल्पनासे ही ये सुखदायी तथा दुःखदायी भासते हैं। जैसे—जब स्त्री हमारी इच्छानुसार बर्तती है, तब वह सुखदायी भासती है; पर जब इच्छा-विरुद्ध कार्य करती है, तब वह दुःखदायी भासती है, इत्यादि।

सच्चा आत्मिक आनन्द चार घाती कर्मके क्षय होनेपर स्वयं प्रकट हो जाता है। परमसुख आत्माका स्वभाव है। ज्ञानावरणीयादि चारों घाती कर्म शुद्ध अनन्त सुखके बाधक हैं। उनका जब नाश होजाता है, तब उस आत्मिक आनन्दके प्रादुर्भावको कोई नहीं रोक सकता। यह आत्मिक सुख सब सुखोंसे श्रेष्ठ इसी

कारण है कि यह निज स्वभावसे पैदा हुआ है। इसमें किसी तरहकी पराधीनता नहीं है। इस सुखके भोगसे आत्मा संतुष्ट होजाता है तथा अपूर्व शान्तिका अनुभव करता है। इस सुखके मुक़ाबिलेमें विषय-भोगजन्य—इन्द्रियजन्य सुख हेच है, नाचीज़ है, अशान्तिका कारण है, तृष्णाका वर्द्धक है और कर्मबन्धका बीज है। घाती कर्मोंके नाश होजानेपर केवलज्ञानियोंको जो सर्वोत्कृष्ट और निर्मल सुख प्राप्त होता है, वह विषय-भोगियोंकी तो बात ही क्या, गृहस्थ सम्यग्दृष्टियों तथा परिग्रह-त्यागी मुनियों तकको नसीब नहीं है। यद्यपि दोनोंकी जाति समान है, परन्तु उनकी उज्ज्वलता तथा बलमें अन्तर है। ज्यों-ज्यों कषाय घटता जाता है, त्यों-त्यों उज्ज्वलता बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों अज्ञान घटता जाता है, त्यों-त्यों स्पष्टता बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों अन्तराय क्षय होता जाता है, त्यों-त्यों बल बढ़ता जाता है। बस, जब शुद्धता, स्पष्टता तथा पुष्टताके घातक सब आवरण हट जाते हैं, तब यह अतीन्द्रिय सुख अपने पूर्ण स्वभावसे प्रकट होजाता है और फिर अनन्तकालकेलिये वैसा ही रहता है अर्थात् एक समयकेलिये वह उससे अलग नहीं होगा और कम भी नहीं होगा। मोहनीय कर्मके नाशसे अनन्त सुख, अन्तरायके नाशसे अनन्त बल, ज्ञानावरणीयके नाशसे अनन्त ज्ञान और दर्शनावरणीय कर्मके नाशसे अनन्त दर्शन आत्मामें उत्पन्न हो जाते हैं। इस आत्मिक ज्ञान-दर्शनको 'केवलज्ञान' और 'केवल-

दर्शन' कहते हैं। इनके द्वारा आत्मा सर्वलोक और अलोक को प्रत्यक्ष देखता तथा जानता है। इस कारण उसको किसी प्रकारका अज्ञान नहीं रहता है। राग-द्वेषादि कषाय परिणाम आत्मामें विकार पैदा करके आकुलता तथा निर्बलता पैदा करते हैं। निर्बलता होनेसे खेद होता है। अतः मोहनीय और अन्तराय कर्मोंके सर्वथा अभाव होनेसे किसी प्रकारका राग-द्वेष व निर्बलता-जनित खेद भाव भी नहीं रहता। आत्माके स्वभावके घातक सब विकार हट गए तथा स्वभावको प्रफुल्लित करनेवाले अनन्त-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण प्रकट होगये। इस ज्ञानके (केवलज्ञान) के प्रकट होते ही आत्माका यथार्थ स्वभाव आत्माको प्राप्त हो जाता है। केवलज्ञानके साथ पूर्ण निराकुलता रहती है। इसलिये केवलज्ञानको सुख स्वरूप कहा गया है।

एक-एक इन्द्रिय एक-एक विषयको जानती है, परन्तु केवल-ज्ञानीकी आत्मामें सर्वज्ञानावरणीय कर्मके नाश होनेसे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमेंसे प्रत्येक प्रदेशमें सर्व ही विषयोंको एक साथ जाननेकी सामर्थ्य है। यहाँ तक कि तीन लोककी सर्व पर्यायोंको और अलोकाकाशको एक आत्माका प्रदेश जान सकता है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमेंसे प्रत्येकको होता है। इस ज्ञानकेलिये इन्द्रियोंकी सहायताकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह ज्ञान पराधीन नहीं है, किन्तु स्वाधीन है। इस ज्ञानको कोई देता नहीं

है और न आत्मा अन्य पदार्थोंकी शक्तिसे प्राप्त करता है, बल्कि यह केवलज्ञान आत्माका ही स्वभाव है। यह इस आत्मामें ही था, पर कर्मोंके आवरणोंसे ढका हुआ था। ज्यों ही कर्मोंके आवरण हट जाते हैं, त्यों ही यह ज्ञान प्रकट होजाता है। ऐसे केवल ज्ञानमें सर्व ही ज्ञेय सदा काल प्रत्यक्ष रहते हैं। कहीं भी कभी भी कोई भी पदार्थ, गुण या पर्याय ऐसा नहीं है, जो केवलज्ञानसे परे हो, इसीको 'सर्वज्ञता' या 'केवलज्ञान' कहते हैं।

जितने प्रदेश द्रव्यके होते हैं, उतने ही प्रदेश गुणोंके होते हैं। ऐसा होनेपर भी गुण स्वतन्त्रतासे अपना-अपना कार्य करता है। यहाँ आत्मा द्रव्य है और ज्ञान उसका मुख्य गुण है। ज्ञान आत्मा के प्रमाण है और आत्मा ज्ञानके प्रमाण है। आत्मा असंख्यात-प्रदेशी है। इस कारण उसका ज्ञान गुण भी असंख्यात-प्रदेशी है। दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है। जो कभी भी उससे अलग न था और न अलग हो सकता है। यद्यपि ज्ञान गुणकी सत्ता आत्मामें ही है तथापि कार्य वह सर्वत्र करता है अर्थात् सर्व जानने योग्य पदार्थोंको जानता है। कोई ज्ञेय उससे बाहर नहीं रह जाता। इससे विषयकी अपेक्षा ज्ञान ज्ञेयोंके बराबर है। ज्ञेयोंका विस्तार देखा जाय तो सर्व लोक और अलोक है। जितने द्रव्य, गुण व तीन कालवर्ती पर्याय हैं, वे सब जाननेके विषय हैं और ज्ञान उन सबोंको जानता है।

कोई-कोई आत्माको सर्वव्यापक भी मानते हैं। उनकेलिये यह कहा गया है कि जब ज्ञान विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है तब ज्ञानकी धनी आत्मा भी विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है। जिस प्रकार आँखकी पुतली अपने स्थानपर रहती हुई भी बिना स्पर्श किये बहुत दूरसे भी पदार्थोंको जान लेती है, ऐसे ही ज्ञान आत्माके प्रदेशोंमें ही रहता है, तथापि विषयोंकी अपेक्षा सर्व लोकालोकको जानता है।

यद्यपि आत्मा निश्चयसे असंख्यात-प्रदेशी है, तथापि किसी भी शरीरमें रहा हुआ संकोचरूप शरीर-प्रमाण रहता है। मोक्ष अवस्थामें भी अन्तिम शरीरसे किंचित् कम आकार रखता है, सदा स्थिर रहता है। जब जीव समुद्घात* करता है अर्थात् शरीर में रहते हुए भी फैलकर शरीरके बाहर उसके प्रदेश जाते हैं तब भी जैसा आत्मा फैलता-सिकुड़ता है, वैसे ही उसके ज्ञानादि गुण रहते हैं। आत्माके प्रदेश अन्य छह समुद्घातोंमें थोड़ी-थोड़ी

---

*"*मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।*

णिग्गमणं देहादो, हवदि समुग्घादयो णाम॥"

अर्थात् मूल शरीरको न छोड़ते हुए दूसरे शरीरको स्पर्श करनेके लिये जो आत्म-प्रदेश शरीरसे बाहर जाते हैं और फिर मूल शरीरमें पुनः आ जाते हैं, उसे 'समुद्घात' कहते हैं।

दूर जाते हैं, परन्तु केवलि-समुद्घातमें समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं और फिर वे शरीर-प्रमाण हो जाते हैं।

जिस प्रकार आँख अग्निको देखकर जलती नहीं, समुद्रको देखकर डूबती नहीं, दुःखको देखकर दुःखी व सुखको देखकर सुखी होती नहीं। ऐसी ही केवलज्ञानकी महिमा है। वह सर्व शुभ-अशुभ पदार्थ और उनकी अनेक दुःखित व सुखित अवस्थाको जानते हुए भी मोहके संसर्ग न होनेसे किसी भी प्रकारके विकार से विकृत नहीं होता। वह सदा निराकुल रहता है।

जैसे दर्पण इस बातकी आकांक्षा नहीं करता है कि मैं पदार्थों को झलकाऊँ, परन्तु दर्पणकी चमकका ऐसा ही स्वभाव है कि उसके विषयमें आसकने वाले सर्व पदार्थ अपने-आप उसमें झलकते हैं। वैसे ही निर्मल केवलज्ञानमें सर्व ज्ञेय स्वयं ही झलकते हैं। जैसे दर्पण अपने स्थानपर रहता और पदार्थ अपने स्थानपर रहते हैं तो भी दर्पणमें प्रवेश हो गए या दर्पण उनमें प्रवेश हो गया, ऐसा झलकता है। वैसे ही आत्मा और उसका केवलज्ञान अपने स्थानपर रहता है और ज्ञेय पदार्थ अपने स्थानपर रहते हुए कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता, तो भी ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धसे जब सर्व ज्ञेय ज्ञानमें झलकते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि मानो आत्माके ज्ञानमें सर्व विश्व समा गया या यह आत्मा सर्व विश्वमें व्यापक हो गया। निश्चयसे ज्ञाता ज्ञेयोंमें प्रवेश नहीं करता। असली बात यही है। इसकेलिये आँख या दर्पणका दृष्टान्त भी यहाँ दिया जा सकता है।

अजीव

अजीव द्रव्य पाँच प्रकारके हैं:—१-पुद्गल, २-धर्मास्तिकाय, ३-अधर्मास्तिकाय, ४-काल और ५-आकाश।

पुद्गल भी एक द्रव्य है। यह सदासे है और सदा रहेगा। इसको न कोई कम कर सकता है और न अधिक। जितना है उतना ही रहता है। वह अपनी पर्याय पलट लिया करता है अर्थात् किसी-न-किसी शक्लमें विद्यमान रहता है। पुद्गल तत्त्वका दूसरा नाम अजीव है। अँगरेज़ीमें इसको matter कहते हैं। यह जीवका प्रतिपक्षी होनेसे इसका गुण अचैतन्य, अकर्ता, जड़ रूप है। इसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म हिस्सेको, जिसका कि दूसरा भाग न हो सके, 'परमाणु' कहते हैं। दो परमाणुओंके मिलनेसे द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओंके मिलनेसे तीनप्रदेशी स्कन्ध होता है और इसी प्रकार असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध तक इसके हो सकते हैं।

१—संसारमें जितने जड़ पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं, वे सब 'पुद्गल' हैं।

२—'धर्मास्तिकाय' वह अरूपी शक्ति है, जो जीवको चलनेमें सहायता करती है। जैसे पानी मछलीको तैरनेमें सहायता करता है।

३—'अधर्मास्तिकाय' वह शक्ति है, जो ठहरते हुये जीवको ठहरनेमें सहायता करता है। जैसे कड़ी धूपमें चलते हुये किसी पथिकके ठहरानेमें किसी पेड़की छाया सहायक होती है।

४—'आकाश' संसारके समस्त पदार्थोंको अवकाश देता है।

५—'काल' नयेको पुराना बनाता है।

पुद्गल द्रव्य रूपी है। शेष धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश अरूपी हैं। यद्यपि रूपी शब्दके अनेक अर्थ हैं परन्तु यहाँपर परमागमके अनुसार मूर्तीका अर्थ ही समझना चाहिये।

धर्मास्तिकाय द्रव्य, अधर्मास्तिकाय द्रव्य और आकाश, ये तीन द्रव्यें एक-एक हैं। जीव, पुद्गल और काल, ये तीनों अनेक हैं। आगमानुसार जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं। पुद्गल परमाणु जीवों से अनन्तगुणे हैं और काल द्रव्यके अणु असंख्यात हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीनों द्रव्यें हलन-चलन रूप क्रियासे रहित हैं। 'लोक' उसको कहते हैं जहाँ जीव आदि समस्त पदार्थ हों, जहाँ एक आकाश ही है उसे 'अलोक' कहते हैं। वहाँ सिवाय पोल अर्थात् आकाशके कोई वस्तु नहीं होती है। जिस प्रकार कुप्पेमें घी भरा रहता है, उसी प्रकार समस्त लोकमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव द्रव्यें ठसाठस भरी हुई हैं।

जितने क्षेत्रको एक परमाणु रोकता है, उतने क्षेत्रको एक 'प्रदेश' कहते हैं।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश द्रव्यके अनन्त प्रदेश हैं। लोकाकाशके

असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गलके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। यद्यपि पुद्गलका शुद्ध अविभागी एक परमाणु एक ही प्रदेशवाला है परन्तु पुद्गल परमाणुओंमें मिलने-बिछुरनेकी शक्ति है, इस कारण अनेक स्कन्ध दो-दो परमाणुओंके और अनेक तीन-तीन, चार-चार परमाणुओंके हैं। इसी प्रकार संख्यात परमाणुओंके तथा असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके भी स्कन्ध हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि लोकाकाश तो असंख्यात प्रदेशी है और पुद्गलके अनन्तानन्त परमाणु हैं तथा स्कन्ध अनन्त परमाणुओंके हैं तो फिर वे लोकाकाशमें कैसे समाते होंगे?

इसका उत्तर यह है कि पुद्गलके परिणमन दो प्रकारके हैं:—एक सूक्ष्म परिणमन और दूसरा स्थूल परिणमन। सो जब इनका सूक्ष्म परिणमन होता है, तब आकाशके एक ही प्रदेशमें अनन्त परमाणु आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त आकाशमें अवकाश देनेकी भी शक्ति है। इस कारण यह दोष नहीं आता है।

शुभ-अशुभ कर्मोंके भी पुद्गल होते हैं।

इस प्रकार सुख-दुःख, जीना-मरना आदि बातें केवल पुद्गलोंके परिणाम हैं। जब तक पुद्गल स्वतन्त्र है, उस समय तक वह कोई फल नहीं दे सकता। लेकिन जब वह आत्माके साथ हो जाता है, तब वह अपने गुणानुसार जीवको फल देता है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं।

कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, चिकना और सूखा, ये आठ प्रकारके स्पर्श हैं।

खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चिरपरा, ये पाँच प्रकारके रस हैं।

सुगन्ध और दुर्गन्ध, ये दो प्रकारकी गन्ध हैं।

कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत, ये पाँच प्रकारके वर्ण हैं।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आताप, उद्योत आदि पुद्गलोंकी एक प्रकारकी अवस्थाएँ हैं।

शब्दादिकोंको अन्य दार्शनिक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। शब्दादिक अनेक पुद्गलोंके मिलनेसे पैदा होते हैं।

द्रव्यकी व्याख्या

द्रव्यका लक्षण 'सत्' है अर्थात् जो सत् रूप है, वही द्रव्य है और सत्का लक्षण है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-सहितत्व। तब दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि जो उत्पत्ति, विनाश और मौजूदगी सहित है वही द्रव्य* है।

चेतन व अचेतन द्रव्यका बाह्याभ्यन्तर निमित्तके वशसे अपनी जातिको न छोड़ते हुए एक अवस्थासे दूसरी अवस्था

*"सद् द्रव्यलक्षणम्", "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"—उमास्वाति।

रूप होना, उत्पत्ति वा 'उत्पाद' है। जैसे सोनेके कुण्डलोंका कड़े रूप होना, उत्पाद है और कुण्डल आकारका नष्ट होना, विनाश व 'व्यय' है। और पीलापन, भारीपन आदिका अपनी जातिको लिये हुए दोनों अवस्थामें मौजूद रहना, 'ध्रौव्य' है। इसी प्रकार द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये तीनों गुण एक साथ निरन्तर रहते हैं। जिसमें ये तीनों गुण रहें, वही सत् अर्थात् द्रव्य है।

पदार्थके भाव वा गुणके नाश नहीं होनेको नित्यत्व कहते हैं। अग्निकी उष्णता गुणका बना रहना अग्निका नित्यत्व है। सर्वथा नित्य अर्थात् कूटस्थ कोई वस्तु नहीं है। सत्ताकी व द्रव्यत्वकी अपेक्षा नित्यत्व है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व है।

वस्तुओंमें अनेक धर्म होते हैं। उनमेंसे वक्ता जिस धर्मको प्रयोजनके वशसे प्रधान करके कहे, वह 'अर्पित' और जो प्रयोजनके बिना जिस धर्मको कहनेकी इच्छा नहीं करे, वह 'अनर्पित' है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि जो धर्म कहा नहीं गया, वह वस्तुमें है ही नहीं। नहीं, वह है जरूर, परन्तु उस समय उसके कहनेकी मुख्यता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक गुणवाली है। जिस प्रकार एक ही पुरुषमें पिता, पुत्र, भाई, मामा आदिके जो अनेक सम्बन्ध हैं, वे सब अपेक्षासे ही सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुमें अनेक गुण अथवा धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षासे सिद्ध होते हैं।

द्रव्यका एक और लक्षण भी आचार्योंने फरमाया है। वह एक भिन्न शैलीसे पदार्थको समझानेके उद्देश्यसे कहा गया है। तात्पर्य दोनोंका एक ही है। वह लक्षण है—

'गुण-पर्यायवाला द्रव्य होता है'*। द्रव्यकी अनेक परणति होनेपर भी जो द्रव्यसे भिन्न न हो—द्रव्यके साथ नित्य रहे, वह तो 'गुण' है, और जो पलटन रूप हो वह 'पर्याय' है। द्रव्यके जितने गुण हैं, वे द्रव्यसे कभी भिन्न नहीं होते। समस्त गुणोंका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यकी अनेक पर्यायें (अवस्थायें) पलटते हुए भी गुण कदापि नहीं पलटते। द्रव्यके नित्य साथ रहते हैं। जैसे सोना द्रव्य है, उसका गुण भारीपन और पीलापन है। उसको कुण्डल रूप या कड़े रूप बनाना परिवर्तन है, वह पर्याय है। पर्याय एक रूपसे दूसरे रूप हो सकती है अर्थात् पर्याय पलटी जा सकती है। पर उसका गुण उन सब रूपोंके साथ रहेगा।

५—काल भी द्रव्य है।

काल-द्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक-एक अणु-रूप भिन्न-भिन्न रहता है। पुद्गल परमाणुकी अवगाहनाके बराबर ही इसकी अवगाहना है। यह अमूर्त्तीक है। इसके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्यात हैं और रत्नोंकी राशिके

* "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्"—उमास्वाति।

समान भिन्न-भिन्न तथा निष्क्रिय हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और गुणपर्याय सहित होनेसे ये भी द्रव्य हैं। इसको 'निश्चय काल-द्रव्य' कहते हैं।

यह काल द्रव्य अनन्त समयवाला है। यद्यपि वर्त्तमान काल एक समय मात्र है, परन्तु भूत-भविष्य-वर्तमानकी अपेक्षा अनन्त समयवाला है।

समय कालकी पर्यायका सबसे छोटा अंश है। इसके समूहसे आवली (आवलिका), घटिका इत्यादि व्यवहार-काल होता है। यह व्यवहार-काल निश्चय-काल द्रव्यकी पर्याय है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुणको धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और कालास्तिकायमें घटाया जाता है:—

१--धर्मास्तिकाय—द्रव्यसे एक है; क्षेत्रसे समस्त लोकमें है; कालसे आदि-अन्त-रहित है; भावसे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित अर्थात् अरूपी है और गुणसे गमन-सहायक है।

२--अधर्मास्तिकाय--द्रव्यसे एक है; क्षेत्रसे समस्त लोकमें है; कालसे आदि-अन्त-रहित है; भावसे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित अर्थात् अरूपी है और गुणसे स्थिति-सहायक है।

३--आकाशास्तिकाय—द्रव्यसे एक है; क्षेत्रसे लोकालोक प्रमाण है; कालसे आदि-अन्त-रहित है; भावसे वर्णादिरहित अर्थात् अरूपी है और गुणसे अवकाशदाता है।

तृतीय खण्ड

"अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया,
त्रयीं प्रवृत्तिं शमधीरवारुणत् ॥"

—स्वामी समन्तभद्राचार्य ।

किसीने सन्तानकेलिये, किसीने धनकेलिये, किसीने स्वर्गके लिये तपतपे, कर्म किये; लेकिन आपने प्रभो! जन्म-जराके नाशके लिये अपने मन-वचन-कायको लगाया ।

तृतीय खण्ड

मुमुक्षुओंकेलिये उपयोगी उपदेश

८४०००० योनियोंमेंसे अव्वल तो मनुष्य जन्म पाना ही दुर्लभ है। यदि किसी प्रकार मनुष्य जन्म मिल भी गया तो पूर्ण योग—साधनोंका मिलना तो महा दुर्लभ है। इन सबके मिल जानेपर भी जिस मनुष्यने धर्म्म-सेवन नहीं किया तो उसका मनुष्य जन्म पाना और सारे साधनोंका प्राप्त होना निष्फल है। अर्थात् जो मनुष्य आर्य देश, उत्तम कुल, नीरोग शरीर, पूर्ण आयु, बल, लक्ष्मी और विद्या आदि बातें प्राप्त कर धर्म-सेवन नहीं करता, वास्तवमें वह मानों बीच समुद्रमें रहकर नावका त्याग करता है।

(२) संसाररूपी समुद्रमें गोते लगाते-लगाते इस जीवने बड़ी कठिनाईसे और एक लम्बे समयके बाद यह मनुष्य जन्म-रूपी जहाज प्राप्त किया है। इससे धर्म-साधन न करना—केवल भोगोपभोगोंमें ही इसे लगाये रखना, जहाजको छोड़कर लहरोंको पकड़ना है।

(३) उत्तराध्ययनजी सूत्रमें कहा गया है कि एक कौड़ीके पीछे हजार रत्नोंके पिटारेको खोदेनेवाला व्यक्ति जैसा मूर्ख है, विषय-भोगोंके पीछे इस मनुष्य जन्मरूपी रत्नपिटारेको खोदेने-वाला व्यक्ति भी वैसा ही मूर्ख है।

(४) एक कौड़ीके पीछे जीवनभरकी कमाईको नष्ट कर देनेवाले 'धनदत्त' नामक सेठकी भाँति हमें सांसारिक भोगोंके पीछे मोक्ष-सुखको नष्ट न कर डालना चाहिये। किन्तु मोक्षके लिये प्रमादको छोड़कर उद्यम—प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि प्रमाद परम द्वेषी है, प्रमाद (आत्म-विस्मरण) परम शत्रु है, प्रमाद मुक्ति मार्गका डाकू है और प्रमाद ही नरक ले जानेवाला है। इस कारण चतुर मनुष्योंको प्रमादको त्यागकर धर्म-सेवन करना चाहिये।

(५) मोहरूपी रात्रिसे व्याकुल प्राणियोंकेलिये धर्म दिनोदय—सूर्यके समान और सूखती हुई खेतीकेलिये वर्षाके समान है। सम्यक् प्रकारसे आराधना करनेसे वह भव्यजनोंको सुख सम्पत्ति देता है, दुर्गतिमें फँसे हुए प्राणियोंको बचाकर अनेक दुःखोंसे मुक्त करता है, बन्धुरहित मनुष्योंकेलिये बन्धुसमान है, मित्र रहितकेलिये मित्रसमान है, अनाथोंका नाथ है और संसारके लिये एक वत्सल रूप है।

(६) जब तक शरीर नीरोग और स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा नहीं आता, जब तक इन्द्रियोंमें शक्ति है और जब तक आयुष्य

क्षीण नहीं होता; तब तक समझदार मनुष्योंको आत्म-कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये। नहीं तो घरमें आग लगजानेपर कुंआ खोदनेकी तरह अन्तमें फिर क्या हो सकता है ?

(७) किसीने सच कहा है कि मनुष्यका जीवन परिमित है अर्थात् अधिक-से-अधिक सौ वर्षका है। इसमेंसे आधा तो रात्रि के ही रूपमें बेकार चला जाता है। शेष आधेका आधा बचपन और बुढ़ापेमें बीत जाता है और बाक़ी जो रहता है, वह व्याधि, वियोग और दुःखमें पूरा हो जाता है।

(८) पहिले तो मनुष्यको संसारमें सुखोंकी प्राप्ति ही नहीं होती है अगर कोई सुखोंको प्राप्त करता है तो वे सुख, सुखाभास (असत्यसुख) हैं अर्थात् कल्पित सुख हैं। जिस व्यक्तिने थूहड़के पीछे कल्पवृक्षको खोदिया, कांचके पीछे चिन्तामणिको खोदिया, उसको 'भुवनसार' राजाके समान पछताना पड़ेगा। इस कारण मनुष्यको अपनेको नाशमान समझकर जल्दी-से-जल्दी अपने जीवनको सफल बनानेकेलिये अर्थात् धर्म-सेवनकेलिये उद्यमी करना चाहिये।

(९) सब सुखोंका प्रधान हेतु होनेके कारण धर्म ही इस संसारमें सार वस्तु है; किन्तु उसकी उत्पत्ति-स्थान मनुष्य-भूमिका है, इसलिये मनुष्यत्व ही सार वस्तु है। इस कारण हे भव्यजनो ! मोह-निद्राका त्याग करो। ज्ञान-जागृतिसे जाग्रत होओ, प्राणघातादिका त्याग करो, कठोर वचन मत बोलो। सदा सत्य प्रिय

और हितरूप बोलो, ब्रह्मचर्यका पालन करो, सदा सद्भावना करते रहो; इत्यादि।

(१०) हे भव्य प्राणियो ! संसाररूपी जेलखानेमें कषायरूपी चार चौकीदार हैं। जबतक ये चारों जाग्रत हों, तबतक मनुष्य उनसे छूटकर मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है ?

(११) हे भव्यात्माओ ! वे चार कषायें इस प्रकार हैं:-१—क्रोध, २—मान, ३—माया और ४—लोभ। ये चारों कषाय संज्वलन, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और अनन्तानुबन्धी भेदोंसे चार-चार प्रकारके हैं। संज्वलन कषाय एक पक्ष तक, प्रत्याख्यान चार मास तक, अप्रत्याख्यान एक वर्ष तक और अनन्तानुबन्धी जन्मपर्यन्त रहता है। इन कषायोंके रूपको समझकर इनका त्याग करना चाहिये ! इन चारों कषायोंमें क्रोध बहुत भयंकर है। कहा भी है कि क्रोध विशेष सन्तापकारक है, क्रोध वैरका कारण है, क्रोध ही मनुष्यको दुर्गतिमें फँसा रखता है और क्रोध ही आत्म-चिन्तनमें बाधा डालता है। इसलिये क्रोधका त्यागकर शिवसुख देनेवाले आत्माका चिन्तन करो। यही मोक्षका देनेवाला है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार इख, क्षीर, चीनी आदि बलिष्ठ रस भी सन्निपातमें दोषकी वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार उपरोक्त कषायों से भी संसारकी वृद्धि होती है।

(१२) सिद्धान्तमें कहा गया है कि मर्म वचनसे एक दिनका तप नष्ट होता है। आक्षेप करनेसे एक मासका तप नष्ट होता है।

श्राप देनेसे एक वर्षका तप नष्ट होता है और हिंसाकी ओर अग्रसर होनेसे समस्त तप नष्ट होजाता है।

(१३) जो मनुष्य क्षमारूपी खड्गसे क्रोधरूपी शत्रुका नाश करता है, उसीको सात्त्विक, विद्वान्, तपस्वी और जितेन्द्रिय समझना चाहिये।

(१४) इस संसारमें जीव कर्मके ही कारण सुख-दुःख भोगा करता है। इसलिये सुखार्थी जीवोंको शुभ कर्मका संचय करना चाहिये। साथ ही चेतन स्वरूप आत्माको सुज्ञानके साथ जोड़कर अज्ञानसे उसको बचाना चाहिये।

(१५) मनुष्य बुद्धि, गुण, विद्या, लक्ष्मी, बल, पराक्रम, भक्ति किंवा किसी भी उपायसे अपनी आत्माको मृत्युसे बचा नहीं सकता। कहा भी है कि जिस प्रकार अपने पतिकी पुत्र-वत्सलता देखकर दुराचारिणी स्त्री हँसती है; उसी तरह शरीरकी रक्षा करते देखकर मृत्यु और धनकी रक्षा करते देखकर वसुन्धरा मनुष्यको हँसती है। दैव असम्भवको संभव और संभवको असम्भव बनाता है। कभी-कभी वह ऐसी बातें कर दिखाता है, जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। भवितव्यता प्राणियोंके साथ उसी तरह लगी रहती है, जिस प्रकार शरीरके साथ छाया। उसे पृथक् करना—उसके प्रभावसे बचना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। यह जीव अशरण है। प्राणियोंपर बार-बार जन्म-मरणकी जो विपत्ति पड़ती है, उसे दूर करना किसीके

सामर्थ्यकी बात नहीं है। यह प्राण पाँच दिनका अतिथि है, यह समझकर किसीपर राग-द्वेष न करना चाहिये। स्व और पर—अपने और परायेका तो प्रश्न ही बेकार है—अरण्य-रोदनकी भाँति है। दैवको उपालम्भ देनेसे भी क्या लाभ? समुद्रके अवगाहनकी कल्पनाकी भाँति बेकार है। मनुष्यको स्व और परका रूप जानना चाहिये।

(१६) ऐ अभिमानी प्राणी! जराको जर्जरीभूत करनेमें और मृत्युपर विजय प्राप्त करनेमें जब आजतक किसीको सफलता नहीं मिली, तब तुझे अब कैसे मिल सकती है?

(१७) हे जीव! तू, मैं कर्ता, मैं हर्ता, मैं धनी, मैं गुणी इत्यादि प्रकारके मिथ्याभिमान मत कर। वास्तवमें मनुष्य न तो कर्ता है और न हर्ता। जो कुछ है सो कर्म है। जीव तो अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलको भोगनेवाला है। इसलिये इस संसारमें यदि तुझे सुख भोगनेकी अभिलाषा है तो तुझे एक शुभ कर्म ही करना चाहिये।

(१८) शास्त्रकारोंने सच कहा है कि जब बुरे दिन आते हैं अर्थात् अशुभ कर्मका उदय होता है तब सुधा विषकी तरह, रस्सी सर्पके समान, बिल पातालके समान, प्रकाश अन्धकारके समान, गोष्पद सागरके समान, सत्य असत्यके समान और मित्र शत्रुके समान हो जाते हैं। इस प्रकार विचारकर विचारशील पुरुषोंको धैर्यसे काम लेना चाहिये।

(१९) शास्त्रकारोंने सच कहा है कि धन-हीन मनुष्य सौ रुपये चाहता है, सौवाला हज़ार चाहता है, हज़ारवाला लाख चाहता है, लाखवाला करोड़की इच्छा करता है, करोड़पति राज्य चाहता है, राजा चक्रवर्तित्व चाहता है, चक्रवर्ती देवत्वकी इच्छा करता है और देव इन्द्रत्व चाहता है। इस तरह लोभी मनुष्यको कभी भी सुख या सन्तोषकी प्राप्ति नहीं होती। किसीने सच कहा है कि जिस प्रकार इन्धनसे अग्नि और जलसे समुद्र कभी भी तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार धनसे लोभी भी कभी तृप्त नहीं होता। उसे यह भी विचार नहीं होता कि आत्मा जब समस्त ऐश्वर्यको त्यागकर पर-भवमें चला जाता है, तब व्यर्थ ही पापकी गठरी मैं क्यों बाधूँ ?

(२०) कलुषताको उत्पन्न करनेवाली, जड़ताको बढ़ानेवाली, धर्मवृक्षको निर्मूल करनेवाली, नीतिसे शत्रुता रखने वाली, दया और क्षमा रूपी कमलिनीको निर्मूल करने वाली, लोभ समुद्रको बढ़ानेवाली, मर्यादाके तटको तोड़ गिरानेवाली और शुभ-भावना रूपी हंसोंको खदेड़ देनेवाली परिग्रह रूपी नदीमें जब बाढ़ आती है, तब ऐसा कौन दुःख है, जिसकी मनुष्यको प्राप्ति नहीं होती हो ? कहनेका मतलब यह है कि परिग्रह-परिमाण बढ़नेपर लोभ-दशा बढ़ जाती है और उससे मनुष्यपर नाना प्रकारके संकट आ पड़ते हैं। इसलिये लोभ-वृत्तिका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(२१) शास्त्रकारोंने सच कहा है कि धनका सदुपयोग करनेसे इस जन्ममें सुख मिलता है और दान देनेसे परभव सुधरता है। किन्तु हे बन्धुओ! धनका यदि सदुपयोग न किया जाय, न दान ही दिया जाय तो धन प्राप्त होनेसे क्या लाभ ?

(२२) लक्ष्मीको शास्त्रकारोंने अनित्य–अस्थिर–चञ्चल आदि विशेषण दिये हैं। वे ठीक ही हैं। इतिहास-पुराण इस बातके दृष्टान्तोंसे भरे पड़े हैं और विचारशील पुरुषोंके प्रत्यक्ष अनुभवोंकी भी इसी प्रकारकी प्रतीति होती है। लेकिन इसको सफल करनेका भी उपाय शास्त्रकारोंने बतलाया है। और वह उपाय है एक दान। दान शास्त्रकारोंने पाँच प्रकारका बताया है:— (१) अभय दान, (२) सुपात्र दान, (३) अनुकम्पा दान, (४) उचित दान और (५) कीर्त्तिदान। इनमेंसे प्रथम दो दान मोक्षके निमित्त और अन्तिम तीन दान इस लोकमें भोगादिकके निमित्त हैं। जो पुरुष अपनी लक्ष्मीको पुण्य कार्यमें व्यय करता है, उसे वह बहुत चाहती है। दानी पुरुषोंको बुद्धि खोजती है, कीर्त्ति देखती है, प्रीति चुम्बन करती है, सौभाग्य सेवा करता है, आरोग्य आलिङ्गन करता है, कल्याण उसके सम्मुख आता है, स्वर्ग-सुख उसे वरण करता है और मुक्ति उसकी वाञ्छा करती है। दान चाहे जिसको दिया जा सकता है, किन्तु सुपात्रको दान देनेसे सदा अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है।

(२३) जिस प्रकार निघर्षण, छेदन, ताप और ताड़नसे सोनेकी परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया इन चारोंसे धर्मकी परीक्षा होती है।

(२४) इसके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमेंसे प्रधान पुरुषार्थ धर्म है। धर्म स्वाधीन होनेपर शेष तीन पुरुषार्थ भी शीघ्र ही स्वाधीन हो जाते हैं। शास्त्रकारोंने सत्य कहा है कि संसारमें मनुष्यजन्म सारभूत है; इसमें भी तीन वर्ग सारभूत हैं; तीन वर्गमें भी धर्म सारभूत है; धर्ममें भी दान धर्म और दानमें भी विद्या और अभय दान श्रेष्ठ है। क्योंकि वही परमार्थ-सिद्धिका मूल कारण है। इस कारण दुर्लभ मनुष्य जन्म मिलनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिये और मनुष्य जन्मको वृथा न गँवाना चाहिये। इस सम्बन्धमें तीन वणिक्-पुत्रोंका उदाहरण प्रसिद्ध है। वे तीन वणिक्-पुत्र घरसे समान धन लेकर व्यापार करने निकले। इनमेंसे एकको लाभ हुआ, दूसरेने अपने मूल धनको ज्योंका त्यों सुरक्षित रक्खा और तीसरेने मूल धन भी खो दिया। धर्मकी भी ऐसी ही अवस्था है। कोई मनुष्यजन्म मिलनेपर उसे बढ़ाता है, कोई ज्योंका त्यों रखता है और कोई जो होता है उसे भी खो बैठता है।

इस दृष्टान्तमें बहुत ही गूढ़ सिद्धान्त छिपे हुए हैं:—

तीनों पुत्रोंका पिता गुरुके समान है। तीनों पुत्रोंका तात्पर्य सर्वविरति, देशविरति और अविरतिसे है। मूल धन रूपी तीन

रत्नोंकी जगह ज्ञान, दर्शन और चारित्रको समझना चाहिये। तीनों प्रकारके जीव इन रत्नोंसे व्यापार करनेकेलिये मनुष्यजन्म रूपी नगरमें आते हैं। इनमें प्रमाद न कर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि करनेवाले सर्वविरत जीव देवगतिको प्राप्त करते हैं। दूसरे प्रकारके जीव जो अप्रमादसे व्यापार कर मूल धनको सुरक्षित रखते हैं, उन्हें पुनः मनुष्य जन्म मिलता है और वे सुख-भोग करते हैं। तीसरे प्रकारके जीव प्रमादके कारण—निद्रा और विकथा आदिके फेरमें पड़कर अपना मूल धन भी खो बैठते हैं। अतएव उन्हें रौरव नरककी प्राप्ति होती है।

(२५) मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, इन पाँच प्रमादोंके कारण मनुष्यको संसारमें बार-बार भटकना पड़ता है। इसलिये मनुष्यजन्म मिलनेपर धर्म-सेवनमें प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(२६) अधिक आरम्भ और अधिक परिग्रहसे तथा मांसाहार और पञ्चेन्द्रिय जीवके वधसे प्राणी नरकमें जाते हैं। जो लोग निःशील, निर्व्रत, निर्गुण, दयारहित और पच्चक्खाणरहित होते हैं; वे मृत्यु होनेपर सातवें नरकमें नारकीके रूपमें उत्पन्न होते हैं।

(२७) अहिंसाके समान कोई धर्म नहीं है, सन्तोषके समान कोई व्रत नहीं है, सत्यके समान कोई शौच नहीं है और शीलके समान कोई भूषण नहीं है।

(२८) सत्य प्रथम शौच है, तप दूसरा शौच है, इन्द्रिय-निग्रह तीसरा शौच है और प्राणीमात्रपर दया करना चौथा शौच है।

(२९) अभय दान ही सच्चा दान है, तत्त्वार्थ-बोध ही सच्चा ज्ञान है, विकाररहित मन ही सच्चा ध्यान है।

(३०) शास्त्रकारोंने कहा है कि मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। पुरुष जिस तरह स्त्रीको आलिङ्गन करता है, उसी तरह पुत्रीको भी आलिङ्गन करता है, किन्तु दोनों अवस्थाओंमें उसकी मनः-स्थितिमें जमीन-आसमान-जितना अन्तर होता है। समताका अवलम्बन कर पुरुष अनेक कर्मोंके दलोंको थोड़े समयमें क्षय कर सकता है।

(३१) धर्मका मूल विनय और विवेक है। तप और संयम विनयपर ही निर्भर हैं। जिसमें विनय नहीं, उसकेलिये तप कैसा और धर्म कैसा? विनयी और विवेकी पुरुष लक्ष्मी, यश और कीर्तिको प्राप्त करता है। पर्वतोंमें जिस तरह मेरु, ग्रहोंमें जिस प्रकार सूर्य और रत्नोंमें जिस प्रकार चिन्तामणि श्रेष्ठ है, उसी प्रकार गुणोंमें विनय और विवेक श्रेष्ठ हैं। विवेक और विनय बिना अन्य सभी गुण निर्गुणसे हो जाते हैं। किसीने सत्य कहा है कि जिस प्रकार नेत्रोंके बिना रूप शोभा नहीं देता, उसी प्रकार विवेक और विनय बिना लक्ष्मी शोभा नहीं देती। इस कारण प्रत्येक हितार्थी मनुष्यको विनयवान् व विवेकवान् होना अत्यन्त आवश्यक है।

(३२) विनय और विवेक प्राप्त करनेकेलिये सत्संगकी आवश्यकता पड़ती है। संगति करनेके पहले यह अच्छी तरह देख लेना चाहिये कि जिस मनुष्यकी मैं संगति करना चाहता हूँ वह सज्जन है या नहीं। जो सज्जन हो उसीकी संगति करनी चाहिये। सज्जनोंकी संगतिसे सिवाय लाभके हानि नहीं होती। शास्त्रमें संगति करने योग्य सज्जनोंके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं:—

जो दूसरोंके दोषोंको द्वेष-बुद्धिसे प्रगट न करते हों; दूसरोंमें गुण थोड़े भी हों तो भी उनकी प्रशंसा करते हों; दूसरोंकी संपत्ति देखकर जलते न हों, प्रत्युत संतुष्ट होते हों; दूसरोंकी विपत्तिमें सहानुभूति प्रगट करते हों और हो सकता हो तो सहायता भी करते हों; आत्म-प्रशंसा न करते हों; न्याय-नीतिके मार्गका उल्लङ्घन न करते हों; अपनेलिये अप्रिय व्यवहार करनेवालेके साथ भी प्रियकर और हितकर व्यवहार करते हों और क्रोध, मान, माया तथा लोभसे दूर रहते हों।

इस प्रकारके सज्जनोंकी संगति करनेसे अनेक लाभ होते हैं:—

मोह नष्ट होता है; विवेक उत्पन्न होता है; प्रेमकी वृद्धि होती है; नीति-मार्गपर चलनेकी इच्छा होती है; विनयकी प्राप्ति होती है; यशका प्रसार होता है; धर्मानुकूल चलनेका अभ्यास पड़ता है; अनेक मनोरथोंकी सिद्धि होती है; कोई संकट आ पड़ा हो तो उससे सुगमतासे निकलनेका मार्ग सूझता है और किसी भी प्रकारके व्यसनमें फँसनेसे मनुष्य बचा रहता है।

इसलिये हे मुमुक्षो ! यदि तू उपरोक्त प्रकारका सुखी और गुणी बनना चाहता हो तो तुझे उक्त प्रकारके साधुजनों—सत्पुरुषोंकी संगति अनुरागपूर्वक और प्रयत्नपूर्वक कर।

(३३) सुदेवमें देव बुद्धि, सुगुरुमें गुरु-बुद्धि और सुधर्ममें शुद्ध धर्म-बुद्धि रखनेको 'सम्यक्त्व' कहते हैं और कुदेवमें देव-बुद्धि, कुगुरुमें गुरु-बुद्धि और कुधर्ममें धर्म-बुद्धि रखनेको 'मिथ्यात्व' कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि सुदेव, सुगुरु और सुधर्म किसको कहना चाहिये ? उत्तर इस प्रकार है:—

सुदेव—रागद्वेषसे रहित, मोह महामल्लका नाश करनेवाले, केवलज्ञान-केवलदर्शन-युक्त, देव और दानवोंके पूज्य, सद्भूतार्थके उपदेशक और समस्त कर्मोंका क्षयकर परम पदको प्राप्त करनेवाले वीतराग भगवान्को 'देव' कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त तप, अनन्त बल-वीर्य, अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, चौंतीस अतिशय, पैंतीस वाणी गुण और एक हजार आठ उत्तम लक्षण युक्त हों; चासठ इन्द्रोंके पूजनीय हों; कषायरहित, रागद्वेषरहित, शोकचिन्तारहित, भयरहित और ममत्वरहित हों; अहिंसा व्रतके पालनेवाले तथा महादयालु हों और जो समस्त कर्मोंका क्षय कर परम पदको प्राप्त कर चुके हों, ऐसे वीतरागको "देव" कहते हैं।

सुगुरु—जो सर्व प्रकारकी हिंसाका त्याग कर चुके हैं; जब बोलते हैं, तब सत्य ही बोलते हैं; किसी प्रकारका परिग्रह अर्थात् धन आदि नहीं रखते हैं; किसीकी बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं; नौ बाढ़ों सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते हैं; क्रोध, मान, माया और लोभका त्याग करते हैं; पाँच इन्द्रियसम्बन्धी कोई विषय-सेवन नहीं करते; सदा ज्ञान, ध्यान और तपस्यामें मग्न रहते हैं; न किसीसे राग और न किसीसे द्वेष करते हैं; सदा सरल-परिणामी हैं तथा जो अन्य अनेक गुणयुक्त हैं, ऐसे मुनियोंको 'गुरु' कहते हैं +।

सुधर्म—अनादिकालसे आत्माके साथ लगे हुए कर्मोंको नष्ट कर जो जीवोंको सांसारिक दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें पहुँचाता है, उसे 'धर्म'-'सुधर्म' * कहते हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बन्ध-हेतुओंके ÷ कारण जीव कर्मोंका बन्ध किया करता है। इस बन्धके

+ "विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते॥"
—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

* "देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे॥"
—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

÷ अगाड़ी इनका विस्तृत वर्णन किया गया है।

कारण यह जीव-आत्मा चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता है और नाना प्रकारके दुःख उठाता है। इस संसार-परिभ्रमण और दुःख-सहनसे जीव छुटकारा तभी पा सकता है, जब वह इसके पूर्वोक्त मिथ्यात्व-अविरति आदि कारणोंको छोड़ दे। क्योंकि संसार-परिभ्रमण और दुःख-सहनके ये ही तो कारण हैं। कारणके अभाव होजानेपर ही कार्यका अभाव हो सकता है। इसलिये मिथ्यात्व-अविरति आदि बन्ध-हेतुओंके छोड़नेका जिसमें उपदेश हो वही सुधर्म है और वही जीवका कल्याणकारी है।

(३४) मिथ्यात्व सर्वथा और सर्वदा त्याज्य है। मिथ्यात्वसे जीव अनन्त काल तक संसारमें भ्रमण करता है। मिथ्यात्व नाना प्रकारके दुःख दिया करता है। यह जीवका बड़ा शत्रु है। इस कारण इसको त्याग कर सम्यक्त्वको अङ्गीकार करना चाहिये। शास्त्रकारोंने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव केवल एक अन्त-मुहूर्त सम्यक्त्व धारण कर ले तो उसकेलिये संसार अर्धपुद्गल-परावर्तन मात्र रह जाता है*। करोड़ों जन्म-जन्मातरोंके बाद कहीं मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इस कारण इसे व्यर्थ न गँवा कर

* मोक्ष जानेवाले जीवका अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गलपरावर्तन काल (समयकी एक संख्या-विशेष) जब बाक़ी रह जाता है, तब उसे सम्यक्त्व (आत्मश्रद्धान—आत्मरुचि) अवश्य उत्पन्न होता है। यह नियम है।

धर्मकी आराधनामें सदा तत्पर रखना चाहिये। धर्माराधनाका अवसर मिलनेपर विवेकी पुरुषको उसमें किसी भी कारणसे प्रमाद न करना चाहिये। हे बन्धुओ ! इस असार संसारमें केवल एक धर्म ही सार है। इसलिये धर्मकी ही आराधना करनी चाहिये।

(३५) हे भव्य प्राणियो ! अगर यथार्थमें इस संसारमें देखा जाय तो सिवाय दुःखके सुखका लेश मात्र भी नहीं है। प्राणियोंके लिये जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रियोंका संयोग भी दुःख है, प्रियोंका वियोग भी दुःख है, इच्छा करनेपर स्त्री–सन्तान–धन आदि वस्तुओंके न मिलनेपर भी दुःख है। संक्षेपमें यों कहना चाहिये कि जिधर देखो उधर दुःख-ही-दुःख दिखाई पड़ता है। इस कारण अगर बन्धुओ ! दुःखोंसे बचना है और सुखकी चाह है तो इस अपार संसार-सागरमें मूल्यवान् महारत्नकी भांति मनुष्य-जन्मको शुभ कर्मों अर्थात् धर्म द्वारा सफल बनाना परम आवश्यक है। हे महानुभावो ! तत्त्वज्ञान अर्थात् धार्मिक ज्ञानके बिना सांसारिक विद्याओंका ज्ञान भी व्यर्थ है। जिस प्रकार शील-रहित सुन्दर स्त्री प्रशंसा-योग्य नहीं होती।

(३६) शास्त्रकारोंने कहा है कि अनेक जन्मों तक तप करनेसे भी जो कर्म क्षीण नहीं होते, वे समता भावके अवलम्बन करनेसे शीघ्र क्षीण हो सकते हैं।

(३७) अन्तरङ्गमें वीतरागका ध्यान करनेसे ध्याता वीत-राग हो जाता है। इस कारण समस्त अपध्यानोंको दूर कर शुभ ध्यानका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। स्थान, यान, अरण्य, जन, सुख या दुःखमें मनको वीतरागपनेमें जोड़ रखना चाहिये, ताकि वह सदा उसीमें लीन रहे।

(३८) इन्द्रियोंका मालिक मन है। मनका मालिक तप है और तपका मालिक निरञ्जन है। मनुष्यके पास तीन शक्तियाँ हैं—मन, वचन और काय। या यों कहना चाहिये कि मन, वचन और कायका जो पुञ्ज है, वही मनुष्य है। हैं तो ये तीन शक्तियाँ अलग अलग, किन्तु काम करती हैं मिल कर। कहनेको तो ये तीनों समान अधिकार रखती हैं, पर वास्तवमें परस्परमें इनका स्वामी-सेवकका संबन्ध है। मन स्वामी है और वचन और काय सेवक। मनमें जैसे कुछ भी-अच्छे या बुरे विचार आते हैं, वचन और कायकी प्रवृत्ति वैसी ही होती है। मनुष्यके भले-बुरे बननेका कारण ही मन है—मनके विचार हैं। मनुष्य यदि सत्साहित्यका अवलोकन करेगा, साधु-सज्जन पुरुषोंके संसर्गमें आयेगा अर्थात् मनमें अच्छे विचार करेगा, तो वह अवश्य ही अच्छा बन जायगा। इसीलिये शास्त्रकारोंने एक जगह मनके विषयमें लिखा है—

"मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः"

अर्थात मनुष्योंका मन ही बन्धका कारण है और मन ही मोक्षका कारण है। इस कारण सुज्ञ जनोंको रस्सीसे बँधे हुए बैलकी तरह मनको अवश्य वशमें रखना चाहिये।

(३६) जिस प्रकार पुष्पमें सुगन्ध, दूधमें घी, तिलमें तेल और कायमें आत्मा स्थिर रहती है, उसी प्रकार आत्मामें ज्ञान रहता है। वह उद्यम व उपाय करनेसे प्रकट हो सकता है। आवश्यकता है पुरुषार्थ करनेकी।

(४०) शास्त्रकारोंने कहा है कि पवित्रतामें परम पवित्र शील है, गुणोंमें परम गुण शील है और तीनों लोकोंमें प्रभाव तथा महिमाका धाम यदि कोई वस्तु है तो वह केवल शील है। अश्वका उत्तम भूषण वेग है, स्त्रीका उत्तम भूषण पति है, तपस्वीका उत्तम भूषण कृशता है, ब्राह्मणका उत्तम भूषण विद्या है और मुनिका उत्तम भूषण क्षमा है, किन्तु शील तो सभी प्राणियोंका उत्तम भूषण है। इसलिये ब्रह्मचर्यका पालन सभीको अवश्य करना चाहिये। ब्रह्मचर्य पालन करनेकेलिये उसकी निम्न-लिखित नौ वाड़ें अवश्य पालन करना चाहिये:—

१—जिस स्थानमें स्त्री रहती हो या जिसस्थानके पास स्त्रीका वास हो, उस उपाश्रयका मुनिको त्याग करना चाहिये।

२—स्त्रीसे एकान्तमें या बिना प्रयोजन बात नहीं करनी चाहिये।

३—जिस आसनपर स्त्री बैठी हो या सोई हो उस आसनका दो घड़ीकेलिये त्याग करना चाहिये।

४—स्त्रियोंके अङ्गोपाङ्गोंको ध्यानपूर्वक न देखना चाहिये। इसके अलावा स्त्रीके स्वरूपको ध्यान तकमें न लाना चाहिये।

५—जिस घरमें स्त्री-पुरुष सोते हों या जिस जगहसे हाव-भाव-विलास-हास्यादिकी आवाज़ सुनाई देती हो, वहाँ दीवारका अन्तर न होनेपर ब्रह्मचारीको नहीं रहना चाहिये।

६—पूर्व कालमें स्त्रीके साथ जो क्रीड़ा आदि की हो, उसका स्मरणमात्र भी नहीं करना चाहिये।

७—अत्यन्त स्निग्ध आहार—जिस पदार्थके सेवनसे कामोद्दीपन होनेकी सम्भावना हो, का त्याग करना चाहिये।

८—ज्यादा आहार न करना चाहिये।

९—आभूषण, सुन्दर वस्त्र, स्नान, मञ्जन और अङ्ग-शोभा आदिका भी ब्रह्मचारीको त्याग करना चाहिये।

जो व्यक्ति इन नौ मर्यादाओंका ध्यानपूर्वक पालन करेगा, वही ब्रह्मचर्यको पाल सकता है।

गृहस्थमें पुरुषको स्वदार-सन्तोष व्रत और स्त्रीको स्वपुरुष-सन्तोष व्रत धारण करना चाहिये। जो लोग विषयाकुल हों, मनसे भी शीलका खण्डन करते हों, वे 'मणिरथ' राजाकी तरह घोर नरक

के अधिकारी होते हैं और जो सती 'मदनरेखा'की भांति निर्मल शीलका पालन करते हैं. वे भाग्यवान् जीवोंमें सम्मानित होकर सुगतिका उपार्जन करते हैं।

(४१) हे भव्यप्राणियो! मनुष्यको अपने वैभव, सम्पत्ति, रूप, बल, बड़प्पन आदि बातोंपर कभी अभिमान नहीं करना चाहिये क्योंकि इस असार संसारमें एक वस्तु भी ऐसी दृष्टि नहीं आती जो सदैव ही एक स्थितिमें रहती हो। जैसे जिस बालकको हम सांसारिक वासनारहित पालनेमें झूलता देखते हैं. वही कुछ काल बाद, जवानीके मदसे मस्त, सांसारिक मोहक पदार्थोंमें परिवेष्टित हमें दिखाई देता है। जो अपने शरीर-बलसे—मदसे उन्मत होकर पृथ्वीपर पैर रखना भी लज्जास्पद समझता है, वही बुढ़ापेमें लकड़ीके सहारे टकटक करता चलता है। जिस सूर्यको हम सवेरे ही अपनी प्रखर प्रतापी किरणें फैलाते हुये उदयाचलके सिंहासनपर आरूढ़ होता हुआ देखते हैं, वही संध्याके समय निस्तेज हो, क्रोधमें लाल बन अस्ताचलकी गहन गुफामें छिपता हुआ दिखाई देता है। जिसके घर ऋद्धि-समृद्धि छलकी पड़ती थी, वही आज दर-दरका भिखारी बन रहा है। जिस मनुष्यके रूपलावण्यपर जो लोग मुग्ध हो जाते थे, आज वे ही उसको देख कर घृणासे मुँह फेर लेते हैं। लाखों-करोड़ों मनुष्य जिनकी आँखके इशारेपर चलते थे, उन्हीं चक्रवर्तियोंको निर्जन वनोंमें निवास करना पड़ा है; इत्यादि। इस कारण विचारशील मनुष्यको

प्रत्येक अवसरसे लाभ उठाना चाहिये और अपने मनुष्य-जन्मको सफल बनाना चाहिये।

(४२) धर्म एक विज्ञान या विद्या है, जिसका अभिप्राय मनुष्य को संसारके दुःखों, आतापों और आवागमनके चक्रसे छुड़ाकर उत्तम सुख अर्थात् परमानन्द अवस्थामें सदाकेलिये स्थिर करना है।

(४३) धर्मकार्य करनेसे मनुष्यका केवल यही अभिप्राय होना चाहिये कि उसको अनन्त अविनाशी अक्षय सुखकी प्राप्ति हो, जो कि संसारी अवस्थामें नहीं मिल सकता है।

(४४) अधिकतर मनुष्योंके संसारमें धन-दौलत, मान-मर्यादा, स्त्री-पुत्र, भोग विलास इत्यादि उद्देश्य हुआ करते हैं, परन्तु ये सब-के-सब केवल इन्द्रिय-सुख हैं, जो वास्तवमें सुख नहीं हैं। किन्तु सुखाभास हैं, जोकि स्थूल दृष्टिसे देखनेवालोंको सुखसमान मालूम होते हैं। इसका कारण यह है कि यह सुख क्षणिक है। इनसे आत्माकी तृप्ति आजतक नहीं हुई है, हालां कि यह जीव इस प्रकारके सुखोंको अनन्त कालसे भोगता आता है।

(४५) विद्वानोंने इन्द्रियोंको दहकती हुई अग्निकी भांति कहा है, क्योंकि जितना-जितना सुख और भोग विषयरूप ईंधन इन अग्निरूप इन्द्रियोंपर डाला जाता है, उतनी-उतनी उनकी इच्छारूपी ज्वाला प्रचण्ड होती जाती है*।

* "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

(४६) अज्ञानी पुरुष संसारकी चमक-दमक और वेष-भूषा-को देखकर प्रसन्न होते हैं। परन्तु मृत्यु किसी क्षण भी इस बातको जताने—याद दिलानेमें त्रुटि नहीं करती है कि यह दुनियाँ केवल एक प्रकारकी सराय अथवा धोकेकी टट्टी है, जहाँपर कि सदैवके लिये ठहरना सर्वथा असम्भव है।

(४७) संसारमें मनुष्यका जीवन बहुत अल्प है। इस तुच्छ जीवनकेलिये यह अज्ञानी जीव नाना प्रकारके प्रपञ्च, जंजाल व झूठे ढोंग रचता है। पर यह अज्ञानी इस बातको नहीं जानता है कि बजाय दूसरोंके फँसानेके मैं स्वयं ही इन जालोंमें फँस जाऊँगा। जिस प्रकार एक मकड़ी अपने बनाये हुए जालमें स्वयं फँस जाती है। एक समय इन संसारी जालोंसे मुक्त होना तो सम्भव है, पर कर्मरूपी जालोंसे बचना सर्वथा असम्भव है। इस कारण मनुष्य को संसारमें अपने जीवनको शुभकार्यों द्वारा सफल बनाना चाहिये।

(४८) यह संसार बड़ा विचित्र है तथा गहन है क्योंकि इसमें दुःखरूपी अग्निकी ज्वाला धधक रही है। इसमें जो इन्द्रियाधीन सुख हैं, वे अन्तमें विरस हैं अर्थात दुःखके कारण हैं और जो काम और अर्थ हैं, वे अनित्य हैं अर्थात् सदा नहीं रहते। इसलिये भव्य जनोंको अमूल्य मनुष्य-जन्मको नष्ट न करके उसे सार्थक बनाना चाहिये।

(४९) हे आत्मन ! शरीरको तू रोगोंसे छिदा हुआ समझकर, यौवनको बुढ़ापेसे घिरा हुआ जानकर, ऐश्वर्य तथा सम्पदाओंको

विनाशीक और जीवनको मारणान्तिक जानकर अपने अमूल्य मनुष्य-जन्मको व्यर्थ न गँवा।

(५०) इस जगत्में समय पुकार २ कर कह रहा है कि हे भव्य प्राणियो! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, उसे शीघ्र कर डालो। नहीं तो बादमें पछताना पड़ेगा। क्योंकि जो समय अथवा घड़ी निकल जाती है, हजार यत्न करनेपर भी वह वापिस नहीं लाई जा सकती। इस कारण चतुर मनुष्योंको समयका सदा सद्-उपयोग करनेकेलिये तत्पर रहना चाहिये।

(५१) हमारे देखते-देखते पुत्र, बन्धु, स्त्री, मित्र आदि चले जाते हैं अर्थात् कालको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार एक दिन यह हमारा आत्मा इस नाशवान शरीरको छोड़कर रवाना होजायगा। इस कारण हमको सबसे पहले विनाशीक शरीरद्वारा अपने जन्मको उत्तम व उच्च कार्योंसे सफल बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

(५२) देखो! मनुष्योंका प्रवर्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा पीछा नहीं छोड़ती है, किन्तु बढ़ती जाती है। तथा आयु तो दिन-दिन घटती जाती है और अशुभ कर्मोंमें बुद्धि बढ़ती ही जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान होता है और यह प्राणी अपने हित व कल्याण-मार्गमें नहीं लगता है। यह सब अज्ञानका माहात्म्य है।

(५३) जिस प्रकार पक्षी नाना दिशाओंसे आ-आकर सन्ध्याके समय वृक्षोंपर बसते हैं और सुबह होते ही उड़-उड़ कर चले

आते हैं, उसी प्रकार प्राणी भी इस संसाररूपी वृक्षमें आ-आ कर बसते हैं और रात्रिके समान कुछ समय यहाँ रह-रह कर चल बसते हैं। इस कारण इस अल्प समयको विचारशील पुरुषोंको नष्ट न करके सदा उपयोगमें लाना चाहिये।

(५४) इस जगत्‌में जितने भी राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, देवता, इन्द्र आदिके सुख, वैभव व ऐश्वर्य हैं, वे सब क्षणिक अर्थात् शामके चमकीले बादलोंके समान हैं। जो देखनेमें अतिसुन्दर दीख पड़ते हैं, परन्तु देखते-देखते ही बिलाय जाते हैं।

(५५) यह काल बड़ा बलवान है। जैसे यह बालकको प्रसता है, वैसे ही वृद्धको प्रसता है. जैसे धनाढ्य पुरुषको प्रसता है, उसी प्रकार यह दरिद्रको प्रसता है और जिस प्रकार यह शूरवीरको प्रसता है, उसी प्रकार कायरको प्रसता है। इसी प्रकार यह जगत्‌के समस्त जीवोंको प्रसता है। यों कहना चाहिये कि किसीको इसका विचार नहीं है। इस कारण विचारवान पुरुषोंका यही कर्तव्य है कि पूर्व-से-पूर्व ही इसके स्वागत करनेकेलिये उन्हें तय्यार रहना चाहिये। ताकि अन्त समय पछताना न पड़े।

(५६) जिस समय प्राणीका अन्त आ जाता है, उस समय उसको उसके सगे-सम्बन्धी, मित्र-दोस्त, डाक्टर-वैद्य, धन-वैभव आदि कोई भी नहीं बचा सकते। इस कारण विचारवान पुरुषोंका यही कर्तव्य है कि वे शान्तिके साथ समाधिमरण करें, जिसको 'पण्डितमरण' भी कहते हैं।

(५७) प्राणीपर जो दुःख अथवा वेदना पड़ती है, उसको कोई भी बँटानेमें समर्थ नहीं है। वह स्वयं उसे ही भोगनी पड़ती है। अब यह उसकी बुद्धिपर निर्भर है कि उसे चाहे वह रो-पीटकर या चिल्ला कर भोगे या शान्ति भावसे बरदाश्त करे। शास्त्रकारोंने तो ऐसे अवसरकेलिये यह फरमाया है कि जीवके ऊपर जब दुःख या मुसीबत आवे तो उसे वह शान्ति भावसे बरदाश्त करे।

(५८) यह जीव जो अशुभ कर्म अपने पुत्र, स्त्री, कुटुम्बियों, मित्र आदिकेलिये करता है, उनका बुरा फल वह नरक आदि गतियोंमें स्वयं भोगता है। वहाँ उसके पुत्र, स्त्री आदि कोई भी नरकके दुःखोंको भोगनेकेलिये साथी या सहायक नहीं होते हैं।

(५९) यह प्राणी बुरे-भले कार्य करके जो धनोपार्जन करता है, उस धनको भोगनेको तो पुत्र-मित्र आदि अनेक साथी होजाते हैं, परन्तु अपने कर्मोंसे उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दुःखोंके समूहको सहनेकेलिये कोई भी साथी नहीं होता है। हे जीव! तुझको अकेले ही सब दुःखोंको भोगना पड़ेगा। यह विचारकर भव्य-प्राणियोंको उचित है कि वे अशुभ कर्मोंसे सदा बचते रहें।

(६०) मनुष्यको सदा मैत्रीभावना भाते रहना चाहिये। जैसे कि संसारके प्राणीमात्र सदा आपदाओं व दुःखोंसे वर्जित हों तथा वैर, पाप, अज्ञान आदिको छोड़कर सुखको प्राप्त हों।

(६१) मनुष्यको सदा करुणाभावना भाते रहना चाहिये। जैसे कि जो जीव दीनतासे तथा शोक, भय और रोगादिकी पीड़ासे

दुःखित हों, पीड़ित हों तथा वध-बन्धन सहित रोके हुए हों अथवा अपने जीवनकी वाञ्छा करते हों कि कोई हमारी रक्षा करे, ऐसी दीन प्रार्थना करनेवाले हों तथा क्षुधा, तृषा, खेद आदिकसे पीड़ित हों तथा शीत उष्णतादिकसे पीड़ित हों तथा निर्दय पुरुषोंकी निर्दयता से रोके हुए मरणके दुःखको प्राप्त हों तो इस प्रकारके दीन, दुःखी जीवोंके कष्ट व दुःखोंको दूर करनेका उपाय करते रहना चाहिये और मुक्त करा देना चाहिये।

(६२) मनुष्यको सदा प्रमोदभावना भाते रहना चाहिये। जैसे कि पुरुष तप, शास्त्राध्ययन और यम-नियमादिकके पालनेमें संलग्न हों; ज्ञान ही जिनके नेत्र हों; इन्द्रियाँ, मन और कषायोंको जीतने वाले हों; स्वतत्त्वाभ्यास करनेमें चतुर हों; जगत्को चमत्कृत करनेवाले चारित्रसे जिनकी आत्माएँ आश्रित हों; ऐसे पुरुषोंके गुणोंमें मेरा चित्त अनुरक्त रहे।

(६३) मनुष्यको सदा माध्यस्थ्य भावना भाते रहना चाहिये। जैसे कि कोई अज्ञानी जीव अपने ऊपर मिथ्या आक्षेप लगावे; कटु वचन बोले; अनुचित व्यवहार करे या अपने अहितकेलिये प्रयत्न करे तो उसकेलिये भी मेरे चित्तमें क्रोध न उपजे—उससे मैं शत्रुताका व्यवहार न करूँ—उससे उदासीन—माध्यस्थ्य भाव रक्खूँ।

(६४) जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने ही मुखसे तारोंको निकालकर अपनेको उसमें लपेट लेता है और अन्तमें नाना प्रकारके

दुःख भोगता हुआ कालको प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार हम अज्ञानी प्राणी भी अपने हित-अहितको न देखते हुए अपने अशुभ कर्मोंमें अपनेको इस बुरी प्रकार बाँध लेते हैं कि जिससे हमें भारी वेदना व दुःख भोगना पड़ता है। यहाँ तक कि भोगते हुए पीछा नहीं छूटता है और अन्तमें मृत्युको प्राप्त करना पड़ता है।

(६५) जिन्होंने इन्द्रियोंके विषय भोगनेकी तृप्तिको नहीं रोका, उग्र परिषहें नहीं जीतीं और मनकी चपलता नहीं छोड़ी, वे मुनि आत्माके निश्चयसे निश्चयसे च्युत होजाते हैं।

(६६) मनुष्यता पाकर उसमें भी फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण कर विद्वानोंको अपना हित विचार कर अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिये।

(६७) जिन मुनियोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धताकेलिये उत्कट मिथ्यात्वरूपी विष वमन नहीं किया, वे तत्त्वोंको प्रमाणरूप नहीं जान सकते हैं; क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि इसका लेशमात्र भी यदि हृदयमें रहे तो तत्त्वार्थका ज्ञान-श्रद्धान प्रमाण रूप नहीं होता।

(६८) मुनिपना संसारमें सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। चक्रवर्ती और इन्द्र भी इस पदको अपना मस्तक झुकाते हैं। आत्म-हितका यह साक्षात् साधन है और इसीकेलिये यह पद स्वीकार किया जाता है। लेकिन कितने ही निर्दय और निर्लज्ज प्राणी इस पदको स्वीकार

कर धनोपार्जन करते हैं—इस पदको अपनी आजीविकाका साधन बना लेते हैं। वे लोग ऐसे ही हैं जैसे कि जो लोग अपनी पूजनीया मातासे वेश्यावृत्ति कराकर अपना ऐश-आराम भोगते हों। एक वे भी लोग हैं जो करोड़ोंकी सम्पत्ति छोड़कर, चक्रवर्त्तित्व छोड़कर इस पदको अपनाते हैं और एक ये भी हैं जो उससे धनोपार्जनकी आशा रखते हैं! भाई! धनोपार्जनका तो मार्ग ही दूसरा है। यह पद तो उसे छोड़ देनेके बाद प्राप्त होता है।

(६९) मनको गन्दे विचारोंसे अलग रखनेका उपाय:—

१—नवकार मन्त्रका जाप करना, २—आलस्यसे बचना ३—कुसंगसे सदा दूर रहना, ४—बुरी किताबों व उपन्यासोंको नहीं पढ़ना, ५—नाच-तमाशा, नाटक-चेटक आदिमें नहीं जाना, ६—अपने खान-पान, रहन-सहन और जीवनपर विचार करते रहना, ७—इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोकना, ८—जब-जब बुरे विचार उठें, उसी समय उनको चित्तसे निकाल देना, ९—एकान्त स्थानमें बैठकर मन और इन्द्रियोंकी वृत्तिको रोककर ध्यान करना, १०—परमार्थी शिक्षाओंको सदा याद रखना, ११—सदा मृत्यु और नरकोंके कष्टोंको याद करते रहना।

(७०) अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त बल, दया, क्षमा, सन्तोष, परोपकार आदि आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। लेकिन कर्मके संयोगसे इनका अनुभव इस संसारी जीवको नहीं होता। इसके कारण यह सदैव क्लेशित रहता है।

(७१) कर्मोंके अभावमें आत्माका स्वाभाविक गुण प्रगट हो जाता है और स्वाभाविक दशाको प्राप्त कर यह जीव अतिप्रसन्न हो जाता है। इसकी यह स्वाभाविक दशा ही मुक्ति है—मोक्ष है—परमधाम है।

(७२) बद्ध दशा किसीको भी प्रिय नहीं है। सबको स्वाधीन होकर ही रहना पसन्द है। इसीलिये यह जीव मुक्त हो जानेपर अतिसुखी हो जाता है।

(७३) मुक्तिका सुख—स्वाधीन हो जानेका सुख इन्द्रके सुखसे भी अधिक है। कितना अधिक है? सौ इन्द्रोंके सुखोंका एकत्रीकरण कर लिया जाय तो भी उसकी समानता नहीं हो सकती। नहीं, यह भी गलत है। सच तो यह है कि वह ऐसा सुख है कि किसीकी तुलना करके उसे नहीं बताया जा सकता। इसीलिये ज्ञानियोंने उसे 'अनुपमेय' कहा है।

(७४) अनुपमेय भी इसलिये है कि वह इन्द्रिय-भोग-जन्य सुखसे विजातीय है। इसके अतिरिक्त एक विशेषता उसमें और भी है, और वह विशेषता है स्थायित्वकी—निराबाधकी। इन्द्रिय-भोग-जन्य सुख अस्थायी है—सबाध है—सान्तराय है और आत्मिक सुख अनन्त—स्थायी-निराबाध—निरन्तराय है।

(७५) तभी तो चक्रवर्ती तक भी अपना छह खण्डोंका राज्य छोड़कर उस सुखको प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न करते हैं।

और नाना प्रकारकी परीषहें सहते हैं, उपसर्ग सहते हैं और महान् तप तपते हैं।

कुछ वाक्य-रत्न

"दया ज्ञानकी ध्वजा है और क्रोध मूर्खताकी ध्वजा है।"

❀ ❀ ❀

"धन्य हैं वे जो दया-शील हैं, क्योंकि वे ही परम पिताकी निज दयाके भागी हैं।" —ईसा।

* * *

"जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप॥"

—कबीर।

❀ ❀ ❀

"क्रोधको जीतनेका शस्त्र क्षमा है, बुराईको जीतनेका शस्त्र भलाई है, सूमताको जीतनेका शस्त्र उदारता है, और झूठको जीतनेका शस्त्र सच है।" —महाभारत।

❀ ❀ ❀

"हर्षके साथ शोक और भय ऐसे लगे हैं, जैसे प्रकाशके संग छाया। सच्चा सुखी वही है, जिसको दोनों एक समान हैं।"

—धम्मपद।

❀ ❀ ❀

"हर एकका उपकार करना अपना कर्त्तव्य है। बदलेमें यदि वह बुराई करे तो तुम्हें अपने मनको मैला न करना चाहिये—तुम्हें हमेशा अपना फ़र्ज़ अदा करते रहना चाहिये। अगर दूसरा अपने फ़र्ज़में भूले तो उसकी समझपर गुस्सा लानेके बदले तरस खाओ।" —धम्मपद।

❀ ❀ ❀

"सुकर्म—पुण्यकर्म—भलाईसे लोक और परलोक दोनोंका सुख प्राप्त होता है। परन्तु उससे आवागमन सदाकेलिये नहीं छूट सकता। वह तो तभी छूटेगा, जब आदमी निष्कर्म हो जायगा।" —एक जैनाचार्य।

❀ ❀ ❀

"भोग करनेसे भोगकी इच्छा बुझती नहीं, वरना ऐसी भड़कती है जैसे घी पड़नेसे आग धधकती है।" —मनुस्मृति।

❀ ❀ ❀

"परस्त्रीको जो कुदृष्टिसे देखता है, वह अपने सिरपर व्यभिचारका मानसिक पाप चढ़ाता है।" —ईसा।

❀ ❀ ❀

"तोबा—पछतावा छह बातोंसे पूरा होता है। १—पिछले पापोंपर लज्जित होनेसे, २—फिर पाप न करनेके प्रयत्न करनेसे, ३—मालिककी जो सेवा छूट गई हो उसे पूरा करनेसे, ४—अपनेसे किसीकी यदि कुछ हानि हो गई हो तो उसका घाटा भर देनेसे,

५—लोहू और चरबी जो हरामके खानेसे शरीरमें बढ़ी हो उसे धुला डालनेसे और ६—शरीरने पापोंसे जितना सुख उठाया है, मालिककी सेवामें उसे उतना ही दुःख देनेसे।"

—महात्मा अबूबकर।

❀ ❀ ❀

"जिसने अपना बुरा स्वभाव नहीं छोड़ा, जिसने अपनी इन्द्रियोंको नहीं रोका, जिसका मन अति चञ्चल है, वह केवल पढ़ने-लिखनेसे आत्मज्ञानको नहीं पा सकता।" —कठोपनिषद्।

❀ ❀ ❀

"भोजन शरीरके पोषणकेलिये और शरीर भगवन्-भजनके लिये रचा गया है, शरीर भोजनकेलिये नहीं रचा गया।" —साकी

❀ ❀ ❀

"जीवनकेलिये भोजन है भोजनकेलिये जीवन नहीं है।"

—एक अज्ञात कवि।

❀ ❀ ❀

"जिसके भोजनका आशय केवल जीवके निर्वाहका और वचनका आशय केवल सत्यके प्रकाशका है, उसका लोक और परलोक दोनोंका मार्ग सीधा है।" —हितोपदेश।

* * *

"उपकारका रूप स्वामित्व है, उसका करना नर-बालेका धर्म है और उपकार लेना पशुका काम है।" —एक अज्ञात कवि।

* * *

"जो पहले मीठा लगे और फिर कड़वा और जो आते हँसावे और जाते रुलावे। यह संसारका सुख है।"

—एक गुजराती कवि।

* * *

"अचेत आदमीकेलिये संसार खेल-तमाशेकी जगह है, परन्तु सचेत आदमीकेलिये संसार युद्धस्थल है, जहाँ जीवनपर्यन्त मन और इन्द्रियोंसे मनुष्यको जूझना पड़ता है।" —सहजो।

* * *

"मनुष्यकी देह भवसागर पार होनेकी नाव है, क्षमा उसके खेनेका डंडा है, सत्य उसके स्थिर रखनेकेलिये लंगड़ है, सुकर्म अगम धारामें खींचनेकी रस्सी है और दान और उपकार पालमें भरकर आगे ढकेलनेवाली हवा है।" —महाभारत।

* * *

"दयाके बराबर कोई धर्म नहीं, क्षमाके बराबर कोई शूरता नहीं, आत्मज्ञानके बराबर कोई ज्ञान नहीं और सत्यके समान कोई गुण नहीं।" —महाभारत।

* * *

"दान, पछतावा, सन्तोष, संयम, दीनता, सचाई और दया, ये सात बातें वैकुण्ठके द्वार हैं।" —महाभारत।

* * *

"दरिद्री कौन है ? जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है। धनी कौन है ? जिसके पास सन्तोषरूपी धन है।" —शंकराचार्य।

* * *

"१-विश्वास-घात या छल सबसे बड़ा पाप है। २-लालच भारी अवगुण है। ३-सत्य तपसे श्रेष्ठ है। ४—पवित्रता और निर्दोषता यज्ञसे उत्तम है। ५-प्यार सहित उपकार सब गुणोंमें शिरोमणि है। ६-गौरव या गम्भीरता सबसे बड़ी शोभा है। ७-बिना किसी सहायकके भी ज्ञानकी सदा जय है। ८-मरना लोक-अपमानसे अच्छा है।" —महाराज भर्तृहरि।

मनुष्य-जीवनकी सफलता

हे महानुभावो ! क्या कभी आपने इस बातको ध्यान-पूर्वक विचार करनेकी चेष्टा की है कि मनुष्य-जन्म मिलना कितना दुर्लभ है और इस अमूल्य जन्म पानेका क्या उद्देश्य है ?

क्या मनुष्य-जन्म पानेका यही मतलब है कि हम झूठ बोलें, चोरी करें, शराब पियें, व्यभिचार करें, शिकार खेलें, अबलोंको सतावें, लोगोंके साथ विश्वासघात करें और अन्तमें यमपुरीको प्रस्थान करें ।

क्या मनुष्य-जन्म पानेका यही सार है कि अन्यायपूर्वक पैसा पैदा किया जाय, जनताको धोखा दिया जाय, कम तोला जाय, कम नापा जाय, नकलीको असली बताया जाय, अच्छी वस्तुमें निबल वस्तु मिलाई जाय, बात-बातमें कसम खाई जाय और इस प्रकार ठगाई—जाल करते हुए शरीर छोड़ा जाय ?

क्या मनुष्य-जन्म पानेका यही उद्देश्य है कि लोगोंको भला-बुरा कहा जाय, क्रोध किया जाय, घमंडमें चूर रहा जाय, बाप-

दादोंकी कमाईको अपने ऐश-आराममें फूँक दिया जाय और अन्तमें हाथ मलते-मलते जीवन-लीला समाप्त की जाय ?

क्या मनुष्य-जन्म पानेका सिर्फ यही मन्तव्य है कि धन-दौलत हो, स्त्री-सन्तान हो, भोग-उपभोग हों, इन्द्रिय-मनका सुख प्राप्त हो, मान-बड़ाई हासिल हो और अन्तमें जीवन-लीला समाप्त हो जाय ?

नहीं, नहीं, मनुष्य-जन्म पानेका यह उद्देश्य कदापि नहीं है। उसके पानेका बड़ा ऊँचा उद्देश्य है। क्योंकि यह जीव सांसारिक अनेक सुख, यहाँ तक कि राजा महाराजा, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्त्ती तककी, नहीं-नहीं, देवताओं व इन्द्र आदि तककी ऋद्धियाँ, वैभव, ऐश्वर्य आदि, एक बार नहीं, दस बार नहीं, बल्कि अनेक बार भोग चुका है। पर तो भी इस जीवका मन्तव्य आज तक सिद्ध नहीं हुआ है।

दूसरे यह जीव अनादि कालसे चौरासी लाख जीवयोनि और करोड़ों कुलोंमें घूम चुका है और घूम रहा है पर आज तक इसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ है।

तो अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य-जीवनका मुख्य उद्देश्य क्या है ? भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों, ऋषियों, केवलियों और जिनेन्द्र-भगवानने इस बातको एकमत होकर स्वीकार किया है कि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य चौरासी लाख जीवयोनि और करोड़ों

कुलोंसे निकल कर कर्मोंका अन्त कर परमपद अथवा सिद्ध गतिको प्राप्त करना है✱।

तो अब प्रश्न उठता है कि वह परमपद अथवा सिद्धगति क्या है? सिद्धगति वह पद है, जहां पर अनादि कालसे भ्रमण करनेवाली यह संसारी आत्मा आवागवनके चक्रसे छूट कर हमेशाकेलिये अतीन्द्रिय सुखका भोग करता है। इस अवस्थामें अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्यका भोग कर आत्मा सब प्रकारकी व्याधा—पीड़ासे रहित हो जाती

✱ क्यों कि इस समय—सांसारिक अवस्थामें यह जीव कर्म-लिप्त है—बद्ध है। इस कर्म-लिप्तता—बद्धताके कारण ही यह जीव नाना गतियोंमें भ्रमण करता है, नाना प्रकारके क्लेश उठाता है और निज स्वरूपसे—ज्ञान-सुखके खजानेसे अपरिचित रहता है।

आत्माके अनन्त गुण हैं या यों कहना चाहिये कि आत्मा अनन्त गुणोंका पुञ्ज है। अनन्तगुणभण्डारी आत्माके ज्ञान और सुख, ये दो गुण ऐसे हैं कि जिनकी आत्माका अनुभव यह जीव कर्म-लिप्त अवस्थामें भी कर सकता है। यही कारण है कि सभी संसारी जीवोंको ज्ञान और सुखकी अभिलाषा स्वाभाविक रूपमें उत्पन्न होती है। उसे वे मनोनुकूल जितना-चाहें-उतना प्राप्त कर न सकें, यह दूसरी बात है। यह एक असमर्थता है। पर ज्ञान और सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा संसारी जीवके होती स्वतः है। क्यों कि वे उसके स्वाभाविक गुण हैं।

है और अजरामर, निराकार, निरञ्जन, निर्लेप, कृतकृत्य, परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती आदि हो जाती है और इस प्रकारकी अवस्था उसकी सदा काल बनी रहती है अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करनेके बाद जीवका सारे दुःखोंसे अन्त हो जाता है और वह परमानन्द दशाको सदाकेलिये प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नरक, इन चारों गतिओं और चौरासी लाख जीव योनियोंमेंसे मनुष्य गति ही एक ऐसी गति है जिसके द्वारा यह जीव अपने पूर्वोक्त उद्देश्यको प्राप्त कर सकता है। और अगर कहीं इस मनुष्य-जन्मको, जिसका कि मिलना महा दुर्लभ है, यों ही गँवा दिया तो वही हाल होगा, जो चिड़ियों द्वारा खेत चुग लिये जानेपर एक किसानका होता है।

अब विवेकी बन्धुओंको इस बातका भी दिग्दर्शन कर लेना चाहिये कि मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ कितना है ?* समस्त लोकमें

---

* समस्त आकाशके दो विभाग हैं। आकाश वास्तवमें है तो एक ही द्रव्य, परन्तु देशभेदापेक्षया कल्पनया उसके दो विभाग कर लिये जाते हैं। जिनमेंसे एकको लोकाकाश और दूसरेको अलोकाकाश कहते हैं। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और काल, ये पाँच महाद्रव्यें जिसमें देखी जायँ—पाई जायँ, वह लोकाकाश है और जिसमें ये न पाई जायँ, वह अलोकाकाश है। अलोकाकाशमें जीवका गमनागमन नहीं होता। ३४३ घनाकार रज्जु-प्रमाण (एक नाप-विशेष) लोकाकाशमें ही जीव द्रव्यका गमनागमन होता है।

अनन्त जीव हैं या यों कहना चाहिये कि सारा ब्रह्माण्ड जीवोंसे ठसाठस भरा हुआ है।

समस्त लोक अथवा समस्त संसारमें जितने जीव हैं, वे दो प्रकारके हैं। एक भव्य और दूसरे अभव्य। भव्य जीव वे हैं, जिनमें सिद्धपद प्राप्त करनेकी शक्ति है और अभव्य जीव वे हैं जो सिद्धगति प्राप्त नहीं कर सकते। भव्य जीव भी दो प्रकारके होते हैं। एक वे जो सिद्धगति प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे वे जिनमें सिद्धगति प्राप्त करनेकी सत्ता तो है, पर वे सिद्ध गति प्राप्त करनेके साधन नहीं पाते।

अब आप अनुभव कर सकते हैं कि बहुतसे जीव तो सिद्ध गतिको प्राप्त ही नहीं कर सकते। इनके अतिरिक्त बहुतसे जीव ऐसे हैं, जो कि साधनोंके अभावसे सिद्धगति नहीं पा सकते। सिर्फ कम जीव ऐसे हैं, जो यदि पुरुषार्थ-पराक्रम करें तो उस अमर पदको प्राप्त कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करनेपर मनुष्य गतिका प्राप्त करना आपको अति कठिन प्रतीत होगा। यथा—नित्येतर निगोदमें अनन्त जीव पड़े हुए हैं। जिनमेंसे अनन्त जीव ऐसे हैं जिनको अनन्त कालसे आज तक उसमेंसे निकलनेका अवसर ही नहीं मिला है अर्थात् उनका इतना पुण्यका उदय नहीं हुआ कि वे उस अवस्थासे निकल सकें। जब जीव

मेंढ़क आदि। इस जातिमें भी यह जीव संख्यातकाल तक रह आया है।

जब कहीं जीवके विशिष्ट पुण्यका उदय फिर प्राप्त होता है, तब कहीं इसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय योनि प्राप्त होती है। संज्ञी पञ्चेन्द्रियके भी कई भेद हैं। जलचर—जलमें चलनेवाले; जैसे—मछली, मगर आदि। स्थलचर—पृथ्वीपर विचरनेवाले; जैसे—गाय, घोड़ा इत्यादि। खेचर—आकाशमें उड़नेवाले; जैसे—तोता, कबूतर आदि। उर:परिसर्प—पेटके बल चलनेवाले; जैसे—साँप, कांतर आदि। भुजपरिसर्प—भुजाओंके बलसे चलनेवाले; जैसे—चूहा, नेउला आदि।

इन सब जातिवाले जीवोंके भी लाखों प्रकारकी जातियाँ व करोड़ों कुल होते हैं। और उत्कृष्ट आयु करोड़ों पूर्वकी होती है। इन सब जातियोंमें यह जीव असंख्यात वर्ष अनेक बार रह आया है।

जब जीवके अधिक पुण्यकी प्राप्ति होती है, तब कहीं यह जीव मनुष्य-योनिको प्राप्त करता है।

मनुष्य-योनिमें भी बहुतसे जीव गर्भमें ही मर जाते हैं और यदि पैदा हुए तो बहुतसे जीव पैदा होते-होते कालको प्राप्त करते हैं और यदि जन्म भी ठीक प्रकारसे हो गया तो बहुतसे जीव लड़कपनमें ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। यदि कहीं लड़कपनसे भी निकल गये तो बहुतसे जीव युवा अवस्थामें इस संसारको

छोड़कर चल बसते हैं। बहुत थोड़े जीव ऐसे होते हैं जो पूर्ण आयुको प्राप्त करते हैं। यदि पूर्ण आयु भी प्राप्त हुई तो इससे भी मतलब हल नहीं होता। क्योंकि कोई मनुष्य अन्धा है, बहरा है, लँगड़ा है, लूला है अर्थात् पूर्ण इन्द्रियाँ मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है।

यदि पूर्ण आयु और पूर्ण इन्द्रियाँ भी प्राप्त हो गई तो इनसे भी मनुष्य-जन्मका मन्तव्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि यदि आदमी किसी प्रकार बीमार हो, जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य प्रायः बीमार रहा करते हैं, तो भी वह आत्म-कल्याण नहीं कर सकता। इस कारण नीरोग शरीरका होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

यदि पूर्ण इन्द्रियाँ, पूर्ण आयु और नीरोग शरीर भी मिल गया तो भी मनुष्य-जन्म पानेका मतलब सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि उक्त तीनों बातें प्राप्त होगई और कहीं जंगली जातियोंमें, नीच कौममें, हबशियोंमें या अफरीका आदि क्षेत्रमें पैदा होगये तो वहाँ मनुष्य अपना जन्म कैसे सफल बना सकता है ? इस कारण उत्तम जाति तथा क्षेत्रका मिलना भी बहुत आवश्यक है।

यदि मनुष्य-जन्म भी मिला, पूर्ण इन्द्रियाँ भी मिलीं, पूर्ण आयु भी मिली, उत्तम क्षेत्र व उत्तम कुल भी मिल गया तब भी मनुष्य-जन्म सफल बनाना बड़ा कठिन है। क्योंकि यदि कहीं

मनुष्य कुपढ़ रह गया या पासमें पैसा न हुआ तो भी वह मनुष्य अपने जीवनको सफल नहीं बना सकता। इस कारण विद्या और लक्ष्मीका होना भी परम आवश्यक है।

यदि उपरोक्त सारी बातें भी मिल गईं और कदाचित् सत्संग और उत्तमधर्मका सहवास नहीं मिला तो भी मनुष्य-जन्मका सफल होना असम्भव है। क्योंकि सत्संग और उत्तमधर्मके बिना एक मनुष्य कुपथमें आसानीसे पड़ सकता है और अपने अमूल्य मनुष्य-जन्मको धूलमें मिला सकता है।

यदि उत्तम धर्म और सत्संग भी मिल गया तो भी मनुष्य जन्म पानेका मन्तव्य सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सारी बातें मिल गईं और हम उत्तमधर्मको कार्यमें नहीं ला सकें अर्थात् अपने चरित्रको शुद्ध नहीं बना सके तो उपरोक्त सारी बातोंका समागम होना निरर्थक है। इस कारण उपरोक्त कारण-कलापके साथ श्रद्धा और पराक्रमका होना भी उतना ही आवश्यक है।

अब मेरे बन्धु भली भाँति समझ गये होंगे कि उपरोक्त समस्त आवश्यक बातों सहित मनुष्य-जन्मका मिलना कितना दुष्कर व दुर्लभ है।

अब एक दूसरी दृष्टसे भी मनुष्य-जन्मकी दुष्प्राप्यतापर ध्यान दीजिये—

समस्त लोकमें सबसे अधिक संख्या एकेन्द्रिय जीवोंकी है। उससे कम द्वीन्द्रिय जीवोंकी है। उससे कहीं कम संख्या त्रीन्द्रिय जीवोंकी है। उससे कहीं कम संख्या चतुरिन्द्रिय जीवोंकी है। उससे कहीं कम संख्या असंज्ञी जीवोंकी है। उससे कहीं कम संख्या संज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी है और उससे बहुत कम संख्या मनुष्योंकी होती है। अर्थात् मनुष्योंकी संख्या संसारमें एक बड़े पर्वतके मुकाबिले राईके समान या समुद्रके मुकाबिले एक बिन्दुके बराबर भी नहीं है। इसपर भी संसारमें पूर्ण साधनों सहित मनुष्य बहुत अल्प संख्यामें हैं।

संसारमें मनुष्य-जन्मका कुछ भरोसा नहीं है। हमारे देखते देखते अनेक मनुष्य मृत्युको प्राप्त होते चले जाते हैं। मनुष्य जीवन पानीके बुलबुलेके समान है। मनुष्य-जीवन बालूकी भीतके समान है। मनुष्य-जीवन संध्याके रंगीले बादलोंके तुल्य है। मनुष्यके सिरपर काल हर समय खड़ा रहता है। यह उसका केवल पुण्य ही है, जो सदा उसकी रक्षा कर रहा है। इस कारण मनुष्यको अपने जीवनको एक अमूल्य जीवन जानकर उसको शुरूसे ही सद्मार्ग—सदुपयोगमें लगाना चाहिये।

यह तो मानी हुई बात है कि संसारमें किसी भी कार्य, हुनर, विद्या व ज्ञान आदिमें एक दिनमें या अल्प समयमें निपुणता प्राप्त नहीं की जा सकती। सारे कार्योंमें क्रम-क्रमसे अर्थात् सीढ़ी-दर-सीढ़ी ही उन्नति व निपुणता प्राप्त की जा सकती है। इसी

प्रकार वर्तमान समयमें कोई चाहे कि मैं एक दिनमें अपने जीवनको सफल बना लूँ, यह असम्भव है। हाँ यदि मनुष्य इस बातको अपना उद्देश्य बना ले और लगातार उस ओर परिश्रम अथवा प्रयत्न करता रहे तो एक दिन अपने जीवनको अवश्य वह सफल बना सकता है। यह कहावत आपने सुनी होगी कि रोम एक दिनमें नहीं बनाया Rome was not built in a day. निरन्तर, कोशिश और मेहनत करते रहनेपर एक दिन रोमका नगर संसारमें सब शहरोंसे प्रशस्त व बड़ा समझे जानेके योग्य बना था।

मनुष्यका जीवन मानिन्द एक जहाजके है। यदि जहाजका कप्तान तूफान, चट्टान, पानीके बड़े जानवरों, बर्फके तैरते हुये पहाड़ इत्यादिसे बचाता हुआ और अपने बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रमको उपयोगमें लाता हुआ ठीक मार्गपर चला जाता है तो एक दिन वह अवश्य शान्तिपूर्वक अपने निश्चित स्थानपर अर्थात् बन्दरगाहपर पहुँच जाता है। इसी प्रकार मनुष्यका मन रूपी कप्तान इन्द्रियोंके विषयरूपी प्रलोभन, दुष्कर्मों और कषायोंसे बचाता हुआ और अपना बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रमको उपयोगमें लाता हुआ चला जाय तो निश्चित स्थान—मोक्ष स्थानपर अवश्य पहुँच सकता है।

इन्द्रियों और मनका सदुपयोग या दुरुपयोग करना मनुष्यके ऊपर निर्भर है और इन्हींके सदुपयोगद्वारा एक मनुष्य अपने

जीवनको सफल बना सकता है और इन्हींके दुरुपयोगद्वारा एक मनुष्य अपने जीवनका सत्यानाश कर सकता है।

एक-एक इन्द्रियके विषयमें पड़ कर जीव संसारमें अपने जीवनको गँवा देते हैं। जैसे हिरण श्रोत्रेन्द्रियद्वारा वीणाके स्वरसे मोहित होकर, भौंरा घ्राणेन्द्रियद्वारा कमलकी सुगन्धके वशीभूत होकर, पतङ्ग चक्षुरिन्द्रियद्वारा दीपककी ज्योतिपर मुग्ध होकर, मछली जिह्वेन्द्रियद्वारा काँटेपर लगे हुये आटेके स्वादमें पड़ कर अपनी जान गँवा देते हैं। ये प्राणी केवल एक-एक इन्द्रियके वशवर्ती हो जानेके कारण मृत्यु तककी दुर्दशाका भोग करते हैं। यह बात शास्त्र और अनुभव द्वारा सिद्ध है तो फिर मनुष्यकी तो पाँचों ही इन्द्रियाँ प्रबल हैं। उसे तो इनसे हर समय सावधान रहनेकी आवश्यकता है—मनुष्यको तो उन पर हर समय काबू रखनेकी जरूरत है। मनुष्य यदि अपने विचार-शक्तिसे काम न ले और इन्द्रियोंके विषयोंमें पड़ जाय तो उसकी क्या बुरी अवस्था इस संसारमें और मृत्युके बाद हो, यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

ऐसा समझ कर प्रत्येक विचारशील पुरुषको अपनी विचार-शक्ति, मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिये और पराक्रमद्वारा अपने मनुष्य-जीवनको सफल बनानेमें सदा तत्पर रहना चाहिये।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कौनसा मार्ग है जिससे एक मनुष्य अपने जीवनको सफल बना सकता है?

इसका उत्तर यह है कि जीवनको सफल बनानेके शास्त्रकारोंने दो मार्ग बताये हैं। एक गृहस्थधर्म, दूसरा यतिधर्म। पहिला मार्ग सरल है और दूसरा मार्ग कठिन। यदि हम पहिले मार्गको क्रम-क्रमसे तय करना प्रारम्भ कर दें तो एक दिन हम दूसरा मार्ग भी अवश्य तय कर सकेंगे।

गृहस्थधर्मके दो भाग हैं। एक तो वह जिसके अनुसार प्रत्येक गृहस्थको चलना अनिवार्य है। दूसरा वह, जो गृहस्थ पुरुपार्थ व पराक्रम करके अपने जीवनको सफल बनाना चाहते हैं, उनको ग्रहण करने योग्य है।

गृहस्थ धर्मका प्रथम भाग जो प्रत्येक मनुष्यको अनिवार्य है, वह निम्न प्रकार है:—

१—मांस नहीं खाना, २—शिकार नहीं खेलना, ३—शराब नहीं पीना, ४—जुआ नहीं खेलना, ५—चोरी नहीं करना, ६—वेश्या-गमन नहीं करना और ७—परदारा-सेवन नहीं करना॰।

उपरोक्त सातों कुव्यसन मनुष्यकी बुद्धि बिगाड़नेवाले, धर्मकी ओर चित्तको आकर्षित न होने देनेवाले और मनुष्यको भयंकर दुर्गति अर्थात् नरकमें ले जानेवाले हैं। इस कारण इनका प्रत्येक प्राणीको त्याग करना चाहिये।

॰ "जुआ-खेलन, माँस, मद, वेश्या व्यसन, शिकार।
चोरी, पररमणी-रमण; सातों व्यसन निवार॥"

—एक प्राचीन दोहा।

जो गृहस्थ अपने विशेष पुरुषार्थ व पराक्रम द्वारा अपने मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहते हैं, उनको निम्नलिखित बारह व्रत ग्रहण करने चाहिये। गृहस्थधर्म ग्रहण करनेसे पहले मनुष्यको सम्यक्त्वी होना चाहिये। सम्यक्त्वीका लक्षण पहले कहा जा चुका है। सम्यक्त्वके पाँच* अतीचार भी हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) **शङ्का**—देव, गुरु और धर्ममें शङ्का रखना अर्थात् यह सत्य है या असत्य है आदि सोचना।

(२) **काङ्क्षा**—हरि, हर और सूर्य प्रभृति देवताओंका प्रभाव देखकर उनसे तथा जिनधर्मसे भी सुखादिक प्राप्त करने की इच्छा रखना या भोग और सुख प्राप्त करनेकेलिये शंखेश्वरादि देवताओंकी मान्यता करना।

(३) **विचिकित्सा**—धर्मविषयक फलके सम्बन्धमें सन्देह करना या देव, धर्म और गुरुकी निन्दा करना।

(४) **अन्यदृष्टिप्रशंसा**—मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्रकी प्रशंसा करना।

(५) **अन्यदृष्टिसंस्तव**—मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्रको मनमें अच्छा—आत्महित-कारक समझना।

*"शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः"।
—उमास्वाति

श्रावकों (गृहस्थों)को इन पाँच अतिचारोंसे रहित सम्यक्त्व का पालन करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त गृहस्थको अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, ये पाँच अणुव्रत; दिग्व्रत, देशावकाशिकव्रत और अनर्थदण्डव्रत, ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत, इस तरह कुल बारह* व्रत भी निरतिचार रूपसे पालन करना चाहिये। बारह व्रत और उनके अतिचारोंका वर्णन निम्न प्रकार है।

श्रावकके बारह व्रतोंमेंसे प्रथम व्रत अहिंसाणुव्रत—प्राणातिपातविरमणव्रत है। इसका अर्थ है—जीवकी हिंसा नहीं करना। सिर्फ जीवको शरीरसे पृथक् करना ही हिंसा नहीं है, बल्कि किसीको छेदना, भेदना, मारना, पीटना, आदि सभी हिंसामें गर्भित हैं।

शास्त्रकारोंने पहिले व्रतके निम्नोक्त पाँच§ अतिचार अर्थात् दूषण बतलाये हैं जो कि त्यागने योग्य हैं—

* "गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम्॥"

—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

§ "बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः"। —उमास्वाति।

(१) वध—मनुष्य, पशु, जलचर आदि जीवोंको अस्त्र-शस्त्र या लकड़ी आदिसे मारना—प्रहार करना।

(२) बन्ध—मनुष्य या किसी प्रकारके जीवको कड़ाईसे बाँधना या पिंजरे, जाल इत्यादिमें बन्द कर देना।

(३) विच्छेद—मनुष्य पशुओं आदिके कान, नाक आदि अवयवोंको छेदना, काटना, खस्सी बनाना आदि।

(४) अतिभारारोपण—मनुष्य व पशुओंपर उनकी शक्तिसे अधिक बोझ—भार लादना, उनसे अधिक समय तक मेहनत लेना, उन्हें अधिक चलाना आदि।

(५) अन्न-पान-निरोध—पशुओं या मनुष्योंको उचित समय पर भोजन नहीं देना, कम देना, खराब देना आदि।

जो प्राणी उपरोक्त दूषणोंको टालते हैं अर्थात् दयाका पालन करते हैं, उनको दीर्घ आयु प्राप्त होती है, श्रेष्ठ शरीर मिलता है, उच्चगोत्र प्राप्त होता है, विपुलधन मिलता है, बाहुबलके वे धनी होते हैं, इसके अतिरिक्त उन्हें उच्च कोटिका स्वामित्व, अखण्ड आरोग्य और सुयश मिलता है, और संसार-सागरका पार करना उनकेलिये सहज हो जाता है। संसारमें धन, धेनु और धरा (पृथ्वी) के देनेवाले लोग तो सहज मिल जाते हैं, किन्तु प्राणियोंको अभय देनेवाले लोगोंका मिलना कठिन है। मनुष्यों को कृमि, कीट, पतंग और तृण (वृक्ष) आदिपर भी दया

करनी चाहिये और अपनी आत्माके समान दूसरे सब प्राणियों को समझना चाहिये।

दूसरा व्रत गृहस्थका—'सत्याणुव्रत-मृषावादविरमण' है। इसका अर्थ है—झूठ नहीं बोलना। इस व्रतके भी निम्नलिखित पाँच अतीचार* हैं।

(१) मिथ्योपदेश—सिद्धान्त-विरुद्ध कुगति लेजानेवाला उपदेश देना, किसीको झूठा कलंक लगाना आदि।

(२) रहोभ्याख्यान—एकान्तमें किसीके साथ किये हुए किसी गुप्त कार्यको प्रकट कर देना।

(३) कूटलेखक्रिया—झूठे तमस्सुक लिखना, बहीखातेमें झूठा जमा-खर्च करना, झूठे तार-चिट्ठी देना आदि।

(४) न्यासापहार—किसीकी धरोहर आदिको मुकर-जाना आदि।

(५) साकारमन्त्रभेद—किसीकी गुप्त बातको किसी तरह जानकर उसे प्रगट कर देना आदि।

इनके अतिरिक्त सुज्ञ पुरुषोंको निम्नलिखित प्रधान पञ्चकूट का भी त्याग करना चाहिये—

१—कन्या विषयकूट, २—पशु विषयकूट, ३—भूमि विषय कूट, ४—झूठी गवाही देना और ५—किसीकी धरोहरको न

*) "मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः"

—उमास्वाति।

देकर हज़म कर जाना। इनके अतिरिक्त बहुतसे मनुष्य हँसी-मज़ाकमें और बात-बातमें झूँठ बोला करते हैं, यह भी सर्वथा त्यागने योग्य है। आज-कल झूँठका प्रचार बहुत बढ़ गया है। क्या जैन, क्या अजैन, प्रायः सभी लोग अक्सर झूँठ बोला करते हैं। उसीका यह कारण है कि आये दिन उन्हें नई-नई तकलीफोंका सामना करना पड़ रहा है। क्या दूकानदार, क्या ग्राहक, क्या वकील, क्या मुवक्किल, क्या डाक्टर, क्या रोगी, क्या स्वामी, क्या सेवक, क्या स्त्री, क्या पुरुष इत्यादि विशेष कर झूँठका ज्यादा प्रयोग किया करते हैं। जिस ज़मानेमें लोग झूँठका प्रयोग बहुत कम करते थे, प्रायः सत्य ही बोला करते थे, उस समय सत्यके प्रभावसे बड़े-बड़े चमत्कार नज़र आया करते थे। नदियाँ जलपूर्ण होकर बहती थीं; देवता नौकरके समान कार्य करते थे; सर्प पुष्पमालाके समान हो जाया करता था; विष अमृतके समान, शत्रु मित्रके समान और जल थलके समान हो जाया करता था। मनुष्य यदि अच्छा और उन्नतिका समय चाहते हैं तो उनको झूँठका त्याग और सत्यका ग्रहण करना चाहिये।

तीसरा व्रत 'अचौर्याणुव्रत' है। इसका अर्थ है—बिना दी हुई वस्तु नहीं लेनी। इस व्रतके भी निम्न लिखित पाँच अतीचार* हैं:—

* "स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।" —उमास्वाति।

(१) स्तेनप्रयोग—चोरी करनेकी युक्ति बतलाना, चोरी करनेकी चोरको अनुमति देना।

(२) तदाहृतादान—चोरीका माल लेना।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम—राजाकी उचित आज्ञाका उल्लङ्घन करना।

(४) हीनाधिकमानोन्मान—कम वजनके बाँटोंसे या छोटे गजसे सामान देना और अधिक वजनके बाँटोंसे या बड़े नापकी मात्रासे, बड़े गजसे सामान लेना आदि।

(५) प्रतिरूपकव्यवहार—अच्छी या असली वस्तुमें बुरी या नक़ली वस्तु मिलाना।

पड़ा हुआ, भूला हुआ, खोया हुआ, छूटा हुआ और रखा हुआ परधन 'अदत्त' कहलाता है। सुज्ञ पुरुषोंको यह कदापि नहीं लेना चाहिये। जो प्राणी अदत्त अर्थात् बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण नहीं करते, वे सिद्धि प्राप्त करते हैं; कीर्ति उनकी चिरसंगिनी बनती है; रोग व दोष उनसे दूर रहते हैं; सुगति उनकी स्पृहा करती है; दुर्गति उनकी ओर देख भी नहीं सकती और विपत्ति तो उनका सर्वथा त्याग ही कर देती है।

अधिकतर हमारे गृहस्थ और भाई सिर्फ सेंध से माल लाना या किसीको ज़बरदस्ती लूटना इत्यादिको ही चोरी समझते हैं। पर वास्तवमें किसी ग्राहकको नापमें कपड़ा कम देना, सामान

वज़नमें कम देना, असली कह कर नक़ली चीज़ देना, आदि भी चोरीमें ही गर्भित हैं। जो दूकानदार या साहूकार घरमें धन रखकर काम फेल या दिवाला निकाल देते हैं, वे भी एक प्रकारकी चोरी करते हैं। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य काम फेल करने वालोंको काम फेल करनेमें सलाह व सहायता देते हैं, वे भी एक प्रकारके चोर हैं। जो व्यक्ति चुंगीवाले मालको बिना चुंगी चुकाये ले आते हैं, राज्यका महसूल नहीं भरकर मालको अन्दर ले आते हैं, वे भी एक प्रकारके चोर हैं। जो साहूकार कम देकर ज्यादःका दस्तावेज़ लिखा लेते हैं या जो मुनासिबसे ज्यादः ब्याज लेते हैं, वे भी एक प्रकारके चोर हैं। जो दूकानदार घीमें तेल, कोकोजम या चर्बी मिलाकर बेचते हैं, या अन्य खाद्य पदार्थोंमें दूसरे क़िस्मकी कम क़ीमतकी वस्तु मिलाकर बेचते हैं, वे भी एक प्रकारके चोर हैं। जो वकील झूठे मुक़दमे लड़ते हैं या जो डाक्टर या वैद्य मामूली रोगको पैसे ठगनेके हेतुसे बड़ा चढ़ाकर बताते हैं वे भी एक प्रकारके चोर हैं।

चोर तो प्रत्यक्ष अर्थात् खुल्लमखुल्ला चोरी करने आते हैं, पर अन्य पेशेवाले दूकानदार जो ग्राहकोंको कम तोलते हैं या कम देते हैं या अच्छी और असली वस्तुके बजाय नक़ली और पुरानी चीज़ देते हैं, वे तो दिन दहाड़े-खुल्लमखुल्ला डाका मारते हैं। यों कहना चाहिये कि साधुके भेषमें लुटेरोंका काम

करते हैं। इस प्रकारके कुकर्मोंसे ये लोग नीच और अशुभ कर्मोंका वन्ध करते हैं। जिनको भोगते-भोगते उनका पीछा नहीं छूटेगा। दूसरे अशुभ कर्मोंका नाश तो तपद्वारा किया जा सकता है, पर चोरीका पाप बिना भोगे नहीं छूटता है।

जो ज्ञानी हैं, सज्जन हैं, जिन्हें अपना मनुष्य-जन्म सफल बनाना है, वे एक तिनका भी बिना किसीके दिये (अदत्तका) ग्रहण नहीं करते। जिस प्रकार किसी रोगीको कुपथ्य देनेसे वह बुरी अवस्थाको प्राप्त करता है, उसी प्रकार किञ्चित् मात्र भी अदत्त ग्रहण करनेसे जीव दोपके भागी बन जाते हैं। जिसके कारण आत्माको एक बुरी अवस्थामें जाना पड़ता है। इस कारण जो भव्य प्राणी अपनेको अदत्तादान अर्थात् चोरीसे बचाना चाहते हैं, उनको उपरोक्त अशुभ कर्मोंसे सदा मन, वचन और कायसे बचे रहना चाहिये।

चौथा व्रत 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' है। इसका अर्थ है—यथाशक्ति ब्रह्मचर्यका पालन करना।

इस व्रतके भी निम्न-लिखित पाँच अतीचार* अथवा दूषण हैं, जो कि त्यागने योग्य हैं।

(१) परविवाहकरण—दूसरोंका विवाह कराना।

* "परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः"। —उमास्वाति।

(२) इत्वरिका-परिगृहीतागमन—दूसरेकी पुँश्चली स्त्रीके पास जाना।

(३) इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन—वेश्याके पास जाना।

(४) अनङ्गक्रीडा—काम भोगके अवयवोंको छोड़ कर अन्य अवयवोंसे काम-क्रीड़ा करना।

(५) कामतीव्राभिनिवेश—काम-भोगकी तीव्र अभिलाषा करना।

गृहस्थों अथवा मनुष्य मात्रको सिवाय अपनी पत्नीके और स्त्रीको सिवाय अपने पतिके दूसरेका चिन्तन नहीं करना चाहिये। पुरुषको अपनी स्त्रीके सिवाय अन्य तमाम स्त्रियोंको और स्त्रीको सिवाय अपने पतिके अन्य तमाम पुरुषोंको भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री और माता-पिताके तुल्य समझना चाहिये।

प्रथम तो बहुतसे मनुष्य इस व्रतको धारण ही नहीं करते और जो धारण करते हैं, उनमेंसे भी बहुतसे मनुष्य नाना प्रकारकी तर्क-वितर्क निकाल कर अन्य स्त्रियोंसे विषयसेवन करते हैं। ऐसे पुरुषोंसे प्रश्न करनेपर वे यह दलीलदिया करते हैं कि हम किसी वेश्याको मासिकपर रख लें तो हमारे व्रतमें दूषण नहीं लगता है या हमारा जिस कन्याके साथ सम्बन्ध हो गया है, अगर हम उसके साथ रमण करते हैं तो दूषण नहीं लगता, इत्यादि। इस प्रकारकी बातें सर्वथा वर्जनीय हैं। मनुष्य सुन्दर-सुन्दर स्त्रियोंको या उनके चित्रोंको देखते हैं तो तुरन्त

उनका मन चलायमान हो जाता है। यह भी सर्वथा वर्जनीय है। बहुतसे युवक या विद्यार्थी या मनुष्य दूसरे युवकों, विद्यार्थियों और मनुष्य या स्त्रियोंके साथ कामचेष्टा या अनङ्गक्रीड़ा या कुचेष्टा, हस्तकर्म, नपुंसक-संभोग आदि अनेक प्रकारकी क्रीड़ा करते हैं, वे भी सर्वथा वर्जनीय हैं। जो प्राणी बजाय कायसे भोग-सेवनेके सिर्फ मनसे ही कामकी इच्छा करते हैं, वे भी मर कर नरक दुर्गतिको प्राप्त करते हैं।

इस कारण जो प्राणी अपने मनुष्य जन्मको सार्थक बनाना चाहते हैं, उन्हें अपनी स्त्रीके सिवाय पूर्ण ब्रह्मचर्य पालना चाहिये और अपनी स्त्रीसे भी परिमित भोग करना चाहिये। जो स्त्री या पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य पालते हैं, उन्हें कोई किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचा सकता। उनका सर्वत्र कल्याण ही होता है। उनकी कीर्ति बढ़ती है, धर्मकी वृद्धि होती है, पाप नष्ट होता है और स्वर्ग एवं मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होती है।

धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे तो ब्रह्मचर्यका पालन करना ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखोंका साधन है ही। इसके अतिरिक्त वैद्यक दृष्टिसे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना जीवोंको सर्वथा हितकारक है। आयुर्वेदका एक वाक्य है:—

"अग्निमूलं बलं पुंसां, रेतोमूलं च जीवितम्।
तस्माद्वह्निं च शुक्रं च, यत्नेन परिरक्षयेत्॥"

अर्थात् अग्निके आधारसे प्राणियोंका बल है और वीर्यके आधारसे प्राणियोंका जीवन है। इसलिये अग्नि और वीर्यकी बड़ी सावधानीसे मनुष्योंको रक्षा करते रहना चाहिये।

ब्रह्मचर्यसे मनुष्यका शरीर नीरोग और स्फूर्तिमान् रहता है; इन्द्रियाँ शक्तिहीन नहीं होतीं; दिमाग काम दुरुस्त करता है; स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक होती है; शरीर कान्तिमान् और आकृति देदीप्यमान होती है; कलाओंमें निपुणता प्राप्त होती है; ब्रह्मचर्यसे मनुष्य प्राप्त वैभवैश्वर्यका पूर्ण भोग कर सकता है, जीवन-संग्राममें विजयी होता है, संसार-सागरसे पार उतर सकता है और संसारमें वह एक प्रसिद्ध पुरुष हो सकता है।

संसारमें जितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दार्शनिक कवि, पहलवान, कलावान, धनवान आदि हो गये हैं, वे सब एक इसी ब्रह्मचर्यके प्रतापसे। यदि ये लोग ब्रह्मचर्यको नहीं अपनाते तो आज हमें उनका नाम तक सुनाई नहीं देता।

संसारमें जितने साधु-सन्यासी-ऋषि-महर्षि हो गये हैं, जिन्होंने कि तप तपे हैं, ग्रन्थ लिखे हैं, नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, गिरि-कन्दराओं या वनोंमें रहकर अनेक प्रकारकी परिषहें सही हैं, वह सब एक इसी ब्रह्मचर्यकी अतुल महिमा के प्रतापसे।

जो लोग इस व्रतका पालन नहीं करते, वे अपने जीवनमें कुछ भी सुख नहीं भोग सकते, न कोई संसारमें अपने जीवनकी

विशेषता दिखा सकते हैं। ऐसे लोग यों ही आते हैं और यों ही चले जाते हैं—कुत्तेकी मौत मर जाते हैं।

सारांश यह कि मनुष्य संसारमें जो काम करता है—अपनी कीर्त्ति बढ़ाता है, परका हित साधन करता है, इस लोक और परलोकको बनाता है, वह सब दिमाग़ और शरीरके बलसे। ये दोनों जिसके ठीक और बलवान होते हैं, वही पुरुष उपरोक्त कार्य सम्पन्न कर सकता है और ये दोनों शक्तियाँ केवल ब्रह्मचर्यके बलपर निर्भर हैं। जिसके पास ब्रह्मचर्य रूपी रत्न मौजूद है, उसका दिमाग़ और शरीर नीरोग और तन्दुरुस्त रह सकता है। इसलिये मनुष्य संसारमें यदि कुछ काम करना चाहता और और अपने दोनों भव सुधारना चाहता है तो उसे ब्रह्मचर्यव्रत अवश्य पालना चाहिये।

पाँचवाँ व्रत 'परिग्रहपरिमाणाणुव्रत' है। इसका अर्थ है यथाशक्ति धन-धान्य आदि दस प्रकारकी बाह्य परिग्रहोंका परिमाण कर लेना अर्थात् कमसे कम जितनी वस्तुओंसे अपना काम निकल सके उतनी वस्तुओंकी संख्या निश्चित कर ली जाय और शेष वस्तुओंके भोगनेकी अभिलाषा छोड़ दी जाय। इसके भी पाँच* अतीचार हैं। यथाः—

* "क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमः।"

—उमास्वाति।

(१) क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम—जमीदारी, मकान आदिके परिमाणका उलङ्घन करना।

(२) हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम—सोने, चाँदी, जवाहरातके गहने आदिके परिमाणका अतिक्रम करना।

(३) धन-धान्य प्रमाणातिक्रम—धन-धान्यके प्रमाणका अतिक्रम करना।

(४) दासी-दास प्रमाणातिक्रम—नौकर-चाकरके प्रमाणका अतिक्रम करना।

(५) कुप्य प्रमाणातिक्रम—कपड़े-लत्तोंके प्रमाणका अतिक्रम करना।

इस व्रतमें गृहस्थ (श्रावक) को बहुत परिग्रह अर्थात् धन-धान्य आदिकी कमी करनी चाहिये। एक गृहस्थसे सर्वथा परिग्रह का त्याग होना तो कठिन है। क्योंकि विना धनके गृहस्थका कार्य्य नहीं चल सकता। यह कहावत भी है कि "साधु कौड़ी रक्खे तो दो कौड़ीका और गृहस्थ बिना कौड़ीके दो कौड़ीका" इस कारण गृहस्थ को द्रव्य रखना अत्यावश्यक है, परन्तु ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि द्रव्यकेलिये मनुष्य मर्यादा भङ्ग करे, अतिआशा करे, सदा असन्तापी बना रहे, दिन-रात कोल्हूके बैलके समान परिश्रम करता रहे आदि। क्योंकि संसारी मनुष्यका स्वभाव है कि उसे कितनी भी लक्ष्मी प्राप्त हो जाय, पर उसे सन्तोष नहीं होता। ज्यों-ज्यों

उसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों वह अधिक असन्तुष्ट होता जाता है। कहा भी है कि धनहीन मनुष्य सौ रुपये चाहता है; सौवाला हजार चाहता है; हजारवाला लाख चाहता है; लाखवाला करोड़ चाहता है; करोड़पति राज्यकी इच्छा रखता है; राजा चक्रवर्ती होना चाहता है; चक्रवर्ती देवता होनेकी इच्छा रखता है और देवता इन्द्रत्वकी अभिलाषा रखता है।

इस कारण जिस प्रकार हो उस प्रकार लोभ अर्थात् विशाल इच्छाओंको कम करना चाहिये। लोभी मनुष्यको कभी सुख या सन्तोषकी प्राप्ति नहीं होती। किसीने सच कहा है कि जिस प्रकार ईंधनसे अग्नि और जलसे समुद्र तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार धनसे लोभीकी तृप्ति नहीं होती। उसे यह भी विचार नहीं आता कि जब आत्मा समस्त ऐश्वर्यको त्यागकर परभवमें चला जाता है, तब व्यर्थ ही पापकी गठड़ी क्यों बाँधी जाय? कहनेका सारांश यह है कि परिग्रहका परिमाण बढ़नेपर लोभ भी बढ़ जाता है। जिसके कारण उस मनुष्यपर नाना प्रकारके संकट आ पड़ते हैं। इस कारण जो प्राणी अपना मनुष्य-जन्म सफल अथवा शान्तिमय बनाना चाहते हैं, उनको प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि वह अमुक संख्या तक धन, धान्य इत्यादि रक्खेंगे। उनको व्यवहारमें आनेवाली वस्तुओंकी इस प्रकार मर्यादा करनी चाहिये:—

भूमि अर्थात् खेत, चारागाह, बंजर, बाग-बगीचा आदि इतने बड़े और इतनी संख्या तकके।

सोना-चाँदी अर्थात् इतना वज़नमें, इतनी क़ीमतका।

धन अर्थात् रुपया, मुद्रा, जवाहरात जैसे हीरा, मोती, पन्ना आदि अमुक क़ीमतके।

धान अर्थात् नाज जैसे गेहूँ, चावल, जुआर इत्यादि अमुक रुपयोंका या अमुक मन तक रखना या व्यापार आदि करना।

द्विपद अर्थात् दास, दासी, नौकर, चाकर, मुनीम, गुमास्ते इत्यादिकी गिनती तथा अमुक रुपये माहवारके रखने।

चौपद अर्थात् गाय, बैल, भैंस, घोड़ा इत्यादि आजकल मोटर, हवाईजहाज, पानीके जहाज आदि वाहन अमुक संख्या में और अमुक रुपयोंकी तादादके रखने।

कुप्य अर्थात् अनेक धातु, जैसे—पीतल, लोहा, रांग, ताँबा इत्यादि अथवा वस्त्र आदि अमुक तादाद तक रखना या व्यापार करना।

इनके अतिरिक्त आजकल बहुतसी वस्तुओंका व्यापार किया जाता है या वे घरमें रक्खी जाती हैं। इस कारण जहाँतक बन सके, उन सभी वस्तुओंकी मर्यादा कर लेना चाहिये। क्योंकि मनुष्यकी इच्छाएं अनन्त* हैं। और वे उत्तरोत्तर हमेशा बढ़ती भी

---

* एक आचार्यने तो लिखा है कि—

"आशागर्तः प्रतिप्राणि, यस्मिन्विश्वमणूपमम्।

कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैपिता।"

—गुणभद्र भदन्त।

रहती हैं। उन सबका पूर्ण करना अत्यन्त कठिन है, कठिन ही नहीं असम्भव भी है। मनुष्य यदि उन इच्छाओंको पूर्ण करने में लग जाय तो वह सारी उम्र इसीमें व्यतीत कर दे। फिर भी यह संभव नहीं कि उन्हें वह पूर्ण कर ले। जबतक मनुष्यको इच्छाएँ सताती रहती हैं, तबतक वह व्याकुल—दुःखित रहता है। इच्छाओंके अभावमें जीवको निराकुलता-सुख प्राप्त होता है। असलमें निराकुलता ही सुख है। एक कविका वाक्य है—

"आतमको हित है सुख, सो सुख, आकुलता बिन कहिये।"

—कविवर भूधरदासजी।

मनुष्यकी इच्छाएँ अनन्त—अपरिमित हैं। उन सबका पूर्ण होना अशक्य है। और जबतक वे पूर्ण न हो जायँ तबतक मनुष्यको चैन नहीं। ऐसी हालतमें यही होना चाहिये—मनुष्य को सुखी होनेका—चैनसे जीवन व्यतीत करनेका एक ही मार्ग है। और वह मार्ग यही है कि मनुष्य अपनी इच्छाओंको परिमित कर ले। कितना परिमित कर ले? जितनेसे आसानीसे काम निकल जाय उतना परिमित कर ले अर्थात् अपनी

अर्थात् हरएक प्राणीके आशारूपी गड्ढा इतना बड़ा है कि उसमें समस्त संसार एक परमाणुके बराबर है तो फिर बतलाओ कि किसके हिस्सेमें कितना आना चाहिये? इसलिये जीवोंकी विषयाभिलाषा व्यर्थ है। (क्योंकि वह किसी भी हालतमें पूरी नहीं हो सकती।)

आवश्यकताओंकी पूर्तिमात्र कर ले। इसलिये यों कहना चाहिये कि इच्छाओंका निरोध करना—कम करना संसारको घटाना है—सांसारिक बन्धनको कम करना है—पापोंका काटना है और मनुष्य जन्मको सफल बनाना है।

छठा व्रत जिसको पहिला गुणाव्रत भी कहते हैं 'दिग्व्रत' है। इसका अर्थ है दिशाओंकी मर्यादा करना। इस व्रतद्वारा दिशा अर्थात् क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है। जो मनुष्य इस व्रतको ग्रहण नहीं करते हैं, उनको संसारके तमाम क्षेत्र व दिशाओंका दूषण आया करता है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व और अधः इस तरह दश दिशाएँ हैं। इनका विस्तार हजार कोस नहीं लाख कोस नहीं, बल्कि करोड़ों कोस से भी कहीं अधिक है। वर्तमान समयमें मनुष्यको अधिक-से-अधिक एक स्थानसे दूसरे स्थान तक सिर्फ हज़ारों कोसकी मर्यादाके अन्दर ही प्रायः जाना-आना पड़ता है। इस कारण प्रत्येक प्राणीको जहाँतक कम दिशाओंकी मर्यादा कर सकता है, उसे उतना रखकर बाक़ीका त्याग कर देना चाहिये। लेकिन जो प्रतिज्ञा की जाय, उसका पालन करना परम आवश्यक है। अगर कोई प्रतिज्ञा करके उसका भङ्ग करता है तो वह विशेष संसार बढ़ाता है अर्थात् मनुष्य-जीवनको नष्ट करता है। मनुष्य को अपने कारबार या व्यापारका पूरी तौरसे ध्यान रखते हुए

दिशाकी मर्यादा करनी चाहिये। जितनी मर्यादा वह कम रक्खेगा, उतना ही वह कम दूषणका भागी होगा।

सातवाँ व्रत 'भोगोपभोगपरिमाण व्रत' है। इसको दूसरा गुणव्रत भी कहते हैं। इसका अर्थ है भोगोपभोगकी मर्यादा करना। भोग उन वस्तुओंको कहते हैं, जो सिर्फ एक समय काम में आवें। जैसे भोजन-पान, फल, ताम्बूल इत्यादि। उपभोग उन वस्तुओंको कहते हैं, जो बार-बार भोगनेमें आवें—एक बार काममें लेनेके बाद फिर दुबारा भी भोगनेमें आवें। जैसे कपड़ा, टोपी, बक्स, पालकी, गाड़ी आदि।

अगर एक मनुष्य भोगोपभोगोंकी मर्यादा नहीं करता है तो सारे संसारमें जितनी भोगोपभोगकी वस्तुएं हैं, उन सबका दूषण आता है। फिर भले ही वह मनुष्य संसारकी बहुत थोड़ी चीजें ही अपने व्यवहारमें क्यों न लाता हो। इस कारण प्रत्येक प्राणीको जितनी वस्तुएं अपने व्यवहारमें आ सकें, उनको छोड़-कर शेष समस्त वस्तुओंका त्याग करदेना चाहिये—मर्यादा कर लेना चाहिये। मांस, मद्य आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सर्व त्याग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त शहद, मक्खन, जिमींकन्द (जो मूल या जड़ जमीनके अन्दर पैदा होती है।) जैसे आलू, प्याज, अदरक, सकरकन्दी आदि भी त्यागने योग्य हैं। तथा ऐसे फलोंका भी त्याग करना चाहिये जिसमें ज्यादा हिस्सा फेंका जाय और कम हिस्सा उपयोगमें आवे। गृहस्थके लिये अच्छा

तरीक़ा यह है कि भोगकी जिन वस्तुओंका इस्तेमाल उसे करना हो, उन सबको लिख कर रख लेना चाहिये, ताकि हेर-फेर न पड़े।

उपभोगकी भी ऐसी वस्तुएँ इस्तेमालमें नहीं लानी चाहिये, जिनमें विशेष हिंसा हो। जैसे—रेशम, चमड़ेका सामान, मीलका कपड़ा आदि। इसके अलावा जिस क़दर सामान बनना हो या इस्तेमालके वास्ते रखना हो, उसकी भी लिखित फेहरिस्त रख लेनी चाहिये, ताकि प्रतिज्ञाका उलङ्घन न हो सके। ज़रूरतों और इच्छाकी जितनी कमी की जाय, उतना ही अच्छा है।

इसके अतिरिक्त संसारमें कुछ ऐसे भी व्यापार व धन्दे हैं, जिनमें महा हिंसा होती है। जो मनुष्य अपने जीवनको सफल बनाना चाहते हैं, उन्हें ऐसे महा हिंसक व्यापार-धन्धे भी नहीं करने चाहिये। शास्त्रमें ऐसे व्यापार-धन्धे 'कर्मादानके' नामसे प्रसिद्ध हैं। और उनकी संख्या पन्द्रह है। यथा—

१—अंगार कर्म—भट्टा लगवाकर कोयले, मिट्टीके बर्तन, ईंट, चूना इत्यादि पकवाना।

२—वन कर्म—जङ्गलोंमें वृक्ष, घास, बाँस इत्यादि कट-वाना और फलों व पुष्पोंका व्यापार करना।

३—शकट कर्म—गाड़ी, ताँगा आदि सवारी अथवा उनके साधन बनाना।

४—भाट कर्म—गाड़ी, बैल, ऊँट खच्चर इत्यादिपर माल लादना या इनको भाड़ेपर चलाना।

५—स्फोट कर्म—आटा, दाल, चावल आदि मील द्वारा तैयार करवाना; कुँआ, सरोवर, मिट्टी, पत्थर इत्यादि खुदवाना।

६—दन्त वाणिज्य—हाथीदांत, हड्डी, चमड़ा, मोरछल, सीप, मोती, कस्तूरी आदिका व्यापार करना।

७—लक्षवाणिज्य—लाख, नील, हरताल, सुहागा, साबुन, आदिको बनवाना या व्यापार करना।

८—रसवाणिज्य—मक्खन, चरबी, माँस, मधु, मदिरा, घी, तेल, आदिका व्यापार करना।

९—केशवाणिज्य—दास, दासी बैल, गाय, घोड़ा आदिका व्यापार करना।

१०—विषवाणिज्य—विष, शस्त्रास्त्र, हल आदि पदार्थोंका क्रय-विक्रय करना।

११—यन्त्रपीड़न कर्म—तिल, सरसों आदि पदार्थोंको घाणी में पेरना या पिरवाना।

१२—नलच्छिन्नकर्म—गाय, बैल आदिके कान, सींग, पूँछ आदि काटना या उनको अकता कराना, दागना आदि।

१३—असतीपोषण—सुआ, मैना, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, मयूर आदि जानवरोंको पालना या उनका व्यापार करना।

१४—दवदान—क्रोधके वश या उपज अच्छी करनेकेलिये जंगलमें आग लगाना।

१५—सरशोषण—सिंचाईकेलिये नदी, तालाब या सरोवरमें जल इकट्ठा करना।

उपरोक्त तमाम भोगोपभोग और कर्मादानोंका त्याग करानेका शास्त्रकारोंका केवल यही मन्तव्य है कि उन पदार्थों—वस्तुओंका उपयोग व उन व्यापारों या धन्धोंको नहीं करना चाहिये, जिनमें विशेष हिंसा होती हो। हिंसा करना मानों संसारको बढ़ाना है। इस कारण मनुष्यको जिस प्रकार हो सके, उस प्रकार अल्प-से-अल्प हिंसा करते हुये मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

हमें कोई मारे, पीटे, पेले, रौंदे, पीसे, दबावे तो उसमें जैसे हमें कष्ट अनुभव होता है, वैसे ही सभी जीवोंको होता है। प्रत्येक प्राणीको अपने सदृश ही दूसरे व्यक्तियोंके प्राण समझने चाहिये। इसीलिये शास्त्रमें कहा गया है कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः।" अर्थात् विद्वान वही है जो अपने सुख-दुःखके समान दूसरोंके सुख-दुःखका ध्यान रखता हो।

मनुष्यको जब इस बातका ख्याल हो जायगा, तब वह अपने-ही-आप अपने सब काम ऐसे करेगा या करना चाहेगा कि जिसमें दूसरोंको तकलीफ न हो। ऐसे विचारशील दयार्द्रपरिणामी मनुष्यको विशेष पुण्य-बन्ध होता है और उसके दिलमें क्रोध-मान-माया-लोभ आदि आत्म-शत्रु अपना वास नहीं करते। वह जीव जगत्-हितैषी और अकारण जगद्बन्धु होता है। ऐसे

सर्वदयालु मनुष्यका चित्त एक ऐसी शान्तिका अनुभव करता है, जो अन्यत्र दुष्प्राप्य है।

साधु लोग जहाँ तक हो सकता है, नहीं ही बोलते हैं*। यदि बोलनेकी अति आवश्यकता ही आन पड़े तो बोलते हैं, लेकिन बहुत थोड़ा। उतना ही, जितनेसे कि मतलब हल हो जाय-अल्पाक्षर बह्वर्थ + फिर भी बोलते समय मुँहपर कपड़ा× लगा लेते हैं। क्यों? इसीलिये कि मुँहकी भाफसे सूक्ष्म जीव उसी तरह भस्म हो जाते हैं, जिस तरहसे कि किसी विशालकाय अजगरके साँस छोड़नेसे—फुँकार मारनेसे—मुँहकी विषाक्त भाफसे हम लोग भस्म हो जाते हैं।

श्रावकका आठवाँ व्रत 'अनर्थदण्ड व्रत' है। इसको तीसरा गुणव्रत भी कहते हैं। इसका अर्थ है—बेमतलब पापकी क्रियाएँ न करना। संसारमें प्राणी आरम्भ, परिग्रह, मोह, माया इत्यादिमें फँस रहा है। गृहस्थकेलिये इन सबका सर्वथा त्यागना बड़ा मुशकिल है। क्यों कि मनुष्य संसारमें रहता है। उसे अपने शरीर, कुटुम्ब आश्रितोंकी रक्षा व पालन-पोषणमें छह कायके जीवोंकी हिंसा अर्थात् आरम्भ करना अनिवार्य है तो भी आरम्भ

* साधुओंके इस गुणका नाम 'वाग्गुप्ति' है।

+ साधुओंके इस गुणका नाम 'भाषासमिति' है।

× साधुओंके इस कपड़ेका नाम 'मुँहपत्ति' है।

जिस क़द्र कम हो सके, उतना कम करना चाहिये और सदा यह अभिलाषा रखनी चाहिये कि वह कौन सा दिन होगा कि मैं सर्व प्रकारके आरम्भ-परिग्रहसे अलहदा हूँगा और सदा हृदयसे पश्चात्ताप करते रहना चाहिये। इस प्रकार जो ज़रूरी आरम्भ अर्थात् पाप किया जाता है वह अर्थदण्ड है। पर जो विना कारण अर्थात् जिससे किसीका स्वार्थ तो सरे नहीं और फ़िज़ूलमें आरम्भ अर्थात् पाप हो, उसे 'अनर्थदण्ड' कहते हैं। यह अनर्थ दण्ड अनेक प्रकारका होता है, पर शास्त्रकारोंने इसको निम्न लिखित पाँच* भागोंमें बाँट दिया है।

(१) पापोपदेश—हिंसाकारी वचन बोलना, जिससे जीवोंका वध हो; ऐसी तरकीब बताना, जिससे जीवोंका महा अनर्थ हो। जैसे—शराब ऐसे बनती है, जुआ ऐसे खेला जाता है, विष ऐसे तैयार किया जाता है, खटमल या मच्छर इस प्रकार मारे जाते हैं। इत्यादि बातें आत्महितार्थी मनुष्यकेलिए सर्वथा वर्जनीय हैं।

---

* “पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥”

—स्वामी समन्तभद्राचार्य ।

अर्थात् १–पापोदेश, २–हिंसादान, ३–अपध्यान, ४–दुःश्रुति और ५–प्रमादचर्या, ये पाँच अनर्थदण्ड अनर्थदण्डके त्यागी महात्माओंने बतलाये हैं।

(२) हिंसादान—अस्त्र-शस्त्र या और प्रकारके हथियारोंका बनाना, दान देना जिससे जीवोंका घात हो। ऐसा करना भी मनुष्यकेलिये वर्जनीय है।

(३) अपध्यान—बुरा ध्यान, बुरे विचार करना। जैसे अमुक आदमीने मुझे गालियाँ दी थीं सो अच्छा हो, उसका लड़का मर जाय, उसके घरमें आग लग जाय, उसका दिवाला निकल जाय, उसे जेलखाना हो जाय, वह मुकद्दमा हार जाय, उसका माल-असबाब, मकान बाढ़में डूब जाय, इत्यादि।

ऐसा विचारनेसे प्राणीको कुछ मिलता तो है नहीं, पर वह अशुभ कर्मोंका बन्ध उससे अवश्य करता है। इस कारण ऐसे विचार व ख्यालात कदापि मनमें नहीं आने देने चाहिये।

(४) दुःश्रुति—चित्तको बिगाड़नेवाले विचारोंको खराब करनेवाले शास्त्रोंको—उपदेशोंको पढ़ना-सुनना। जैसे—गन्दे उपन्यासोंका पढ़ना-सुनना या ऐसे ही बेमतलबकी बातें जिनमें भरी हों, ऐसे व्याख्यानोंका सुनना-सुनाना।

(५) प्रमादचर्य्या—असावधानीसे ऐसे कार्य करना, जिससे लाभ तो कुछ हो नहीं, और दूसरोंको तकलीफ पहुँचे ही। जैसे—मार्गमें चले जा रहे हैं और अकौआ आदि वनस्पतिको बेंत मारते जा रहे हैं, जिससे वे कट-कट कर नीचे गिरते जा रहे हैं।

अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार* भी ध्यानमें रखने योग्य हैं। प्रायः लोग उनका ध्यान नहीं रखते और बेमतलब ही अपने मन, वचन और कायकी शक्तिका दुरुपयोग करते हैं। जिससे कुछ भी नतीजा नहीं निकलता। बल्कि कभी-कभी तो उल्टा नुक़सान हो जाता है। वे अतिचार इस भाँति हैं:—

१—कन्दर्प—रागसे हास्य-मिश्रित भण्ड—अश्लील वचन बोलना।

२—कौत्कुच्य—शरीरकी बेमतलब ही बुरी-बुरी अश्लील आकृतियाँ बनाना।

३—मौखर्य—बेमतलब अधिक बोलना। एक बातको अनेकानेक वार कहना। निष्प्रयोजन बोलना।

४—अतिप्रसाधन—बिना आवश्यकताके भोग-उपभोगकी सामग्रीको बढ़ाते चले जाना।

५—असमीक्ष्य अधिकरण—बिना प्रयोजन सोचे मन, वचन कायकी क्रियाएँ करना।

श्रावकका नवाँ व्रत 'सामायिक' है। जिसको पहिला शिक्षा व्रत भी कहते हैं। इसका अर्थ है—मनको एकाग्र करना।

---

* "कन्दर्पं कौत्कुच्यं, मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥
—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

जब मनुष्य अपने दिन-रातके चौबीस घण्टे दुनियादारीके कामोंमें लगाता है, तो कुछ समय उसको शुभ विचार, शुभ ध्यान और ईश्वर-चिन्तनमें अवश्य देना चाहिये। जो मनुष्य अपना थोड़ा बहुत समय परभवकेलिये नहीं देता है, उसको अन्त समयमें बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है।

इस सामायिक व्रतका मन्तव्य यह है कि प्रत्येक मनुष्यको कम-से-कम एक और ज्यादा हो तो और भी अच्छा है, सामायिक करनी चाहिये। एक सामायिकका काल एक मुहूर्त अथवा अड़तालीस मिनटका होता है। उतने समयकेलिये सांसारिक सारे कार्य्योंको छोड़ देना पड़ता है। सामायिक करनेवाले व्यक्तिको उस समयमें शुभ विचार अर्थात् धर्मध्यान करते रहना चाहिये या शास्त्रोंका पठन-पाठन करते रहना चाहिये। सामायिक करनेवाले व्यक्तिको मन, वचन और कायसे सर्व प्रकारकी हिंसा, इन्द्रियविषय, बुरे विचार, हँसी-मसखरी, सावद्य क्रिया आदि सभी प्रकारके सांसारिक कार्य्यका त्याग करना पड़ता है।

और व्रतोंकी भाँति सामायिकके भी पाँच* अतीचार होते हैं, जो कि त्यागने योग्य हैं। संक्षेपमें उनका स्वरूप यह है:—

१—मनमें आर्तध्यान या रौद्रध्यान का चिन्तन करना; २—वचनसे सावद्य वचन बोलना; ३—कायसे सावद्य कार्य

* "वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे।
सामायिकस्यातिगमाः व्यज्यन्ते पञ्चभावेन॥"
—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

करना; ४—सामायिकको निरादार भावसे करना और ५—सामायिकका तथा उसके समयका स्मरण न रखना। सामायिकमें किसी भी सांसारिक कार्यकी चिन्ता रखनी या कुकथा—राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा और भक्तकथा करना। सामायिक करते समय सामायिक करनेवालेको बत्तीस दोष और टालने चाहिये। वे बत्तीस दोष—दस मनके, दस वचनके और बारह कायके, इस तरह होते हैं।

श्रावकका दसवाँ व्रत 'देशावकाशिक' है, जिसको दूसरा शिक्षाव्रत भी कहते हैं। इसका अर्थ है-देशकी मर्यादा कर लेना। इस व्रतमें और छठे व्रतमें केवल इतना ही अन्तर है कि छठा व्रत जीवन पर्यन्त ग्रहण किया जाता है और यह व्रत एक दिनकेलिये ग्रहण किया जाता है*।

---

* व्रत दो प्रकारसे लिये जाते हैं--किसी वस्तुका त्याग दो प्रकारसे किया जाता है। एक जीवन पर्यन्त और दूसरा अल्पकालकेलिये। यावज्जीवन त्यागको शास्त्रमें 'यम' और परिमितकालीन त्यागको 'नियम' शब्दसे कहा गया है। यथा:—

"नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते॥"

—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

तमाम बातोंका असली मन्तव्य सिर्फ यही है कि जहाँ तक और जिस प्रकार सम्भव हो, वहाँ तक इच्छाओं और आवश्यकताओंको कम किया जाय। तमाम उमरमें न मालूम क्या-क्या इच्छायें पैदा हों, इस कारण काफ़ी गुंजाइश रखकर व्रत ग्रहण किये जाते हैं—नियम लिये जाते हैं। पर इन नियमोंको और भी संकुचित बनानेके ख्यालसे प्रत्येक दिनकी आवश्यकता और इच्छाओंको देखते हुये, प्रत्येक दिन नियम और लिये जाते हैं। जैसे आज मैं अमुक कोस तक जाऊँगा, अमुक-अमुक वस्तुओंका भोगोपभोग करूँगा। बाक़ीका सबका मेरे त्याग है। इत्यादि।

जो क्रिया छठे व्रतके अनुसार आ रही थी, उससे कहीं घटकर प्राणी क्रियाका भागी हो, इस कारण यह दसवाँ व्रत प्रत्येक दिन सुबहको ग्रहण किया जाता है और शामको या दूसरे दिन सुबहको विचार किया जाता है कि जो त्याग या नियम हमने किया था, उसमें कोई दूषण तो नहीं लगा है। अगर भूल चूकमें कोई दूषण लग गया हो तो उसकेलिये प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप करना पड़ता है, ताकि भविष्यमें दुबारा भूल न हो।

इस व्रतमें अल्पकालीन प्रत्याख्यान भी किया जाता है। जैसे-सूरज उदयसे एक घंटे तक या ढ़ाई घंटे तक या दोपहर तक या तीन पहर तक इत्यादिमें खाना खाने और पानी पीने अर्थात् किसी किस्मकी खाने पीनेकी कोई वस्तु नहीं खाई या पी

जाती है। इनको नियमपूर्वक ग्रहण किया जाता है और नियम पूर्वक पारण अर्थात् खान-पान किया जाता है।

अगर उपरोक्त प्रत्याख्यानोंमें जान कर या भूलमें कोई दूषण लग जाता है तो उसका प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप किया जाता है, ताकि भविष्यमें दुबारा भूल न हो।

ऊपर लिखे हुये व्रत-प्रत्याख्यान करनेका केवल इतना ही मतलब है कि मनुष्यका इन्द्रियों और मनपर काबू हो और त्याग तथा तपस्याका महावरा बढ़े। इनके करनेसे अशुभ कर्मोंके पुंजके पुंज नष्ट हो जाते हैं।

श्रावकका ग्यारहवाँ व्रत 'प्रोषधोपवास' है, जिसको तीसरा शिक्षाव्रत भी कहते हैं। इसका अर्थ है प्रोषध—द्वितीया-पञ्चमी-अष्टमी-एकादशी-चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें उपवास करना। साधुपना तो जन्म पर्यन्तकेलिये ग्रहण किया जाता है और प्रोषध कुछ समयकेलिये ग्रहण किया जाता है। गृहस्थोंकेलिये साधुपना धारण करना कठिन अवश्य है, पर ध्यान हर गृहस्थ अथवा श्रावकका उसी ओर रहना चाहिये कि वह कौन समय हो कि मैं संसारसे निकल कर साधुपना ग्रहण करूँ। इस व्रतके अनुसार गृहस्थ (श्रावक या श्राविका) एक दिन, दो दिन, चार दिन या ज्यादा दिन, जिसमें जैसी शक्ति हो, उसके अनुसार प्रोषध अथवा अस्थायी साधुपना ग्रहण करते हैं। यह व्रत कम-से-कम एक दिन

रात यानी चौबीस घंटेकेलिये ग्रहण किया जा सकता है। यह व्रत अठारह दूषणों रहित किया जाता है।

यह ख़्याल करके कि कल मुझे प्रोषध करना है। इसलिये आज मैं खूब खालूँ या नहा लूँ या अमुक काम कलके बजाय आज कर लूँ, इत्यादि प्रकारकी सावद्य क्रिया करनेसे दूषण लगता है। इस व्रतमें मन, वचन और कायसे षट्कायका अर्थात् सर्व प्रकारकी हिंसाका त्याग किया जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंका सर्वथा त्याग किया जाता है। किसी प्रकारकी खाने, पीने या लगानेकी कोई भी वस्तु उपयोगमें नहीं लाई जा सकती। प्रमादरहित धर्मध्यान ध्याना पड़ता है। इस व्रतमें दिनमें सोना या कोई निठल्लेपनेकी बातें करना निषिद्ध हैं। स्नान, कुल्ला आदि नहीं किया जाता है। बिछाने व ओढ़ने के मामूली वस्त्र रक्खे जाते हैं, जिनको अच्छी प्रकार देख-भाल करके इस्तेमालमें लाया जाता है, ताकि किसी जीव-जन्तुकी बिराधना न हो जाय। लघुनीत आदिकेलिये भूमि देखकर रक्खी जाती है। यह प्रोषध एकान्तस्थान या प्रोषधशालामें किया जाता है। किसी प्रकारकी सावद्य क्रिया करनेका इसमें निषेध है। सुबह-शाम प्रतिक्रमण किया जाता है। इस बातका विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि किसी प्रकारकी हिंसा न हो और चित्त शान्त रहे। इसमें तमाम सांसारिक झंझटोंसे मुक्त हो जाना पड़ता है।

इस प्रकारके प्रोषधव्रत हर गृहस्थको कम-से-कम एक मासमें दो—हर महीनेमें हर चतुर्दशीको करना आवश्यक है और ज्यादा किये जायँ तो और अच्छा है। प्रोषध करनेके पहले शामको और दूसरे दिन सुबह प्रतिक्रमण किया जाता है। इसकेद्वारा व्रतमें अगर जानकारीमें या अज्ञानमें कोई-कोई दूषण लग गया हो तो उसके लिये प्रायश्चित्त किया जाता है, ताकि भविष्यमें दुबारा भूल न हो*।

श्रावकका बारहवाँ व्रत, 'अतिथिसंविभाग' है, जिसको चौथा शिक्षाव्रत भी कहते हैं। इसका अर्थ है—साधु-साध्वियोंको दान देना।

दान दो प्रकारके होते हैं, एक सुपात्रदान दूसरा कुपात्रदान। सुपात्रदान वह है, जो साधु, मुनि, महात्माओंको दिया जाता है। क्योंकि इस दानद्वारा ऐसी आत्माओंका पोषण होता है, जिन्होंने सांसारिक सारे कार्य्योंको छोड़ दिया है और जो सिर्फ अपनी आत्मोन्नतिके साधनेमें लगे हुये हैं। कुपात्रदान वह है, जिससे उन लोगोंका पोषण होता है, जो विषयों और संसारी राटारमन

* जो श्रावक या श्राविका श्रावकके बारह व्रत या कम धारण करते हैं, उनकेलिये प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना ज़रूरी है। इस क्रियाकेद्वारा अगर किसी व्रतमें दूषण लगा हो तो उसकेलिये पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्त किया जाता है, ताकि भविष्य में ध्यान रहे।

में लगे हों। साधु, मुनि तो दान ग्रहण करके आत्मोन्नति व शुभ कर्म करते हैं और पाखंडी दान ग्रहण करके कुकर्म और अशुभ कर्मोंको करते हैं। इस कारण जहाँ तक संभव हो, वहाँ तक गृहस्थको सुपात्रदान देना चाहिये। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें बहुतसे दान किये जाते हैं। उनमें यह देखना चाहिये कि इससे कोई अनर्थ तो नहीं होता है। यदि ऐसा हो तो दान नहीं देना चाहिये। विद्यादान, अभयदान, अनाथों व अपाहिज व बेवाओंको दान देना भी उचित है।

गृहस्थोंको इस बातका अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि पहिले तो साधुका मिलना ही कठिन है। यदि सौभाग्यवश वे मिल जायँ तो प्रेम व आदरसे उन्हें दान देना चाहिये। जो वस्तु उनके लेनेके योग्य हो, उसको अशुद्ध नहीं करनी चाहिये और जो वस्तु उनके लेनेके प्रतिकूल हो, उसे शुद्ध कर देनी नहीं चाहिये। ऐसा करनेसे दान देनेवाले व लेनेवाले, दोनोंको दूषण लगता है। सदा विनयपूर्वक दान देना चाहिये। दान देनेमें लोभ-संकोच आनेसे उसका समस्त महत्त्व चला जाता है। इसलिये यदि दान देना हो तो उदार चित्तसे देना चाहिये।

गृहस्थ अथवा श्रावक धर्म स्वर्णके समान है। जैसे किसीको एक तोला, किसीको दो तोले, किसीको पाँच तोले, किसीको बारह तोले—जिसको जितने सोनेकी आवश्यकता हो, उसको उतना सोना काटकर आसानीसे दिया जा सकता है; इसी प्रकार श्रावक

के बारह व्रत हैं, इनमेंसे जिसको जैसी शक्ति हो, वह उतने ही—एकसे लेकर बारह व्रत तक ग्रहण कर सकते हैं।

इन समस्त व्रतोंका अभिप्राय यह है कि इच्छा, मन व इन्द्रियोंकी विषय-वासनाएँ कम की जायँ। कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) की गति मंद की जाय। सदा बुरे विचारों व भावोंसे दूर रहा जाय और अच्छे विचार व भावोंका सदा मनन किया जाय। ऐसा करनेसे मनुष्यकी आत्मा क्रम-क्रमसे उच्च अवस्थाकी ओर अर्थात् त्यागकी ओर अग्रगामी होती जाती है।

बस, यही मनुष्य-जन्मको सफल बनानेका प्रारम्भिक सरल और सीधा रास्ता है।

यदि गृहस्थ अथवा श्रावक या श्राविका बारह व्रत पालते हुये अपने मनुष्य-जन्मको और भी अधिक सफल बनानेका विचार रखते हों तो उनको श्रावककी प्रतिमाएँ धारण करनी चाहिये।

जो श्रावक मुनिपद ग्रहण करनेको तो असमर्थ हैं, लेकिन श्रावक के बारह व्रत पालनेसे विशेष पराक्रम तथा त्याग करना चाहते हैं, वे एक विशेष त्याग-मार्गको ग्रहण करते हैं, जिसे 'प्रतिमा' कहते हैं। ये प्रतिमाएँ ग्यारह प्रकारकी होती हैं*। जो श्रावक प्रतिमा धारण

---

* "दंसणवयसामाइय-, पोसहसचित्तराइभत्ते य।
बम्भारंभपरिग्गह-, अणुमणमुद्दिट्ठमेदेदे ॥"

करनेका विचार करते हैं, वे पहिले अपने घर-बार व व्यापारका सारा भार अपने बड़े पुत्र या भ्राता या जो कोई योग्य सम्बन्धी हो, उसको सौंप देते हैं और आप स्वयं घर छोड़कर किसी एकान्त स्थानमें या प्रोषधशालामें निवास करके प्रतिमाओंका पालन करना प्रारम्भ कर देते हैं। पहिली प्रतिमा एक मासकी, दूसरी दो मासकी, इसी प्रकार हर प्रतिमामें पिछला काल मिलाकर एक-महीना बढ़ता चला जाता है। अर्थात् दसवींमें दस महीने और ग्यारहवींमें ग्यारह महीने लगते हैं। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओंमें पाँच वर्ष छह महीनेका समय लगता है। पहिली प्रतिमासे दूसरी प्रतिमामें, दूसरीसे तीसरी प्रतिमामें, इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रतिमाओंमें पूर्व-पूर्वकी प्रतिमासे नियम, प्रत्याख्यान और तपस्या बढ़ती हुई होती है। यहाँ तक कि ग्यारहवीं प्रतिमामें क़रीब-क़रीब साधु वृत्ति हो जाती है। बाल लौंच करना; भिक्षासे सूझता अहार लेना; पृथ्वीपर शयन करना; अल्प वस्त्र रखना; डँस, मशक, शीत, उष्ण आदि परीषहें सहन करना आदि बातें यहींपर हो जाती हैं।

इस प्रकारकी क्रिया करके प्राणी बहुत हद तक अपने मनुष्य-जन्मको सफल बना सकता है।

अर्थात्—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्तत्याग, (६) रात्रिभुक्तित्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग और (११) उद्दिष्टत्याग, ये श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।

यदि मनुष्यके भाव—विचार इससे भी ऊपर बढ़नेके हों अर्थात् मनुष्य-जन्मको पूर्णतया सफल बनानेके हों तो उसको मुनिवृत्ति ग्रहण करनी चाहिये। मुनिवृत्तिका स्वरूप निम्न प्रकार है:—

मुनिवृत्ति धारण करना तो सरल है, पर उसका पालना महा कठिन है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि साधुवृत्तिमें जीते-जी मरना है। पर जिन्होंने इसके उद्देश्यको समझ लिया है, उनके लिये कोई मुश्किल चीज़ नहीं है। मुनिवृत्ति केवल वही स्त्री या पुरुष धारण कर सकते हैं, जिनका हर प्रकारसे सांसारिक सुख, आराम, वैभव व पदार्थोंसे—धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, भूमि, मान, अपमान, प्रेम, मोह, कष्ट, क्रोध, लोभ, यहाँ तक कि जीवन-मृत्युसे भी राग-द्वेष हट गया हो।

मुनिको निम्नलिखित व्रत धारण करने पड़ते हैं, जिनको उसे जीवन पर्यन्त धैर्य्य व पुरुषार्थ और शान्ति भावसे निवाहने पड़ते हैं।

१—किसी प्रकारकी हिंसा मन, वचन और कायसे करे नहीं, करावे नहीं और करनेवालेको भला समझे भी नहीं।

२—किसी प्रकारकी असत्य भाषा मन, वचन और कायसे बोले नहीं, बुलवावे नहीं और बोलनेवालेको भला जाने भी नहीं।

३—किसी प्रकारका अदत्तादान अर्थात् बग़ैर दी हुई वस्तु, मन, वचन और कायसे ले नहीं, लिवावे नहीं और लेनेवालेको भला जाने भी नहीं।

४—किसी प्रकारका मैथुन अर्थात् विषय-भोग मन, वचन और कायसे सेवे नहीं, सिवावे नहीं और सोनेवालेको भला जाने भी नहीं।

५—परिग्रह अर्थात् धन, धान्य, भूमि आदि मन, वचन और कायसे रखे नहीं, रखावे नहीं और रखनेवालेको भला जाने भी नहीं।

उपरोक्त पाँच महाव्रतोंके अतिरिक्त और भी बहुतसे नियमों को मुनि पालन करते हैं। यथाः—

१—नंगे पैर और नंगे सिर रहते हैं। सदा पैदल चलते हैं। किसी भी प्रकारकी सवारी, जैसेः—मोटर, रेल, घोड़ा, बैलगाड़ी आदिपर नहीं चढ़ते हैं।

२—चतुर्मासमें अवश्य एक-स्थानपर चार मासकेलिये निवास करते हैं, वरना सदा भ्रमण किया करते हैं। अधिक-से-अधिक एक स्थानमें एक माससे अधिक नहीं ठहरते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ एक चतुर्मास कर लेते हैं, वहाँ वे तीन वर्ष तक चतुर्मास नहीं करते हैं।

३—मामूली श्वेत वस्त्र रखते हैं। कोई सिला हुआ कपड़ा नहीं पहनते हैं। मामूली सूत्र व धर्मग्रन्थ और मामूली काष्ठके भोजन व जलकेलिये पात्र रखते हैं। वे उतना ही सामान रखते हैं, जिसे वे स्वयं लेकर चल सकें। वे किसी जानवर या आदमीपर अपना सामान लादकर नहीं चलते हैं।

४—वे हजामत नहीं बनवाते। एक वर्ष में दो बार अपने सर व डाढ़ीके बालोंका लौंच कर लेते हैं अर्थात् हाथसे उखाड़ लेते हैं।

५—उनको विधिपूर्वक जो भोजन व जल मिल जाता है, उसे ही ग्रहण करते हैं। वे कोई साग-भाजी या फल नहीं खाते हैं और न कच्चा जल—कुये, नदी व तालाबका पानी पीते हैं। वे अचित्त आहार व अचित्त जल—गरम पानी लेते हैं। यदि उनके निमित्त खाना बनाया जाय या जल गरम किया जाय तो वे उसे नहीं ग्रहण करते हैं। वे उसे अशुद्ध समझते हैं। सिर्फ दिन में ही खाते व पीते हैं। रात्रिमें कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं।

६—सदा नीचे देखकर चलते हैं और स्थानको आगेसे झाड़कर बैठते हैं। ताकि कोई चलता-फिरता जीव मर न जाय। रात्रिमें दीपक नहीं जलाते हैं। किसी प्रकारकी शोभा वगैरा नहीं करते हैं। किसीके घर नहीं बैठते हैं। किसी प्रकारका मेला-तमाशा नहीं देखते हैं। किसी गृहस्थसे अपनी सेवा नहीं कराते हैं। किसी प्रकारका नशा, तम्बाकू, पान-सुपारी आदि नहीं खाते-पीते हैं। स्वयं जाकर भोजन व जल लाते हैं।

७—बाईस प्रकारके परीषह* अर्थात् तकलीफोंको प्रसन्नता व शान्तिपूर्वक सहन करते हैं। जैसे—यदि नियमपूर्वक भोजन या

* "क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।"

—उमास्वाति।

जल न मिले तो प्रसन्नचितसे निर्जल और निराहार रह जाते हैं। गर्मीमें पंखा नहीं करते हैं। ठंडमें आँचसे नहीं तापते हैं या मर्यादाके बाहर वस्त्र, जैसे—सौर या कम्बल नहीं रखते हैं। डंस-मच्छरकी परीषह सहन करते हैं। यदि ठहरनेको स्थान नहीं मिलता है तो वृक्षके नीचे ठहर जाते हैं। यदि कोई बुरा-भला या गाली आदि दे या कोई दुष्ट जन वार भी करे तो शान्तिपूर्वक सहन कर लेते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारके परीषह वे सहन करते हैं।

८—बयालीस दोष टालके आहार ग्रहण करते हैं। जैसे—अग्निपर कोई वस्तु होगी तो उसे नहीं ग्रहण करेंगे। कच्चे पानी, या सब्जीसे स्पर्श होगा तो नहीं ग्रहण करेंगे। यदि स्त्री बच्चेको दूध पिला रही हो तो उससे आहार नहीं लेंगे। यदि कोई वस्तु किवाड़ोंके अन्दर या तालेमें रक्खी हो तो उसे नहीं लेंगे। दीनतासे दान नहीं मॉंगेंगे। इसी प्रकार बहुतसे अनेक दोष टालकर आहार ग्रहण करते हैं।

९—जैसी जिस मुनिकी शक्ति हो, उसके अनुसार तपस्या, नियम, अविग्रह, आतापना आदि करते हैं। कोई एक दिन, कोई दो दिन, यहाँ तक कि सात दिन, पन्द्रह दिन, महीना, दो महीना, चार महीने तककी तपस्या करते हैं। तरह-तरहके नियम व अविग्रह करते हैं और सूर्य्यकी गर्मी और रात्रिकी ठंडको सहन करनेकी तपस्या करते हैं। कोई-कोई केवल छाछपर ही रहते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारकी तपस्या व त्याग करते हैं।

१०—राग-द्वेष नहीं करते। क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं करते। निन्दा नहीं करते। रति-अरति नहीं करते। मिथ्या दर्शन शल्य नहीं रखते। अनुराग नहीं करते। प्राणी मात्रको अपनी आत्माके तुल्य समझते हैं। सदा शान्ति भाव रखते हैं।

११—यदि जानकारीमें या अज्ञानतासे कोई दोष लग जाता है तो गुरु महाराजकी सेवामें तत्काल निवेदन करते हैं और जो वे प्रायश्चित्त देते हैं, उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। ज्ञानका काफी अभ्यास करते हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपश्चाचार, वीर्याचारमें सदा प्रवृत्त रहते हैं। सदा वैराग्य सहित रहते हैं। अपनी आत्माके और दूसरोंकी आत्माका भी कल्याण करते हैं। सदा आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यानका त्याग करते हैं और सदा धर्म ध्यान रखते हैं।

१२—साधुकी दिनचर्य्या इस भाँति है:—

मुनि रात्रिका एक पहर जब बाकी रहे तब उठे और उस समय स्वाध्याय या रात्रिका प्रतिक्रमण करे, इसके बाद दिनके पहिले पहरमें प्रतिलेखना तथा स्वाध्याय करे, दिनके दूसरे पहरमें एक पहर तक ध्यान करे, तीसरे पहरमें मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा—आहार आदि करे, चौथे पहरमें पढ़े तथा प्रतिलेखन करे और सायंकालमें दिनका आवश्यक प्रतिक्रमण करे, रात्रिके पहले पहरमें स्वाध्याय करे और दूसरा पहर निर्मल ध्यानमें बितावे, इस प्रकार मध्य रात्रि बीत जानेपर एक पहर निद्रा ले।

१३—मुनि महात्मा पुरुष सदा मन, वचन और कायको शुभ कार्योंमें प्रवर्ताते रहते हैं; सदा अपनी आत्माकी आलोचना, निन्दा करते रहते हैं; जब अन्त समय आया हुआ जानते हैं, तब 'संथारा' ग्रहण करते हैं अर्थात् आहार-पानीका त्याग कर शरीर की ममता छोड़ देते हैं और अपने पापोंकी निन्दा-आलोचना करते हैं। चौरासी लाख जीवयोनिसे क्षमा-प्रार्थना करके धर्म ध्यान ध्याते हुये समाधि भावसे देह त्याग करते हैं।

मुनियोंमें जो मुनि उत्कृष्ट ज्ञान, ध्यान, तप आदि करते हैं, उन्हें 'उपाध्याय पदवी' दी जाती है। ये उपाध्यायजी समस्त शास्त्रोंके उपाङ्गोंके जानकार होते हैं। अपनी अमृत वाणीसे उपदेश देकर भव्य जीवोंको प्रतिबोध करते हैं और उन्हें तारते हैं। वे ज्ञानके भंडार, दयाके सागर और भव्य जीवोंको ज्ञानरूपी नेत्रके दातार होते हैं।

जो उपाध्यायजी और भी अधिक अपने मनुष्य-जन्मको सफल बनाना चाहते हैं. वे विशेष पुरुषार्थ और पराक्रम फोड़ते हैं और 'आचार्य्य पद' को प्राप्त करते हैं।

आचार्य्यजी ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्य्याचार आप पालते हैं और दूसरोंको पलवानेका प्रयत्न करते हैं। वे छत्तीस गुणों और आठ संपदाओंसे युक्त होते हैं।

मुनि, उपाध्याय और आचार्य्य जो कि उत्कृष्ट कर्तव्य-पालनमें संलग्न हैं अर्थात् तीव्र, तपस्या, ज्ञान और ध्यान करते

हैं, वे चार घनघाती कर्म अर्थात् ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्मको क्षय करके केवलज्ञानीके पदको प्राप्त करते हैं। जिसका मतलब यह है कि वे समस्त संसारकी घटनाओं व समस्त जीव मात्रकी अन्तर्गत व भावनाओंको पूर्ण रीतिसे देखते व जानते हैं। अन्त समयमें आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्मको भी क्षय करके अर्थात् सर्व प्रकारके कर्मोंसे मुक्त होकर और चौरासी जीवयोनिको छोड़कर निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं और सदाकेलिये अपनी आत्माको आवागमनके चक्करसे रहित करते हैं। इस प्रकार वे मनुष्य-जन्म पानेका जो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट उद्देश्य है, वह प्राप्त करते हैं अर्थात् सिद्ध गतिको प्राप्त करते हैं।

ध्यानका स्वरूप

ध्यानका सम्बन्ध चित्त अर्थात् मनसे है। अर्थात् मन, वचन और कायकी हानिकारक अशुभ प्रवृत्तियोंको रोककर सुख देनेवाली शुभ प्रवृत्तियोंमें स्थिर रहना, कषायके वेगको दबाना और इन्द्रियोंका निग्रह करना, 'ध्यान' कहलाता है*। और ऐसी अवस्थामें प्रवृत्तनेवाला प्राणी 'ध्यानस्थ, ध्यानस्थित या ध्यानमग्न' कहलाता है। संक्षिप्त शब्दोंमें— अपने लक्ष्यपर चित्तको एकाग्र करना ध्यान कहलाता है।

ध्यानके सामान्य रीतिसे (१) शुभ और (२) अशुभ, इस तरह दो और विशेष रीतिसे (१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, इस तरह चार विभाग—भेद शास्त्रमें किये गये हैं। इन चारोंमें पहिले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं।

पौद्गलिक दृष्टिकी मुख्यताके किंवा आत्म-विस्मृतिके समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टिकी गौणता व आत्मानुसन्धान दशामें जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसारका कारण और शुभ ध्यान मोक्षका कारण है।

आर्त्त ध्यान

शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयसे इष्ट (अभिलषितके) संयोग (मिलने) से और अनिष्ट (अनभिलषित) के वियोग

* "एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"। —उमास्वाति।

(विच्छेद) से तथा अनिष्टके संयोग और इष्टके वियोगसे मनमें जो संकल्प-विकल्प पैदा होते हैं—उथल-पुथल उत्पन्न होती है, उसे 'आर्तध्यान' कहते हैं। इसके चार भेद हैं:—

१—अनिष्टसंयोग, २—इष्टसंयोग, ३—रोगोदय और ४—भोगेच्छा।

१—अनिष्टसंयोग—जिन प्राणियों तथा वस्तुओंसे, जैसे—सर्प, सिंह, चोर, मृत्यु आदिसे अपना तथा अपने हितैषियोंका बुरा तथा नुकसान होनेकी सम्भावना होती है, उनके शीघ्र नाश हो जानेमें जो चिन्तन तथा इच्छा होती है, उसे 'अनिष्टसंयोग आर्त्तध्यान' कहते हैं।

२—इष्टसंयोग*—मोहनीय कर्मके उदयसे सुखकारी वस्तुओं से, जैसे—सुन्दर स्त्री, धन, कुटुम्बकी वृद्धि, बाग-बगीचे, सवारी, नौकर-चाकर आदिसे देवताके समान सुखोंकी इच्छाका करना अथवा जो भोग और उपभोग मिले हों, उनकी रहरहकर सराहना व याद करना, इत्यादि प्रकारके संकल्प-विकल्पोंको 'इष्टसंयोग आर्त्तध्यान' कहते हैं।

---

* किसी-किसी जगह 'इष्टसंयोग' नामक आर्तध्यानकी जगह 'इष्ट वियोग' नामका आर्तध्यान भी माना गया है। उसका अर्थ यह किया गया है कि—जो पदार्थ अपनेको प्रिय मालूम देते हैं, उनके वियोग हो जानेपर मनुष्यके जो क्लेशित परिणाम होते हैं, जैसे—पुत्रके वियोगमें, धनके नाशमें, अपयश होने आदिमें, उसे 'इष्टवियोग आर्तध्यान' कहते हैं।

३—रोगोदय—संसारमें समस्त प्राणी आरोग्य-सुखकी इच्छा रखते हैं। पर अशुभ वेदनीय कर्मोदयके कारण जीवको नाना प्रकारके रोगादि खड़े हो जाते हैं। उनके कारण हाय-हाय दुःख व सन्ताप करना और उनके आरामकेलिये अनेक औषधोपचार करनेमें तन्मग्न होना, रोगकी वृद्धिसे शोकातुर और हानिसे हर्षित होना, इत्यादि प्रकारके ख्यालातको 'रोगोदय आर्त ध्यान' कहते हैं।

४—भोगेच्छा—पाँचों इन्द्रियोंके विषय-सेवनकी तीव्र इच्छा का होना। जैसे—आँखोंसे सुन्दर-सुन्दर स्त्रियोंको देखनेकी इच्छा रखना; नाकसे बढ़िया-बढ़िया फूल और इतर सूँघनेकी ख्वाहिश रखना; कानसे अच्छे-अच्छे गाने सुननेकी अभिलाषा रखना; सुन्दर और सुस्वादु भोजन करनेकी इच्छा रखना; दूसरोंको सुख व आनन्द भोगते देखकर कुढ़ना, स्पर्धा करना, इत्यादि प्रकारके विचारोंको 'भोगेच्छा आर्तध्यान' कहते हैं।

आर्तध्यान ध्यानेवाले प्राणीमें प्रायः चार लक्षण पाये जाते हैं। यथा—१—आक्रन्दन—रुदन करना। २—चित्तमें शोक करना। ३—आँखोंसे आँसू गिरना और ४—विलाप करना।

अगर भव्य मनुष्य अनिष्टका संयोग, इष्टका वियोग, रोगादि दुःखोंकी प्राप्ति और भोगादि सुखोंकी अप्राप्ति नहीं चाहते हैं तो उनको आर्तध्यान कदापि नहीं ध्याना चाहिये। उनको सदा धर्मध्यान अर्थात् अच्छे व शुभ विचारोंका ध्यान करते

रहना चाहिये। जैसे—हमको व्यर्थ शोक-सन्ताप नहीं करना चाहिये, अगर कोई रोग या तकलीफ हो जाय तो शान्ति पूर्वक उसको सहते हुए उसके विनाशका उपाय करना चाहिये, अगर जीवनमें आनन्द और सुखप्रद वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं हुई है तो उसकेलिये शान्ति-पूर्वक उपाय करना चाहिये और तब भी यदि वे नहीं प्राप्त हों तो अपने पूर्व-जन्मका अशुभ कर्मोंका उदय समझना चाहिये। इस तरह मनुष्यको सदा शुभ विचार रखने चाहियें। यदि अज्ञानवश बुरे विचार आवें भी तो तुरन्त उन्हें दूर कर देना चाहिये। छटे गुणस्थान तक इस आर्तध्यानका होना संभव है।

रौद्रध्यान

जैसे मदिरापान करनेसे मनुष्यकी बुद्धि खराब हो जाती है और वह बुरे कर्मोंमें आनन्द मानता है। उसी प्रकार यह जीव अनादिकालसे कर्म-रूपी मदिराके नशेमें मतवाला हो रहा है, जिसके प्रभावसे इसके अन्तःकरणमें बुरे-बुरे विचार पैदा होते हैं, जिन्हें ज्ञानियोंने "रौद्रध्यान" कहा है। रौद्रध्यानके चार भेद हैं। यथा—

१—हिंसानुबन्ध, २—मृषानुबन्ध, ३—तस्करानुबन्ध और ४—विषयसंरक्षणानुबन्ध।

१-हिंसानुबन्ध—जिस प्राणीका चित्त सदा छेदन, भेदन, ताड़न, बन्धन बाँधना, दमन करना, प्रहार करना आदि कर्मोंमें

अनुराग मानता है अथवा जिसको दया कदापि नहीं आती है, वह सदा "हिंसानुबन्ध रौद्रध्यान" ध्याता रहता है। इस ध्यानको ध्यानेवाला निम्नलिखित कार्य करता रहता है:—

जीवोंकी शिकार करते हुये, कत्ल करते हुये, दुःखसे चिल्लार मारते हुये या किसीको मरते हुये देखकर आनन्द मानता है और कहता है कि बहुत अच्छा हुआ। उसको तो यह दण्ड या तकलीफ़ मिलनी ही चाहिये थी। यह क्या अच्छी शिकार है! सर्प, बिच्छू आदि हिन्सक जीवोंका मारना अति उत्तम है। नरमेध, अश्वमेध आदि यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है। वह हिंसा द्वारा बनी हुई वस्तुओंका उपयोग करता है। जैसे—चमड़ेके जूते, हड्डीकी चीजें, पंखोंकी वस्तुयें, रेशमके कीड़ों द्वारा बना हुआ रेशम इत्यादि वस्तुओंका उपयोग करता है या कराता है या करनेको भला मानता है। यह जीव 'हिंसानुबन्ध रौद्रध्यान'का बन्धन करता है।

२—मृषानुबन्ध—जो प्राणी सदा दूसरोंको धोखा देने व ठगनेका विचार किया करता है और असत्य कर्मोंमें आनन्द मानता है, वह 'मृषानुबन्ध रौद्रध्यान' ध्याया करता है।

इस ध्यानके ध्यानेवाला व्यक्ति निम्नलिखित अशुभ कार्य किया करता है:—वृद्ध, रोगी या निकम्मे वरका अच्छी कन्याके साथ विवाह कराता है; गाय, घोड़ा, बैल आदि पशुओंको अच्छा कह कर बिकवाता है; नक़ली मालको असली कह कर और झूठे

मालको सच्चा कह कर बेचता है; कोई धरोहर रख जाय तो उसे हजम कर जाता है; व्यापारमें धोखा देता है या झूठ बोलता है; अच्छेमें खराब अथवा नयेमें पुराना माल मिला कर उसे असली और नया माल कह कर बेचता है; अपने स्वार्थसे झूठा पन्थ चलाता है; ब्रह्मचारी कहा कर व्यभिचार करता है; अन्धे लूले, लँगड़ों, अपाङ्गोंकी हँसी उड़ाता है। इत्यादि।

३—तस्करानुबन्ध—जो प्राणी सदा चोरी करनेका विचार किया करता है और अपने भाई चोरोंको नई-नई नाना प्रकारकी चोरी करने अथवा ठगनेकी तरकीबें सोचा तथा बताया करता है और प्रशंसा किया करता है, वह 'तस्करानुबन्ध रौद्रध्यान' ध्याया करता है।

इस ध्यानका ध्यानेवाला व्यक्ति निम्न लिखित अशुभ विचार किया करता है:—किस तरह अमुक धनीके घरमें चोरी करूँ अथवा डाँका गेरूँ; किस तरह ताले अथवा लोहेकी मजबूत तिजूरियोंको तोड़ डालूँ; साहूकार बनकर झूठी हुंडी बनाऊँ; या और किसी तरहसे साहूकारोंका रुपया मारूँ; जो इस प्रकार सोचा-विचारा करता है अथवा चोरोंका माल खरीदता है, जबर-दस्ती कमजोरोंकी मिल्कियतपर अपनी मालकीयत जमाता है, वह 'तस्करानुबन्ध रौद्रध्यान' ध्याया करता है।

४—विषयसंरक्षणानुबन्ध—जो प्राणी सदा इसी बातमें दत्त-चित्त रहता है कि किस प्रकार मैं अपने धन, जन, सम्पत्ति या

ऐश्वर्यकी वृद्धि करूँ, जिससे मेरी विषयकामना पूर्ण हो सके और जो सदा कल्पित तरकीबें सोचा करता है, वह 'विषय संरक्षणानुबन्ध रौद्रध्यान' ध्याया करता है।

इस ध्यानके ध्यानेवाला निम्नलिखित अशुभ कर्मोंको किया करता है। अगर वह राजा है तो सदा यह विचारा करता है कि किन तरकीबोंसे मैं अपने राज्यकी वृद्धि और शत्रुओंसे रक्षा कर सकता हूँ, इस कारण वह सदा नाना प्रकारके बुरे व घातक विचार मनमें लाया करता है और तरह-तरहकी तरकीबें (Plans) रचा करता है। इत्यादि।

अगर वह धनी है तो सदा विचारा करता है कि किन-किन तरकीबोंसे मैं अपने धनकी वृद्धि कर सकता हूँ और किस प्रकार चोर, डाकुओं और बदमाशोंसे अपनी सम्पत्तिकी रक्षा कर सकता हूँ। इत्यादि।

कुछ प्राणी अपने शरीरको पुष्ट करनेके विचारसे अखाद्य-वस्तुओंका सेवन करते हैं और बुरे-बुरे विचार चित्तमें लाया करते हैं। इत्यादि। जो प्राणी सदा अपने संरक्षण करने और अन्यको परिताप पहुँचानेकी क्रिया अथवा विचार किया करते हैं, वे सदा 'विषयसंरक्षणानुबन्ध' ध्यानको ध्याया करते हैं।

रौद्रध्यान ध्यानेवाले प्राणीमें प्रायः चार लक्षण पाये जाते हैं—
१—हिंसक कार्य करना तथा उनका अनुमोदन करना, २—झूठे कर्म करना तथा उनका अनुमोदन करना, ३—चोरीका कर्म करना

तथा उनका अनुमोदन करना और ४—अपने धन और सुखोंकी रक्षामें दत्तचित्त रहना और उनका अनुमोदन करना।

अगर प्राणी हिंसानुबन्ध, मृषानुबन्ध, तस्करानुबन्ध और विषयसंरक्षणानुबन्ध विचारोंसे बचना चाहते हैं अर्थात् सुख और शान्ति चाहते हैं तो उनको रौद्रध्यान कदापि नहीं ध्याना चाहिये और सदा धर्मध्यान अर्थात् अच्छे व शुभ विचारोंका ध्यान करते रहना चाहिये। जैसे जहाँ तक मुमकिन हो वहाँ तक किसी प्रकार के चलते-फिरते तथा अन्य अदृश्य जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। यदि कोई प्राणी हिंसा करता हो तो उसे समझा बुझाकर रोकना चाहिये। कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये। सदा सचाई और ईमानदारीके साथ व्यापार या अन्य कार्य करने चाहिये। किसी प्रकारकी चोरी नहीं करनी चाहिये। अथवा विश्वासघात नहीं करना चाहिये। सदा धन, स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्यके रक्षणमें दत्त चित्त नहीं होना चाहिये अर्थात् जितनी रक्षाकी आवश्यकता है, उतना ही करते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त हिंसा, झूठ, चोरी और संरक्षण सम्बन्धी विचार तक मनमें नहीं लाने चाहिये और यदि अज्ञानवश उपर्युक्त बुरे विचार आभी जाँय तो तुरन्त उनको दूर कर देना चाहिये।

स्पष्टीकरण

ये आर्त और रौद्र ध्यान पापोंसे भरे हुये हैं। ये दोनों ध्यान विना अभ्यासके—पूर्व कर्मोंके उदयसे—स्वभावसे ही उत्पन्न

होते हैं और जहाँ तक कर्मोंकी प्रबलता रहती है, वहाँ तक निरन्तर हृदयमें बेचैनी किया करते हैं।

जिन आत्माओंने उच्च स्थानकी अपेक्षासे संयम ग्रहण कर लिया है अथवा ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, मुनि आदिका भेष धारण कर लिया है, उनको तो ये दोनों निकृष्ट और बुरे ध्यान बातकी बातमें अर्थात् एक क्षणमें नरकगामी बना देते हैं।

ये दोनों ध्यान मोक्षमार्गमें मुख्य बाधक हैं। इस कारण जो भव्य प्राणी अपने संसारको कम करना चाहते हैं, उनको इन दोनों ध्यानोंको अपने चित्तमें कदापि स्थान नहीं देना चाहिये अर्थात् अपने मनको इन्द्रिय, विषय, कषाय, प्रमाद आदि अशुभ कर्मोंकी ओर कदापि नहीं जाने देना चाहिये। सदा शुभ भाव अथवा शुक्ल और धर्म ध्यान ध्याते रहना चाहिये। जिनका वर्णन अगले पृष्ठोंमें किया जाता है। पंचम गुणस्थानक तक ही इन ध्यानोंके रहनेकी संभावना है।

शुभ ध्यान

शुभ ध्यान दो प्रकारके होते हैं। एक धर्मध्यान दूसरा शुक्ल ध्यान। शुभ ध्यानकी सफलताके वास्ते ज्ञानका होना अत्यन्त आवश्यक है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान सम्बन्धी बातें, जो दोनों ध्यानोंमें एक सी हैं, पहिले हम उनका ही यहाँ वर्णन करते हैं और बादमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अलग-अलग वर्णन करेंगे।

ध्यानका चित्त अर्थात् मनसे मुख्य सम्बन्ध है। चित्तके ज्ञानियोंने आठ दोष बताये हैं, जो निम्न प्रकार हैं। भव्य प्राणियों को इनसे अपने चित्तको बचाना अत्यन्त आवश्यक है।

१—धार्मिक अनुष्ठानमें ग्लानिका उत्पन्न होना।

२—धार्मिक क्रिया करते हुए चित्तमें उद्वेगका बना रहना।

३—चित्तमें भ्रान्ति रहना अर्थात् एक कार्यके बदले दूसरा कार्य करने लगना।

४—मनका स्थिर न रहना अर्थात् चंचलता बनी रहना।

५—चालू कामको छोड़ कर दूसरे कामोंमें लगना।

६—सांसारिक कार्योंमें ऐसे लीन हो जाना कि जिससे आगे-पीछेकी सुध-बुध न रहे।

७—वर्तमानमें करने योग्य कार्यको छोड़ कर कालान्तरमें करने योग्य कार्यको करना।

८—प्रारम्भ किये हुये कार्यको छोड़ देना।

अशुभ ध्यानमें तो चित्तकी प्रवृत्ति बिना प्रयत्न—स्वाभाविक रीतिसे होती है क्योंकि उसका आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध है। परन्तु शुभ ध्यानमें प्रवृत्ति होना बहुत मुश्किल है। शुभ ध्यानमें प्रवेश करनेकेलिये प्रथम सम्यक्त्वकी आवश्यकता है।

धर्मध्यानको गृहस्थ अथवा मुनि दोनों ध्या सकते हैं, पर शुक्लध्यानको केवल मुनि ही ध्या सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि ध्यान करनेकी आवश्यकता क्या है ? उत्तर निम्नप्रकार है:—सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा क्षय होना अर्थात् कर्म-बन्धनसे बिलकुल छूट जाना ही मोक्ष है। यह मोक्ष आत्माका भान हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकता। चित्तकी समता बिना आत्म-ज्ञान होना दुर्लभ है। तथा चित्तकी समता भी चित्त-विक्षेपादि मलीनताको दूर करनेवाले शुभ ध्यानके बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये शुभगति अथवा मोक्षकी प्राप्तिकेलिये गृहस्थ और मुनियोंको धर्मध्यान और मुनिको शुक्लध्यान ध्याना चाहिये।

ध्यानमें मनकी स्थिरता रखनेकेलिये स्थान, द्रव्य, काल और भावकी शुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है।

१. स्थान—बगीचा, पर्वतकी गुफा, समुद्र तथा नदी-तट, वृक्षोंके कुञ्ज, गाँव या नगरका एकान्त स्थान, जहाँ स्त्री नपुंसक, पशु आदिका आना-जाना न हो और कोई किस्मका कोलाहल न होता हो। इस प्रकारके एकान्त स्थान ध्यानकी सिद्धिकेलिये उत्तम होते हैं।

२. द्रव्य—जहाँ गाना-बजाना, स्त्री आदिके चित्र, मांस, मदिरा इत्यादि द्रव्य हों; वहाँ चित्तका स्थिर होना कठिन है। ध्यान काष्ठके पट्टेपर, पत्थरकी शिलापर या ऊनी या शुद्ध सूती वस्त्रके आसन पर करना चाहिये। ध्यान करनेवाले व्यक्तिको हलका भोजन करना चाहिये। ध्यानकी सिद्धिकेलिये पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके ध्यान करना श्रेष्ठ है।

३. काल—दिन और रात्रिका दूसरा पहर और रात्रिका चौथा पहर ध्यान करनेके वास्ते अति उत्तम बताये गये हैं।

४. भाव—मैत्रीभाव, प्रमोदभाव, करुणभाव और मध्यस्थ-भाव, इन चारों ही भावोंके होनेसे शुभ ध्यान ठीक तरहसे ध्याया जाता है। इन चार भावनाओंको विचारते हुये जीव राग, द्वेष, विषय, कषाय, मोह आदि शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ होता है।

धर्मध्यान

धर्मध्यान—यह ध्यान अशुभ कर्मोंका नाश करता है तथा किंचित् शुभ कर्मोंका भी नाश करता है और निर्जरा और पुण्य प्रकृतियोंका उपार्जन करता है। धर्मध्यानके चार भेद कहे हैं:—

१—आज्ञाविचय, २—अपायविचय, ३—विपाकविचय और ४—संस्थानविचय।

१—आत्माका उद्धार करनेकेलिये भगवानकी जो आज्ञाएँ हैं, उनका आदरपूर्वक चिन्तन करनेसे, उनपर मनको एकाग्र करनेसे "आज्ञाविचय" नामक धर्मध्यानका प्रथम भेद सिद्ध होता है।

२—जब राग, द्वेष और कषाय, इन दोषोंसे होनेवाली हानियों पर विचार किया जाता है, तथा राग-द्वेषादि दोषोंकी शुद्धिकेलिये विचार किया जाता है तथा चित्तको एकाग्र किया जाता है, तब "अपायविचय" नामक धर्मध्यानका द्वितीय भेद सिद्ध होता है।

३—संसारमें संपत्ति या विपत्ति, संयोग या वियोगसे जो कुछ सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, वे सब पूर्व जन्ममें उपार्जन किये गये पुण्य-पापके फल हैं। जिस समय ऐसा विचार किया जाता है अर्थात् उनपर चित्तको एकाग्र किया जाता है, तब "विपाक विचय" नामक धर्मध्यानका तृतीय भेद सिद्ध होता है।

४—जब मूलसे शिखर पर्यन्त लोकके आकारपर, उसमें जीवकी गति-आगतिपर तथा जन्म-मरणपर स्थिर और शुद्ध मनसे विचार किया जाता है, तब "संस्थानविचय" नामक धर्म ध्यानका चतुर्थ भेद सिद्ध होता है।

धर्मध्यानके आलम्बन

धर्मध्यान रूप पर्वतपर चढ़नेकेलिये शास्त्रोंमें चार आलम्बन बताये हैं। आध्यात्मिक और तात्त्विक शास्त्रोंका पढ़ना, गुरु आदिसे पूछ कर शंकाका समाधान करना, मनन करने योग्य विषयोंपर तर्क-वितर्क करना तथा अभ्यस्त तत्त्वोंका कथन करना। ये चार आलम्बन ध्यान करनेवाले प्राणियोंको ग्रहण करने चाहिये।

धर्मध्यानकी विशुद्धिकेलिये भावनाएँ

ध्यानकी विशुद्धिकेलिये १—अनित्य, २—अशरण, ३—संसार और ४—एकत्व, इन चार भावनाओंका नित्य बार बार चिन्तन करते रहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट रुचि उत्पन्न न हो जाय।

१—अनित्य भावना—द्रव्यार्थिक नयसे, अविनाशी स्वभाव का धारक जो आत्मा द्रव्य है उससे भिन्न रागादि विभाव रूप कर्म हैं। उनके स्वभावसे ग्रहण किये हुये स्त्री पुत्रादि सचेतन, सुवर्णादि अचेतन द्रव्य और इन दोनोंसे मिले हुए मिश्र द्रव्यादि जो वस्तुएँ हैं, वे सब अनित्य और अविनाशी हैं। ऐसी भावना जिस प्राणीके हृदयमें रहती है, उसका तमाम पौद्गलिक पदार्थोंपर से ममत्व हट जाता है। जैसे वमन किये हुये दूधपरसे ममत्वका अभाव हो जाता है। वह आत्मा हमेशा अक्षय, अनन्त सुखका स्थान जो मोक्ष है, उसे पाता है।

२—अशरण भावना—इस संसारमें अशुभ कर्मके उदय होनेपर कोई सहायता नहीं कर सकता है। जिस प्रकार हिरणोंके झुंडमें से जब सिंह एक हिरणको पकड़ लेता है, तब दूसरे जान लेकर भागते हैं और किसी अवस्थामें उसे नहीं छुड़ा सकते। उसी प्रकार अपनी ही आत्मा अपनेको तारने अथवा डुबाने वाली है। ऐसे भाव रखने वाली आत्मा द्रव्य तथा सांसारिक बातोंसे मोह छोड़ कर निज-आत्मा-स्वरूप सिद्ध-अवस्थाको प्राप्त करता है।

३—संसार भावना—इस संसारमें अपनी आत्माने अपने शरीरके पोषणके वास्ते समस्त पुद्गलोंका स्पर्श तथा उपयोग किया है अर्थात् द्रव्यसे तमाम वस्तुओंमें हो आया है। क्षेत्रसे सब स्थानोंमें हो आया है। कालसे बीस क्रोड़ाक्रोड़ सागरके जैसे कालचक्रमें अनन्त बार हो आया है। भावसे यह क्रोध, मान, माया

और लोभ इत्यादि विषयोंमें रमण कर रहा है। इस प्रकार यह आत्मा अनन्त कालसे भ्रमण कर रहा है। पर इसकी गज आज तक नहीं सरी है। जो आत्मा इस संसार-भ्रमणमें घृणा लावेगा वही मोक्ष पावेगा।

४—एकत्व भावना—इस आत्माको अपार आनन्द देने वाला सिर्फ एक केवलज्ञान ही है। वही आत्माका सहज गुण है। वही अविनाशी और हितकर्ता है और द्रव्य सज्जनादि कोई हितकर्ता नहीं है। क्यों कि अन्य पदार्थ आत्माको दुःख देनेवाले हैं; ऐसा समझ कर सर्व वस्तुओंसे ममत्वको हटा कर सिर्फ आत्मापर ही जो दृष्टि जमावेगा, वही आत्मा तत्त्वकी खोज कर निजानन्द अर्थात् मोक्ष पदको प्राप्त करेगा।

धर्मध्यानके प्रकारान्तर

शास्त्रमें ध्येय भेदकी अपेक्षासे धर्मध्यानके चार प्रकार और भी कहे गये हैं—१—पिण्डस्थ, २—पदस्थ, ३—रूपस्थ और ४—रूपातीत।

१—पार्थिवी, आग्नेयी आदि पाँच धारणाओंका एकाग्रतासे जो चिन्तन किया जाता है, उसे "पिण्डस्थ" नामका पहला ध्यान कहा है।

२—नाभिमें या हृदयमें सोलह पाँखुड़ीके, चौबीस पाँखुड़ीके तथा मुखपर आठ पाँखुड़ीके कमलकी कल्पना करना और उसकी प्रत्येक पाँखुड़ीपर वर्णमालाके अ आ इ ई आदि अक्षरों

की अथवा पंच परमेष्ठिमंत्रके अक्षरोंकी स्थापना करके मनकी एकाग्रतापूर्वक उनका चिन्तन करना "पदस्थ" नामका दूसरा ध्यान कहा है।

३—अर्हन्त भगवानकी शान्त दशाका निर्मल स्वरूप हृदयमें स्थापन करके स्थिरचित्त होकर जो ध्यान किया जाता है, उसे "रूपस्थ" नामका तीसरा ध्यान कहा है।

४—निरञ्जन-निर्मल सिद्ध भगवान्का आलम्बन लेकर उनके साथ आत्माके एकपनेका अपने हृदयमें एकाग्रतापूर्वक जो चिन्तन किया जाता है, उसे "रूपातीत" नामका चौथा ध्यान कहा है।

धर्मध्यानका फल

धर्मध्यान मुनियों तथा गृहस्थोंकी आत्माओंको शुद्ध करता है, लेश्याओंको निर्मल बनाता है, दुष्कर्मोंको जलाता है तथा कामाग्नि के लिये मेघ समान है। यद्यपि यह धर्मध्यान आलम्बन सहित है तथापि निरन्तर अभ्यास करनेसे शुद्ध होता हुआ यह क्रम-क्रमसे ध्यान करनेवालेको आलम्बन रहित निर्मल शुद्ध ध्यान तक पहुँचा देता है।

स्पष्टीकरण

जो भव्य प्राणी अपने संसारको कम करना चाहते हैं अथवा कर्मबन्धनसे छूटना चाहते हैं, उनको संसारको असार जानकर

विरक्त भावसे देखना चाहिये, जैसे कि कमल पानीमें रहता हुआ पानीसे अलहदा रहता है। इस कर्मबन्धनसे छूटनेका मुख्य गुरु चित्त और इन्द्रियोंको क़ाबूमें रखना है अर्थात् इन्द्रियों और मनको कभी बुरे विषयों और बुरे विचारोंकी ओर नहीं जाने देना है। मनुष्यको सदा अच्छे विचार और शुभ भावना ध्याना चाहिये। जैसे—एक-न-एक दिन हमको अवश्य मरना है। इस कारण कोई अशुभ विचार व कर्म न करना चाहिये। जैसा बीज बोओगे वैसा फल पाओगे। शुभ कर्म करोगे शुभ फल पाओगे, दुष्कर्म करोगे दुष्फल मिलेगा। संसारमें यह आत्मा अकेला आया है और अकेला ही जायगा। जो गृहस्थकी मर्यादा है उसके बाहर गृहस्थको नहीं जाना चाहिये। सदा शुभ विचार मनसे और न्याय-युक्त कार्य कायसे और मृदु और कोमल वचन मुखसे उच्चारित करते रहना चाहिये। कभी किसी प्राणी-मात्रके प्रति हमको बुरे ख़्याल या बुरे विचार कभी नहीं लाने चाहियें। किसीसे ईर्षा, द्वेष तथा अहंकार और मान नहीं करना चाहिये।

शुक्लध्यान

जिस ध्यानमें विषयोंका सम्बन्ध होनेपर भी वैराग्य-बलसे चित्त बाहरी विषयोंकी ओर नहीं जाता है तथा शारीरिक छेदन-भेदन होनेपर भी स्थिर हुआ चित्त ध्यानसे लेशमात्र भी नहीं डिगता है, उसको "शुक्लध्यान" कहते हैं।

"उत्तराध्ययन" सूत्रमें कहा है कि—

"एगे जीय जीय पंच"

अर्थात् एक मनको जीतनेसे पाँच इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। और भी कहा है कि—

"मन एव मनुष्याणां, कारणं वन्धमोक्षयोः"

अर्थात् कर्मसे बाँधनेवाला तथा छुड़ानेवाला मन ही है। "प्रसन्नचन्द्र" राजर्षिकी भाँति मनको जीतनेकी आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

"हे अर्जुन! उनको वश करना बहुत ही मुश्किल है क्योंकि मन अति चपल है परन्तु निरन्तर अभ्यास करने और वैराग्यसे मन वशमें हो सकता है।"

शुक्लध्यान सिर्फ आदर्श मुनि ही ध्या सकते हैं, गृहस्थकी शक्तिसे सर्वथा बाहर है।

शुक्लध्यानका आलम्बन

मुनीश्वरोंको शुक्ल ध्यानपर चढ़नेकेलिये क्षमा, मार्दव, आर्जव और निर्लोभता, ये चार आलम्बन बताये गये हैं।

शुक्लध्यानके भेद

शुक्लध्यानके चार भेद हैं—(१) पृथक्त्ववितर्कवीचार, (२) एकत्ववितर्कवीचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति। इनमेंसे पहले दो 'श्रुतकेवली'के और पीछेके दो 'केवली'के होते हैं*।

* "शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः", "परे केवलिनः", "पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि"। —उमास्वाति।

शुक्लध्यानके चार पदोंमेंसे आदिके दो पद शब्द, अर्थ तथा योगका कुछ आलम्बन लेते हैं, अतः ये आलम्बनसहित हैं और अन्तके दो पद केवली भगवानके मोक्ष जानेके पहिले अन्तिम कालमें होते हैं, अतः ये दोनों परम शुद्ध और आलम्बनरहित होते हैं। शुक्ल ध्यानीके जब तीनों योग रहते हैं, तब मनोयोग, वचनयोग और काय-योग बदलते रहते हैं—शब्दसे अर्थमें और अर्थसे शब्द में संक्रमण होता रहता है। उस समयमें विचार तथा नाना वितर्क सहित शुक्लध्यानका प्रथम पाद—पहिला भेद 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति' होता है।

शब्द, अर्थ और योगके आश्रयसे संक्रमण तीन प्रकारका जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। (१) एक शब्दका आलम्बन लेकर फर दूसरे शब्दका आलम्बन लेकर ध्यान करना 'शब्दसंक्रमण' है। (२) काययोगसे वचनयोगमें और वचनयोगसे मनोयोगमें प्रवृत्त होना 'योगसंक्रमण' है। और (३) एक पदार्थका विचार कर फिर उसे छोड़कर दूसरे पदार्थका विचार करना 'अर्थसंक्रमण' है। शब्दसंक्रमण, अर्थसंक्रमण और योगसंक्रमण, इस तरह तीन संक्रमण हैं। शुक्लध्यानके प्रकरणमें जो 'वीचार' शब्द आता है, उसका अर्थ उक्त संक्रमण है*।

जिस अवस्थामें शुक्लध्यानी मुनिके तीन योगोंमेंसे एक ही योग होता है, उस समय बहुपनेका अभाव होनेसे संक्रमण नहीं

* "त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्", "वितर्कः श्रुतम्", "वीचारोऽर्थ-व्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः"। —उमास्वाति।

होता है। ऐसी अवस्थामें 'एकत्ववितर्कवीचार' नामक शुक्ल-ध्यानका द्वितीय पाद होता है।

जिस समय मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय होनेसे चार घातिया कर्मोंका क्षय होजाता है उस समय सम्पूर्ण अतिशयों सहित निर्मल केवलज्ञान प्रकट होजाता है। केवलज्ञान प्राप्त हो जानेपर वीतराग जिनेन्द्र भगवान्‌की जगत्‌के कल्याणकारी मार्गमें 'जिन' नामकर्मके उदयसे तथा अहिंसारूप दयाके अनन्त प्रवाहके बहनेसे स्वतः प्रवृत्ति होती है। उस समय केवली भगवान तत्त्व-रूपी अमृतकी वृष्टि करके संसारमें परम शान्ति उत्पन्न करते हैं तथा मोक्षका मार्ग दिखलाकर जगत्‌की सेवा करते हैं।

जब शुक्लध्यानी केवली भगवान अन्त समयमें स्थूल काययोगको सूक्ष्म करते हैं तथा सूक्ष्म काययोगमें रहकर मनोयोग और वचनयोगको रोकते हैं, उस समय केवल सूक्ष्म काययोगकी सूक्ष्म क्रियाके रहजानेसे 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति' नामका शुक्ल-ध्यानका तृतीय पाद होता है।

अरहन्त भगवान् जब मोक्ष स्थानकेलिये गमन करते हैं उस समय वे सूक्ष्मकाययोगका भी निरोध करके पाँच ह्रस्व स्वरके उच्चारण कालकी बराबर मेरु पर्वतकी तरह निश्चल रहते हैं। अर्थात् शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं। यही 'व्युच्छिन्नक्रिया' या 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' नामका शुक्लध्यानका चतुर्थ पाद होता है। इस पादमें समस्त अर्थकी समाप्ति होजाती है तथा मोक्ष पद निकट रह जाता है।

शुक्लध्यानकी योग्यता और उसकी प्राप्ति

शुक्लध्यान-अवस्था प्राप्त करनेकेलिये चित्तकी पूर्ण स्थिरता, आत्माकी अपरिमित शक्ति, वज्रऋषभनाराचसंहनन तथा स्थिर और अत्यन्त दृढ़ वैराग्य होना चाहिये। इस पञ्चम कालमें अर्थात् वर्तमान समयमें इन साधनोंका अभाव है। अतः जब तक ये साधन प्राप्त न हों, तब तक आगामी कालमें प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हुये शुक्लध्यानकी भावना भाना चाहिये।

शुक्लध्यानकी भावना भानेमें निम्नलिखित भावनाएँ अत्यन्त सहायता प्रदान करनेवाली हैं—

१—यह शरीर अशुभ और अशुचि है।

२—संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव अनन्त पुद्गल परावर्तन कर चुका है।

३—यह जगत् अस्थिर है—विनश्वर है।

४—सम्पूर्ण पाप आत्माको हानि पहुँचानेवाले हैं।

जीवको इन चार भावनाओंका सदा चिन्तन करते रहना चाहिये।

स्पष्टीकरण

जो योगी चौरासी लक्ष जीवयोनिमें बचना चाहते हैं अर्थात् मुक्तिके इच्छुक हैं, उनको सदा शुक्लध्यानमें रमण करते रहना चाहिये। जिन्होंने संसारकी समस्त पौद्गलिक वस्तुओंसे मोहका त्याग कर दिया है और अपनी आत्माके असली स्वरूपको जान

लिया है, वे इस ध्यानको ध्याकर अनन्त-अक्षय-अमर पदको प्राप्त कर सकेंगे। जो इस ध्यानमें मग्न होते हैं, उन्हें दुनियाँके कोई भी दुःख क्लेश नहीं पहुँचा सकते। वे सदा आनन्दमग्न रहते हैं। जैसे कि 'गजसुकमालजी'के सिरपर उनकी ध्यान अवस्थामें 'सोमल' ब्राह्मणने अपने पूर्वभवके वैरके कारण मट्टी की बाढ़ बाँध कर उसमें जलती हुई तेज अग्निके अँगारे रख दिये थे, जिससे कि 'गजसुकमाल' मुनिका सिर खदबद करने लगा था। पर मुनिने अपने ध्यानमें यही सोचा कि यह शरीर मुझसे पृथक् है एवं नाशवान् है और मेरी आत्मा अजर, अमर, अखण्ड और अविनाशी है। इस कारण मुझको अपने शरीर का कुछ ख्याल नहीं करना चाहिये और ध्यानमें आरूढ़ रहना चाहिये। जिसका परिणाम यह हुआ कि गजसुकमाल मुनिको केवलज्ञान और केवलदर्शनकी प्राप्ति हुई और उन्होंने उसी समय निर्वाणपदकी प्राप्ति की। इसी प्रकार एक नहीं अनेक मुनियों ने जिन्होंने अपनी आत्माके असली स्वरूपको पहचान लिया था, नाना प्रकारके मारणान्तिक कष्टोंको शान्ति और सरल भावसे सहकर परम आनन्द अवस्थाको प्राप्त किया और मोक्ष पधारे। आधुनिक समयमें भी बहुतसे आत्मकल्याणी मुनियोंने समयपर अन्न-जल न मिलनेके कारण जंगलोंमें शान्ति भावसे परिषहोंको सहते हुए 'सन्थारा' धारण किया है और 'पण्डितमरण' किया है। इसी प्रकार संसारमें भव्य प्राणियोंको, जिन्हें अपना मनुष्य-जन्म

कृतार्थ करना है, उन्हें सदा अपनी मर्यादाका पालन करते रहना चाहिये और अगर संकटका समय आ जाय तो उन्हें मर्यादाका उल्लङ्घन न करना चाहिये। क्योंकि यह एक संकटका समय ही आत्माके बलाबलकी कसौटी है। जो प्राणी संकटके समयमें अपनी मर्यादाका पालन करते हुए अपने प्राणोंपर बाजी लगा देते हैं, वे अपने मनुष्य-जन्मको सफल बनाते हैं।

ध्यानके लाभ

पहले कहा जा चुका है कि मनकी एकाग्रताको 'ध्यान' कहते हैं। इसका अर्थ अभ्यासीकी दृष्टिसे ऐसा भी किया जा सकता है कि मनको एकाग्र बनानेका कार्य ध्यानका है। मनका एकाग्र करना या मनको किसी एक ओर लगा देना एक ही बात है।

शूरवीर रणमें विजय प्राप्त करता है, वह मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। मुनि मोक्षमार्गमें परिषह सहन करता है, वह मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। विद्यार्थी परीक्षामें पास होता है, वह मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। साधक किसी विद्या या मन्त्रकी सिद्धि करता है, वह मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। कवि कोई तलस्पर्शी, अलंकृत, रसपूर्ण, निर्दोष और रमणीय कविता करता है, वह मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। मेस्मरेज़मके जो अद्भुत चमत्कार देखनेमें आते हैं, वह मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। मनकी एकाग्रताका बड़ा जबरदस्त प्रभाव है। संसारमें जितने अद्भुत और विशिष्ट कार्य हुए हैं, होते हैं, और हो सकते हैं, वे सब इसी मनकी

एकाग्रताके फल हैं। मनकी एकाग्रताके बिना संसारका और परमार्थका कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। मनकी एकाग्रतासे–ध्यानसे एक नृकीट परमात्मा तक बन सकता है। ऐसे लोकातिशायी ध्यान और ध्यानीकेलिये हमारा शतशः नमस्कार है।

व्यवहारमें भी ध्यानसे अनेक लाभ होते हैं। यथाः—बीमारीका दूर हो जाना या कम पड़ जाना; स्मरण शक्तिका बढ़ जाना; शारीरिक बलका बढ़ जाना; बुद्धिका निर्मल हो जाना; परिणामोंका कोमल हो जाना, प्रकृतिमें सौजन्य, सौम्य आदि गुणोंका आविर्भाव हो जाना, इत्यादि।

विशेष

किसी भी विषयके भेद जो होते हैं, वे किसी दृष्टि-विशेषकी वजहसे होते हैं। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल, ये चार ध्यानके भेद किसी और दृष्टिसे हैं। ध्यानके शुभ और अशुभ, ये दो भेद किसी और दृष्टिसे हैं। शुक्लध्यानकी बात छोड़ दीजिए। वह अपने अनुभवका विषय नहीं है। वह मुनियोंकी चीज है। लेकिन शेष तीन ध्यानोंका विषय गृहस्थमात्रके अनुभवका विषय है। उनके प्रत्येकके अलग-अलग भेद हम पूर्व में बतला आये हैं। वे भेद भी किसी-न-किसी भिन्न-भिन्न दृष्टिसे किये हुए हैं।

इसी प्रकार एक अन्य दृष्टिसे भी ध्यानके भेद होते हैं। वह दृष्टि है समयकी। एक ध्यान ऐसा होता है जो अल्पकाल या

किसी निश्चित समय तक ही किया जाता है और दूसरा ध्यान वह होता है जो कि जीवोंके व्यवहारनयसे महीनों रहता है।

तीनों संध्याओंमें जो सामायिक किया जाता है; पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत जो ध्यानके भेद पूर्वमें कहे जा चुके हैं, वे; मेस्मरेजम, प्राणायाम आदि सब ध्यान 'अल्प-कालीन' हैं।

क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि या क्षायिकसम्यग्दृष्टिको जो सांसारिक अन्य अनेक कार्य करते हुए भी आत्माका ध्यान बना रहता है, वह; बीमारको जबतक बीमारी दूर न हो जाय, तब तक और अनेक कार्य करते हुए जो अपनी बीमारीका ध्यान बना रहता है, वह; किसी अभिमानीको अन्य अनेक कार्य करते हुए भी अपने मानापमानका जो हर समय ध्यान—ख्याल बना रहता है, वह; श्रीरामचन्द्रजीको सीताके वियोगमें छह महीने तक 'इष्ट वियोग' नामका आर्तध्यान बना रहा और उसमें उनकी यह हालत हो गई कि वे जंगलके वृक्षोंसे पूछते फिरे कि 'आपने क्या मेरी सीता देखी है?', यह; उसी तरह श्रीबलदेवजीको भी श्री कृष्णके वियोगमें छह महीने तक 'इष्टवियोग' नामका आर्तध्यान बना रहा और जिसकी वजहसे श्रीबलदेवजी श्रीकृष्णके शवको छह महीने तक कन्धेपर धरे फिरे और उसे न्हिलाते-धुलाते और खिलाते-पिलाते रहे, यह; इत्यादि सब 'चिरकालीन' ध्यान है। इस 'चिरकालीन' ध्यानके बीचमें अन्य अनेक ध्यान होजाते हैं

अवश्य, क्योंकि कोई भी ध्यान हो, अधिक-से-अधिक होता वह अन्तर्मुहूर्त तक ही है॥ । अन्तर्मुहूर्तके बाद अवश्य ही कोई दूसरा ध्यान हो जायगा । इससे अधिक किसीका भी मन एक विषयपर स्थिर नहीं रह सकता । लेकिन फिर भी वह चिरकाल तककी ध्यानसन्तति व्यवहारमें एक ही ध्यान कहलाता है ।

॥ "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्"

—उमास्वाति ।

भावनाएँ

शास्त्रकारोंने मोक्षार्थी प्राणियोंकेलिये बारह प्रकारकी भावनाओं (अनुप्रेक्षाओं) का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं—

१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधि-दुर्लभ और १२ धर्मस्वाख्यातत्व* ।

(१) अनित्य—इन्द्रियोंके विषय, धन, यौवन, जीवितव्य आदि पानीके बुलबुलेके समान हैं—अस्थिर अर्थात् अनित्य हैं, ऐसा विचार करना 'अनित्य' भावना है।

यह भावना 'भरत' नामके चक्रवर्तीने भाई थी। जिसके कारण वे केवलज्ञान प्राप्त कर दस हजार मुकटबन्ध राजाओंको दीक्षा दे लक्ष पूर्वका साधुपना पाल मोक्ष पधारे। किस प्रकार उनकी अँगूठी गिरी और किस प्रकार उन्होंने पुद्गलको असार समझा। इत्यादि वृत्तान्त अन्य जैन शास्त्रोंमें दिया हुआ है, वहाँसे समझना चाहिये।

---

* "अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।" —उमास्वति ।

(२) अशरण—जैसे वनके एकान्त स्थानमें सिंहके द्वारा पकड़े हुए मृगकी कोई शरण नहीं होता है, उसी प्रकार इस संसारमें कालके गालमें पड़ते हुये जीवोंकी भी कोई रक्षा करने वाला—शरण नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करना 'अशरण' भावना है।

किस प्रकार 'प्रभूतधन' सेठके पुत्रने रोगकी वेदनाके कारण अपनेको अनाथ जाना; किस प्रकार उन्होंने दीक्षा ली; किस प्रकार 'श्रेणिक' राजाको नाथ-अनाथका भेद समझाया और किस प्रकार अशरण भावनाके कारण अपने मनुष्य-जन्मको उन्होंने सफल बनाया। इत्यादि बातें अन्य जैनशास्त्रोंसे जानना चाहिये।

(३) संसार—यह जीव निरन्तर एक देहसे दूसरी देहमें जन्म ले-लेकर चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करता है* जिसके कारण इसको अनेकों दुःख उठाने पड़ते हैं। अतएव यह संसार दुःखमय है, इत्यादि संसारके स्वरूपका चिन्तन करना 'संसार' भावना है।

किस प्रकार 'मल्लीकुमारी'ने अपने पूर्वभवके मित्र छहों राजाओंको बोध देकर दीक्षा ली; किस प्रकार तीर्थङ्कर पदको प्राप्त कर निर्वाण पद प्राप्त किया; किस प्रकार छहों राजाओंको संसार भावना भाते हुए जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ और किस प्रकार दीक्षा ले उन्होंने अपना मनुष्य-जन्म सफल किया। इत्यादि वर्णन अन्य जैन शास्त्रोंसे अवलोकन करना चाहिये।

---

* "संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः"　　—पूज्यपादाचार्य।

(४) एकत्व—जन्म, जरा, मरण, रोग, वियोगादि महा दुःखोंमें अपनेको असहाय—एकाकी चिन्तन करना अर्थात् सुख-दुःख सहनेमें मैं अकेला हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है, इत्यादि विचार करना 'एकत्व' भावना है।

किस प्रकार 'मृगापुत्रकुमार'को मुनि महाराजको देखकर जातिस्मरण ज्ञान हुआ; किस प्रकार उन्होंने अपने माता-पितासे आज्ञा माँगी और किस प्रकार इस जगत्में कोई किसीका नहीं है—धन धरतीमें, पशु स्थानमें, धान्य कोठोंमें, वस्त्र गठरीमें, स्त्री दरवाजे तक, माता बाजार तक, स्वजन श्मशान तक और यह शरीर चिता तक जायगा, आगे शुभाशुभ कर्मोंके साथ जीव अकेला ही जायगा, इस प्रकार एकत्व भावना भाते हुए संयम धारण कर एकलविहारी हो मोक्ष प्राप्त की। इत्यादि बातोंका वर्णन अन्य जैन शास्त्रोंमें जान लेना चाहिये।

(५) अन्यत्व—शरीर-कुटुम्बादिसे अपने स्वरूपको भिन्न चिन्तन करना 'अन्यत्व' भावना है।

किस प्रकार 'नमि' राजाको दाह-ज्वर उत्पन्न हुआ; किस प्रकार चन्दन घिसनेमें रानियोंके एक-एक कङ्कनका बजना बन्द हो गया; किस प्रकार अन्यत्व भावना भाते हुए उन्हें नींद आ गई और रोग चला गया; किस प्रकार उन्होंने संयम धारण कर इन्द्रको उसके प्रश्नोंका उत्तर दिया और किस प्रकार संयम आरा-

धना कर वे मोक्ष गये। इत्यादि बातोंका वर्णन अन्य जैन शास्त्रों से समझ लेना चाहिये।

(६) अशुचि—यह शरीर हाड़, माँस, मल, मूत्र आदि अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ महा अपवित्र है; इस प्रकार अपने शरीरके स्वरूपका चिन्तन करना 'अशुचि' भावना है।

किस प्रकार 'सनत्कुमार' चक्रवर्तीने अपने स्वरूपका मद किया; किस प्रकार उनको कुष्ट रोग हुआ और किस प्रकार संयम पाल नीरोग हो उन्होंने मोक्षको प्राप्त किया। इत्यादि वर्णन अन्य जैन शास्त्रोंसे जानना चाहिये।

(७) आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, कषायादिकोंसे कर्मोंका आस्रव होता है। आस्रव ही संसारमें परिभ्रमणका कारण और आत्माके गुणोंका घातक है। इस प्रकार आस्रवके स्वरूपका चिन्तन करना 'आस्रव' भावना है।

किस प्रकार 'समुद्रपाल'ने चोरको बन्धनमें देखकर अशुभ कर्मोंका ख्याल किया; किस प्रकार आस्रव भावना भाते हुए उन्होंने वैराग्य प्राप्त किया और किस प्रकार वे दीक्षा धारण कर, कर्म क्षय कर मोक्ष गये। इत्यादि बातोंको अन्य जैन शास्त्रोंसे समझ लेना चाहिये।

(८) *संवर—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहसन आदिसे आते हुए कर्म रुकते हैं; इस प्रकार संवरके स्वरूपको चिन्तन करना 'संवर' भावना है।

* "आस्रवनिरोधः संवरः", "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।" —उमास्वाति।

किस प्रकार 'हरीशबल' नामक चाण्डाल आत्मघात करने गया; किस प्रकार मुनि महाराजने उसे प्रतिबोध दिया; किस प्रकार उसने संयम पाल ब्राह्मणोंको संवरके बारेमें प्रतिबोध दिया; किस प्रकार उनसे हिंसारूप धर्मका त्याग कराया और धर्म स्वीकार कराया और किस प्रकार मुनिराज करणी कर मोक्ष गये। इत्यादि विचारना चाहिये।

(९) निर्जरा—निर्जरा कर्मोंकी किस प्रकार होती है; कैसे उपायोंसे होती है; इत्यादि निर्जराके स्वरूपको बारम्बार चिन्तन करना 'निर्जरा' भावना है।

किस प्रकार 'अर्जुन' मालीने अपने कर्मोंकी निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया। इत्यादि विचारना चाहिये।

(१०) लोक—लोक कितना बड़ा है, उसमें क्या-क्या रचना है; कौन-कौन जातिके जीवोंका कहाँ-कहाँ निवास है। इत्यादि लोकके स्वरूपको चिन्तन करना 'लोक' भावना है।

बनारसके तपोवनमें दुष्कर तपस्वी 'शिवराज' ऋषिको किस प्रकार विभङ्गज्ञान हुआ; किस प्रकार भगवानके पास आते ही उनका अज्ञान मिट गया; किस प्रकार उन्होंने संसारका असली स्वरूप देख लोक भावना भाते हुए दीक्षा ली और किस प्रकार वे संयम पाल मोक्ष गये। इत्यादि विचारना चाहिये।

(११) बोधि-दुर्लभ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, इस रत्नत्रयको 'बोधि' कहते हैं। इस बोधिकी प्राप्ति होना

अतिदुर्लभ है। इसकी दुर्लभताका बारम्बार चिन्तन करना 'बोधिदुर्लभ' भावना है।

किस प्रकार 'भरत' चक्रवर्तीने अपने ९८ भाइयोंसे आज्ञा माननेको कहा; किस प्रकार वे ऋषभदेवजीके पास गये और किस प्रकार वे ऋषभदेव भगवानका उपदेश सुनकर सम्यक्त्व-युक्त चारित्र अङ्गीकार कर मोक्ष गये। इत्यादि विचारना चाहिये।

(१२) धर्मस्वाख्यातत्व—वस्तुका स्वभाव 'धर्म' कहलाता है। आत्माका शुद्ध निर्मल स्वभाव ही अपना धर्म है तथा दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप वा अहिंसा रूप धर्म है; इत्यादि धर्मके स्वरूप को बारम्बार चिन्तन करना 'धर्मस्वाख्यातत्त्व' भावना है।

किस प्रकार 'धर्मरुचि' मास-क्षमनके पारने 'नागश्री' ब्राह्मणी के गये; किस प्रकार उसने कटुक तुम्बेका शाक वैराया; किस प्रकार गुरुजीको दिखाया; किस प्रकार गुरुजीने निर्वध स्थान पर पठानेको कहा; किस प्रकार चींटियाँ मरीं; किस प्रकार अपने पेटको निर्वध स्थान जानकर खा गये और किस प्रकार शान्त भावसे धर्म भावना भाते हुए काल करके सर्वार्थसिद्धि महा-विमानमें देवता हुए। इत्यादि विचारना चाहिये।

अनेक प्राणियोंने उपरोक्त एक-एक भावनाको भाते हुये मोक्ष को प्राप्त किया है। जो प्राणी अपना मनुष्य-जन्म सफल बनाना चाहते हैं, उनको उपरोक्त भावनाओंको सदा ध्याते रहना चाहिये।

———

संयम

शास्त्रकारोंने संयमके सात भेद बतलाये हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१—सामायिक, २—छेदोपस्थापना, ३—परिहारविशुद्धि, ४—सूक्ष्मसाम्पराय, ५—यथाख्यात, ६—देशविरति और ७—अविरति।

(१) सामायिक—जीवको जो सम भावकी (राग-द्वेषके अभावकी) प्राप्ति होती है, वह 'सामायिक संयम' है। इसके (क) इत्वर और (ख) यावत्कथित, ये दो भेद हैं।

(क)—इत्वरसामायिक संयम वह है, जो उपस्थापनार्थी शिष्योंको स्थिरता प्राप्त करनेकेलिये पहले-पहल दिया जाता है और जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त—बड़ी दीक्षा लेने तक मानी गई है। यह संयम भरत-ऐरावत क्षेत्रमें प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करके शासनके समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करनेवालोंको प्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रत अङ्गीकार करने पड़ते हैं तथा उस संयमके स्वामी 'स्थितकल्पी' होते हैं।

(ख) यावत्कथित सामायिक संयम वह है, जो ग्रहण करने के समयसे जीवन पर्यन्त पाला जाता है। यह संयम भरत-ऐरावत क्षेत्रमें मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करोंके शासनमें ग्रहण किया

जाता है। महाविदेह क्षेत्रमें तो यह संयम सब समयमें लिया जाता है। इस संयमके धारण करनेवालोंको महाव्रत चार और कल्पस्थितास्थित संयम होता है।

(२) छेदोपस्थापना—प्रथम संयम-पर्यायको छेद कर फिरसे उपस्थापन (व्रतारोपण) करना—पहले जितने समय तक संयमका पालन किया हो, उतने समयको व्यवहारमें न गिन कर और दुबारा संयम ग्रहण करनेके समयसे दीक्षा-काल गिनना व छोटे-बड़ेका व्यवहार करना 'छेदोपस्थापना संयम' कहलाता है। इसके (क) सातिचार और (ख) निरतिचार, ये दो भेद हैं:—

(क) सातिचार छेदोपस्थापना संयम वह है, जो किसी कारणसे मूलगुणोंका--महाव्रतोंका--भङ्ग हो जानेपर फिरसे ग्रहण किया जाता है।

(ख) निरतिचार छेदोपस्थापना उस संयमको कहते हैं, जिसको इत्वरसामायिक संयमवाले बड़ी दीक्षाके रूपमें ग्रहण करते हैं। यह संयम, भरत-ऐरावत क्षेत्रमें प्रथम तथा चरम तीर्थङ्करके साधुओंको होता है और एक तीर्थके साधु, दूसरे तीर्थमें जब दाखिल होते हैं; तब उन्हें पुनर्दीक्षाके रूपमें यही संयम दिया जाता है*।

---

* जैसे श्रीपार्श्वनाथके केशी-गाङ्गेय आदि सान्तानिक साधु, भगवान् महावीरके तीर्थमें जब दाखिल हुये थे, तब उन्हें दिया गया था।

(३) परिहारविशुद्धि संयम--वह है जिसमें 'परिहार विशुद्धि' नामकी तपस्या की जाती है। 'परिहारविशुद्धि' तपस्या यह है कि:--

नौ साधुओंका एक गण (समुदाय) होता है, जिसमेंसे चार तपस्वी बनते हैं और चार उनके परिचारक (तीन सेवक और एक वाचनाचार्य) का काम करते हैं। जो तपस्वी हैं, वे ग्रीष्मकालमें जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास करते हैं। शीतकालमें जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास करते हैं और वर्षाकालमें जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाँच उपवास करते हैं। तपस्वी पारणाके दिन अभिग्रह सहित आयंबिल व्रत करते हैं। यह क्रम छह महीने तक चलता है।

दूसरे छह महीनेमें पहलेके तपस्वी तो परिचारक बनते हैं और परिचारक तपस्वी। दूसरे छह महीनेमें तपस्वी बने हुये साधुओंकी तपस्याका वही क्रम होता है, जो पहिले तपस्वियोंकी तपस्याका होता है। परन्तु जो साधु परिचारक-पद ग्रहण किये हुये होते हैं, वे सदा आयंबिल ही करते हैं। दूसरे छह महीनेके बाद, तीसरे छह महीनेकेलिये वाचनाचार्य्य ही तपस्वी बनता है; शेष आठ साधुओंमेंसे कोई एक वाचनाचार्य्य और बाक़ीके सब परिचारक होते हैं। इस प्रकार तीसरे छह महीने पूर्ण होनेके बाद अठारह मासकी यह 'परिहारविशुद्धि' नामक तपस्या समाप्त होती है।

इसके बाद वे जिनकल्प ग्रहण करते हैं अथवा वे पहिले जिस गच्छ या टोलेके रहे हों, उसीमें दाखिल हो जाते हैं या फिर भी वैसी ही तपस्या शुरू कर देते हैं। परिहारविशुद्धि संयमके निर्विश्यमान और निविष्टकायिक, ये दो भेद हैं। वर्तमान परिहार विशुद्धिको 'निर्विश्यमान' और भूत परिहारविशुद्धिको 'निर्विष्टका-यिक' कहते हैं।

(४) सूक्ष्मसांपराय—जिस संयममें सम्पराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अतिस्वल्प) रहता है, वह 'सूक्ष्मसम्पराय संयम' है। इसमें लोभ कषाय उदयमान होता है, अन्य नहीं। यह संयम दसवें गुणस्थानवालोंको होता है। इसके (क) संक्लिश्यमानक और (ख) विशुद्धयमानक, ये दो भेद हैं।

(क) उपशमश्रेणिसे गिरनेवालोंको दसवें गुणस्थानकी प्राप्तिके समय जो संयम होता है, वह 'संक्लिश्यमानक सूक्ष्म सांप-राय संयम' है क्योंकि उस समयके परिणाम संक्लेश-प्रधान ही होते जाते हैं।

उपशमश्रेणिसे क्षपकश्रेणिपर चढ़नेवालोंको दसवें गुणस्थानमें जो संयम होता है, वही 'विशुद्धयमानक सूक्ष्मसाम्पराय संयम' है, क्योंकि उस समयके परिणाम विशुद्धि-प्रधान ही होते हैं।

(५) जो संयम यथातथ्य है अर्थात् जिसमें कषायका उदय-लेश भी नहीं है, वह 'यथाख्यात संयम' है। इसके (क) छाद्मा-स्थिक और (ख) अछाद्मास्थिक, ये दो भेद हैं।

(क) छाद्मास्थिक यथाख्यात संयम वह है, जो ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवालोंको होता है। ग्यारहवें गुणस्थानकी अपेक्षा बारहवें गुणस्थानमें विशेषता यह है कि ग्यारहवेंमें कषाय का उदय नहीं होता, उसकी सत्तामात्र रहती है; और बारहवेंमें तो कषायकी सत्ता भी नहीं रहती।

(ख) अछाद्मास्थिक यथाख्यात संयम केवलियोंको होता है। सयोगी केवलीका संयम 'सयोगि-यथाख्यात' और अयोगी केवलीका संयम 'अयोगि-यथाख्यात' है।

(६) कर्मबन्ध-जनक आरम्भ-समारम्भसे किसी अंशमें निवृत्त होना 'देशविरति संयम' कहलाता है। इसके अधिकारी गृहस्थ हैं।

(७) किसी प्रकारके संयमका स्वीकार न करना 'अविरति' है। यह दशा पहिलेसे चौथे तक चार गुणस्थानोंमें पाई जाती है।

———

लेश्या अधिकार

आत्माका सहज स्वरूप स्फटिकके समान निर्मल है। उससे भिन्न परिणाम जो कृष्ण-नील आदि अनेक रंग वाले पुद्गल-विशेषके असरसे होते हैं, उन्हें 'लेश्या' कहते है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिसकेद्वारा आत्मा कर्मोंसे लिप्त होता है तथा जो योग और कषायकी तरंगसे उत्पन्न होती हो उसको तथा मनके शुभाशुभ परिणामको 'लेश्या' कहते हैं।

ज्ञानियोंने लेश्याके मुख्य दो भेद बताये हैं। १—द्रव्य लेश्या, और २—भाव लेश्या।

१—द्रव्य लेश्या—कर्म वर्गणासे बनती है। फिर भी वे आठ कर्मोंसे भिन्न हैं। जैसे कार्मण शरीर।

२—भाव लेश्या—आत्माका परिणाम-विशेष है, जो संक्लेश और योगसे अनुगत है*।

संक्लेशके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद हैं।

भाव लेश्या अनेक प्रकारकी है। तथापि ज्ञानियोंने संक्षेपमें छह विभाग करके शास्त्रमें उसका स्वरूप दिखाया है।

---

* "जोगपउत्ती लेस्सा कषायउदयाणुरंजिया होई" —गोम्मटसार। अर्थात् कषायोदयसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्तिको "लेश्या" कहते हैं।

१—कृष्ण लेश्या, २—नील लेश्या, ३—कापोत लेश्या, ४—तेजो लेश्या, ५—पद्म लेश्या और ६—शुक्ल लेश्या।

नीचे लिखे दृष्टान्तसे छहों लेश्याओंका स्वरूप आसानीसे समझमें आ जायगा।

कोई छहों पुरुष जम्बू फल खानेकी इच्छा करते हुए चले जा रहे थे। इतनेमें जामुनके वृक्षको देख कर उनमेंसे एक पुरुष बोला—"लीजिये, जामुनका वृक्ष तो आ गया। अब फलोंके लिये ऊपर चढ़नेकी अपेक्षा फलोंसे लदी हुई बड़ी-बड़ी शाख वाले इस वृक्षको काट गिराना ही अच्छा है।" यह सुन कर दूसरेने कहा—"वृक्ष काटनेसे क्या लाभ? केवल शाखाओंको काट दो।" तीसरेने कहा—"यह भी ठीक नहीं, छोटी-छोटी शाखाओंको काट लेनेसे भी तो काम निकल सकता है।" चौथेने कहा—"शाखायें भी क्यों काटते हैं? फलोंके गुच्छोंको तोड़ लीजिये।" पाँचवाँ बोला—"गुच्छोंसे क्या प्रयोजन? उनमेंसे कुछ फलोंको ही ले लेना अच्छा है।" अन्तमें छठे पुरुषने कहा—"ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हम लोग जिन फलोंको चाहते हैं, वे तो नीचे भी बहुतसे गिर पड़े हैं। क्या उनसे अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता?"

इस दृष्टान्तसे लेश्याओंका स्वरूप स्पष्ट जाना जा सकता है। छहों पुरुषोंमें पूर्व-पूर्व मनुष्योंके परिणामोंकी अपेक्षा उत्तर-उत्तर मनुष्योंके परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाये जाते हैं।

उत्तर-उत्तर पुरुषोंके परिणामोंमें संक्लेशकी न्यूनता और मृदुताकी अधिकता पाई जाती है। प्रथम पुरुषके परिणामोंको कृष्ण लेश्या, दूसरेके परिणामोंको नील लेश्या, तीसरेके परिणामोंको कपोत लेश्या, चौथेके परिणामोंको तेजो लेश्या, पाँचवेंके परिणामोंको पद्म लेश्या और छठेके परिणामोंको शुक्ल लेश्या समझना चाहिये।

अब अलग-अलग लेश्याओंके पुद्गलोंका वर्ण व आत्मा पर प्रभाव व उनके प्रभावसे प्राणी कैसे-कैसे अशुभ और शुभ कर्म करता है, उसका वर्णन करते हैं:—

१—काजलके समान कृष्णवर्णके लेश्या जातीय पुद्गलोंके सम्बन्धसे आत्मामें ऐसा परिणाम होता है, जिससे हिंसा आदि पांचों आस्रवोंमें प्रवृत्ति होती है; मन, वचन तथा शरीरका संयम नहीं रहता; स्वभाव क्षुद्र बन जाता है; गुण-दोषकी परीक्षा किये बिना ही कार्य करनेकी आदतसी हो जाती है और क्रूरता आ जाती है. यह परिणाम 'कृष्ण लेश्या' है। इस लेश्यामें मरने वाला जीव सातवें नरक तक पहुँचता है और तेतीस सागरकी आयुःस्थिति प्राप्त करता है।

२—अशोक वृक्षके समान नीले रंगके लेश्या-जातीय पुद्गलोंसे ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता तथा माया-कपट होने लगते हैं; निर्लज्जता आ जाती है; विषयोंकी लालसा प्रदीप्त हो उठती है; रस-लोलुपता

होजाती है और सदा पौद्गलिक सुखकी खोज की जाती है, यह परिणाम 'नील लेश्या' का है। इस लेश्यामें मरने वाला जीव चौथे नरक तक पहुँचता है और सत्रह सागरकी आयुः स्थिति तक पाता है।

३--कबूतरके गलेके समान रक्त तथा कृष्ण वर्णके पुद्गलोंसे इस प्रकारका परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है, जिससे बोलने, काम करने और विचारनेमें सब कहीं वक्रता ही वक्रता होती है; किसी विषयमें सरलता नहीं होती; नास्तिकता आती है और दूसरोंको कष्ट हो, ऐसा भाषण करनेकी प्रवृत्ति होती है, यह परिणाम--'कापोत लेश्या'का है। इस लेश्यामें मरनेवाला जीव तीसरे नरक तक पहुँचता है और सात सागरकी आयुः स्थिति तक पाता है।

४--तोतेकी चोंचके समान रक्त वर्णके लेश्या-जातीय पुद्गलोंसे एक प्रकारका आत्मामें परिणाम होता है, जिससे कि नम्रता आ जाती है; शठता दूर हो जाती है; चपलता रुक जाती है; धर्ममें रुचि तथा दृढ़ता होती है और लोगोंका हित करनेकी इच्छा होती है, यह परिणाम 'तेजो लेश्या'का है। इस लेश्यामें मरने वाला जीव पहिले दूसरे स्वर्ग तक पहुँचता है और दो सागरको आयुः स्थिति तक पाता है।

५—हल्दीके समान पीले रंगके लेश्या-जातीय पुद्गलोंसे एक तरहका परिणाम आत्मामें होता है, जिससे क्रोध, मान, आदि

कषाय बहुत अंशोंमें मन्द हो जाते हैं; चित्त प्रशान्त हो जाता है; आत्मसंयम किया जा सकता है; मित-भाषिता और जितेन्द्रियता आ जाती है. यह परिणाम "पद्म लेश्या' का है। इस लेश्यामें मरनेवाला जीव पाँचवें स्वर्ग तक पहुँच सकता है और दस सागरकी आयुः स्थिति तक पाता है।

६—'शुक्ल लेश्या' उस परिणामको समझना चाहिये, कि जिससे आर्त-रौद्र-ध्यान बन्द होकर धर्म-शुक्ल-ध्यान होने लगता है। मन, वचन और शरीरको नियमित बनानेमें रुकावट नहीं आती, कपायकी उपशान्ति होती है और वीतराग-भावकी वृद्धि करनेकी भी अनुकूलता हो जाती है। ऐसा परिणाम शङ्खके समान स्वेत वर्णके लेश्या जातीय-पुद्गलोंके सम्बन्धसे होता है। इस लेश्यामें मरनेवाला जीव सर्वार्थसिद्धि विमान तक पहुँचता है और ३३ सागर तककी स्थिति तक पा सकता है। जीव अधिक-से-अधिक चौदह अवस्थाओंमें रह सकता है अर्थात् जीवके चौदह भेद हैं:—

१—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, २—सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त ३—बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ४—बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ५—बेइन्द्रिय अपर्याप्त, ६—बेइन्द्रिय पर्याप्त, ७—तेइन्द्रिय अपर्याप्त, ८—तेइन्द्रिय पर्याप्त, ९—चउरिन्द्रिय अपर्याप्त, १०—चउरिद्रिय पर्याप्त, ११—असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त १२—असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय

पर्याप्त १३—सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त और १४—सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त।

कौन-कौनसे जीवस्थानमें कौन-कौनसी लेश्या पाई जाती है उनका अब वर्णन किया जाता है:—

१—संज्ञिद्विकमें अर्थात् अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय में छहों लेश्याएँ होती हैं।

२—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियमें कृष्ण आदि पहिली चार लेश्याएँ होती हैं।

३—शेष ग्यारह जीवस्थानोंमें यानी अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त तथा पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त और पर्याप्त त्रीन्द्रिय अपर्याप्त तथा पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और अपर्याप्त तथा पर्याप्त असंज्ञि पञ्चेन्द्रियोंमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ होती हैं।

कृष्ण आदि तीन लेश्यायें सब एकेन्द्रियोंकेलिये साधारण हैं। किन्तु अपर्याप्त बादर एकेन्द्रियमें इतनी विशेषता है कि उसमें तेजो लेश्या भी पाई जाती है; क्योंकि तेजो लेश्यावाले ज्योतिषी आदि देव जब उसी लेश्यामें मरते हैं और बादर पृथ्वीकाय, जलकाय या वनस्पतिकायमें जन्म लेते हैं, तब उन्हें अपर्याप्त-अवस्थामें भी तेजो लेश्या होती है।

यह नियम है कि जीव जिस लेश्यामें मरता है अर्थात् मृत्यु प्राप्त करता है, जन्म लेते समय भी उसके वही लेश्या होती है* ।

अपर्याप्त और पर्याप्तका अर्थः—

१—जो जीव अपर्याप्त नाम कर्मके उदयसे पूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त करनेसे पूर्व अर्थात् पेश्तर ही मृत्युको प्राप्त होता है, उसे 'अपर्याप्त' जीव कहते हैं ।

२—जो जीव पर्याप्त नाम कर्मके उदयसे पूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त करनेके बाद मृत्युको प्राप्त होता है, उसे 'पर्याप्त' जीव कहते हैं ।

योगोंका लेश्याओंके साथ सम्बन्ध

जिस प्रकार एक पक्के तालाबमें मोरियों द्वारा पानी आया करता है, उसी प्रकार आत्मारूपी तालाबमें योगरूपी नालियों द्वारा लेश्यारूप निर्मल और गदला जल आया करता है। ये योगरूपी नालियाँ पन्द्रह प्रकारकी होती हैं ।

चार मनकी, चार वचनकी और सात कायकी। इनमेंसे कुछ वे द्वार हैं, जिनके जरियेसे स्वच्छ जल अथवा शुभ लेश्या; और कुछ वे द्वार हैं, जिनके जरियेसे गदला जल अथवा अशुभ लेश्यारूपी जल आया करता है, वे निम्न प्रकार हैं:—

---

* मृत्युके प्रायः अन्तमुहूर्त पहिले नूतन जन्मसम्बन्धी लेश्या प्राप्त हो जाती है ।

योग	शुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ
मन	सत्य मनो योग	असत्य मनोयोग	मिश्र मनोयोग	व्यवहार मनो योग
वचन	सत्य वचन योग	असत्य वचनयोग	मिश्र वचन योग	व्यवहार वचन योग
काय	औदारिक काय योग	वैक्रियिक काय योग	आहारिक काय योग	कार्मण काय योग
	औदारिक काय मिश्र योग	वैक्रियिक काय मिश्र योग	आहारिक मिश्र योग	

इस कारण भव्य प्राणियोंको अशुभ योगोंको त्यागना चाहिये और शुभ योगोंको ग्रहण करना चाहिये।

दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जो अपने मनुष्य-जन्मको सफल बनाना चाहते हैं अर्थात् कर्म बन्धनोंसे छूटना चाहते हैं, उनको शुरूकी तीन लेश्याएँ यानी कृष्ण, नील और कापोत अथवा हिंसा, निर्दयता, दुष्परिणामता, ईर्ष्या, माया, कपट, लम्पटता, धोखा, झूठ, चोरी, मिथ्यात्व, नास्तिकता आदि अशुभ बातोंको छोड़ना चाहिये। और तेजो, पद्म और शुक्ल अथवा नम्रता, सरलता, सत्यता, अकषायपना, शान्ति, राग-द्वेष रहितता, संयम, सम्यक्त्व, आदि शुभ गुणों सहित होना चाहिये।

गुणस्थान अधिकार

जो दर्शन आस्तिक हैं अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष-योग्यता माननेवाले हैं, उन सबोंमें किसी-न-किसी रूपमें आत्माके क्रमिक विकासका विचार पाया जाना स्वाभाविक है। अतएव आर्यावर्त्त के जैन, वैदिक और बौद्ध इन तीनों प्राचीन दर्शनोंमें उक्त प्रकार का विचार पाया जाता है। यह विचार जैन-दर्शनमें गुणस्थानके नामसे, वैदिक-दर्शनमें भूमिकाओंके नामसे और बौद्ध-दर्शनमें अवस्थाओंके नामसे प्रसिद्ध है।

गुणस्थानका विचार जैसा जैन-दर्शनमें सूक्ष्म तथा विस्तृत है वैसा अन्य दर्शनोंमें नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनोंकी उस विचारके सम्बन्धोंमें बहुत समता है अर्थात् संकेत, वर्णनशैली आदिकी भिन्नता होनेपर भी वस्तु तत्त्वके विपयमें तीनों दर्शनोंका भेद नहींके बराबर है। वैदिक-दर्शनके योगवशिष्ठ, पातञ्जलियोग आदि ग्रन्थोंमें आत्माकी भूमिकाओंका अच्छा विचार है।

गुणस्थानोंका स्वरूप

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानको अर्थात् विकासकी क्रमिक अवस्थाओंको 'गुणस्थान' कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि मोह और योगके निमित्तसे सम्यक्ज्ञान,

सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्र रूप आत्माके गुणोंकी तारतम्य रूप (हीनाधिकतारूप) अवस्था विशेषको 'गुणस्थान' कहते हैं। जैन शास्त्रमें गुणस्थान इस पारिभाषिक शब्दका मतलब आत्मिक शक्तियोंके आविर्भावकी—उनके शुद्ध कार्यरूपमें परिणत होते रहनेकी तर-तम भावापन्न अवस्थाओंसे है। पर आत्माका वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्णानन्दमय है। उसके ऊपर जब तक तीव्र आवरणोंके घने बादलोंकी घटा छाई हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता। किन्तु आवरणोंके क्रमशः शिथिल या नष्ट होते ही उसका असली स्वरूप प्रकट होजाता है। जब आवरणोंकी तीव्रता आखिरी हदकी हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्थामें—अविकसित अवस्थामें पड़ी रहती है और जब आवरण बिलकुल ही नष्ट होजाते हैं तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूपकी पूर्णतामें वर्तमान होजाता है। जैसे-जैसे आवरणोंकी तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्माकी प्राथमिक अवस्थाको छोड़कर धीरे-धीरे शुद्ध स्वरूपका लाभ करता हुआ चरम अवस्थाकी ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थानके समय इन दो अवस्थाओंके बीच उसे अनेक नीची-ऊँची अवस्थाओंका अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्थाको अविकासकी अथवा अधःपतनकी पराकाष्ठा और चरम अवस्थाको विकासकी अथवा उत्क्रान्तिकी पराकाष्ठा समझना चाहिये। इस विकास-क्रमकी मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओंको अपेक्षासे

उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपनेसे ऊपर वाली अवस्थाकी अपेक्षा नीच और नीचे वाली अवस्थाकी अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकारकी संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओंका अनुभव करता है। पर जैनशास्त्रमें संक्षेपमें वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो कि चौदह गुणस्थान कहलाते हैं।

सब आवरणोंमें मोहका आवरण प्रधान है अर्थात् जब तक मोह बलवान् और तीव्र है, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोहके निर्बल होते ही अन्य आवरणोंकी वैसी ही दशा हो जाती है। इस लिये आत्माके विकास करनेमें मुख्य बाधक मोहकी प्रबलता और मुख्य सहायक मोहकी निर्बलता समझनी चाहिये। इसी कारण गुणस्थानोंकी विकास-क्रम-गत अवस्थाओंकी कल्पना मोह-शक्तिकी उत्कटता, मन्दता तथा अभावपर अवलम्बित है।

मोहकी प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमेंसे पहली शक्ति, आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूपका निर्णय किंवा जड़-चेतनका विभाग या विवेक करने नहीं देती; और दूसरी शक्ति आत्माको विवेक प्राप्त कर लेनेपर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अभ्यास—परपरिणतिसे छूट कर स्वरूप-लाभ नहीं करने देती। व्यवहारमें पग-पगपर यह देखा जाता है कि किसी वस्तुका यथार्थ

दर्शन—बोध कर लेनेपर ही उस वस्तुको पाने या त्यागनेकी चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्माकेलिये भी मुख्य दो ही कार्य हैं। पहिला स्वरूप तथा पररूपका यथार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूपमें स्थित होना। इनमेंसे पहिले कार्यको रोकनेवाली मोहकी शक्ति जैनशास्त्रमें 'दर्शनमोह' और दूसरे कार्यको रोकनेवाली मोहकी शक्ति 'चरित्रमोह' कहलाती है। दूसरी शक्ति पहिली शक्तिकी अनुगामिनी है अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निवृत्त नहीं होती, और पहिली शक्तिके मन्द, मन्दतर, और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पावे तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करनेका मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्माकी अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोहकी उक्त दोनों शक्तियोंके प्रबल होनेके कारण आत्माकी आध्यात्मिक-स्थिति बिलकुल गई हुई सी होती है। इस भूमिकाके समय आत्मा चाहे कितनी ही आधि-भौतिक उन्नति क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्षसे सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रमवाला मनुष्य पूर्वको पश्चिम समझ कर गति करता है और अपने इष्टस्थानको नहीं पहुँचता; उसका सारा श्रम एक तरहसे वृथा हो जाता है। वैसे ही प्रथम भूमिकावाला आत्मा पररूपको स्वरूप समझ कर उसीको पानेके

लिये प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्या दृष्टिके कारण रागद्वेषकी प्रबल चोटका शिकार बनकर तात्त्विक सुखसे विमुख रहता है। इसी भूमिकाको जैनशास्त्रमें 'बहिरात्म-भाव' किंवा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिकामें जितनी आत्माएँ वर्त्तमान होती हैं, उन सबोंकी आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती अर्थात् सबके ऊपर मोहकी दोनों शक्तियोंका आधिपत्य होनेपर भी उसमें थोड़ा-बहुत तर-तम भाव अवश्य होता है। किसीपर मोहका प्रभाव बहुत ज्यादा, किसीपर ज्यादा, किसीपर कम होता है। इस प्रकारकी तमाम आत्माओंकी अवस्थाको पहिला गुणस्थान कहते हैं।

जो आत्माएँ पहिले गुणस्थानमें होती हैं, वे मोहनीय कर्मके क्षय आदिसे चतुर्थादि गुणस्थानको प्राप्त करती हैं। लेकिन कोई आत्मा जब तत्त्वज्ञान-शून्य किंवा मिथ्यादृष्टि होकर प्रथम गुण-स्थानकी ओर झुकती है, तब बीचमें उस अधःपतनोन्मुख आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है, वही दूसरा गुणस्थान है। इस अवस्थामें प्रथम गुणस्थानकी अपेक्षा आत्म-शुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है, इसलिये इसका स्थान पहिलेके बाद रक्खा गया है। जैसे खीर आदि मिष्ट भोजन करनेके बाद जब वमन हो जाता है, तब मुखमें एक प्रकारका विलक्षण स्वाद अर्थात् न अति मधुर न अति अम्ल जैसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरे गुण-स्थानके समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है, क्योंकि

उस समय आत्मा न तो तत्त्वज्ञानकी निश्चित भूमिकापर है और न तत्त्वज्ञान-शून्य भूमिकापर है। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियोंसे खिसक कर जब तक जमीनपर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीचमें एक विलक्षण अवस्थाका अनुभव करता है।

तीसरा गुणस्थान आत्माकी उस मिश्रित अवस्थाका नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यक् दृष्टि है और न केवल मिथ्या दृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें डोलायमान आध्यात्मिक स्थितिवाला जाना जाता है। अतएव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होनेके कारण सन्देहशील होती है अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया, वह सब सच है; न तो वह तत्त्वको एकान्त अतत्त्व रूपसे ही जानती है और न तत्त्व-अतत्त्वका वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकती है। कोई उत्क्रान्ति करनेवाली आत्मा प्रथम गुणस्थानसे निकल कर सीधे ही तीसरे गुणस्थानको प्राप्त कर सकती है और कोई अपक्रान्ति करनेवाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थानसे गिरकर तीसरे गुणस्थानको प्राप्त करता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करनेवाली और अपक्रान्ति करनेवाली—दोनों प्रकारकी आत्माओं का आश्रय स्थान तीसरा गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थानकी दूसरे गुणस्थानसे विशेषता है।

इस अवस्थामें विकासगामी आत्मा (आत्म) स्वरूपका भान करने लगता है अर्थात् उसकी जो अब तक पररूपमें

स्वरूपकी भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। अतएव उसके प्रयत्नकी गति उलटी न होकर सीधी हो जाती है अर्थात् वह विवेकी बनकर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशाको जैनशास्त्रमें 'अन्तरात्म-भाव' कहते हैं क्योंकि इस स्थितिको प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म-भावको देखने लगती है। यह दशा विकाश-क्रमकी चतुर्थ भूमिका किंवा चतुर्थ गुणस्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करती है। इस भूमिकामें आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ होनेके कारण आत्मा विपर्यास-रहित होती है। जिसको जैनशास्त्रमें 'सम्यग्दृष्टि' किंवा 'सम्यक्त्व' कहा है।

चतुर्थीसे आगेकी अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्यग्दृष्टि वाली ही समझनी चाहिए; क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टिकी शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थानमें स्वरूप-दर्शन करनेसे आत्माको अपूर्व शक्ति मिलती है और उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य-विषयक भ्रम दूर हुआ अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक व बाह्य सुखको मैं तरस रहा था, वह मिथ्या है। इस प्रकार समझने लगता है।

मोहकी प्रधान शक्ति दर्शनमोहको शिथिल करके स्वरूप-दर्शन कर लेनेके बाद भी जब तक उसकी दूसरी शक्ति चारित्र-मोहको शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप-लाभ किंवा

स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोहकी दूसरी शक्ति को मन्द करनेकेलिए प्रयास करती है। जब वह उस शक्तिको अंशतः शिथिल कर पाती है; तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो जाती है। जिसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या परिस्थिति-त्याग होनेसे चतुर्थ भूमिकाकी अपेक्षा अधिक शान्ति-लाभ होता है। यह 'देशविरति' नामका पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थानमें विकासगामी आत्माको यह विचार होने लगता है कि यदि अल्प-विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति-लाभ हुआ तो फिर सर्वविरति—जड़ भावोंके सर्वथा परिहारसे कितना शान्ति-लाभ न होगा। इस विचारसे प्रेरित होकर व प्राप्त आध्यात्मिक शान्तिके अनुभवसे बलवान् होकर वह विकास-गामी आत्मा चारित्रमोहको अधिकांशमें शिथिल करके पहलेकी अपेक्षा भी अधिक स्वरूप-स्थिरता व स्वरूप-लाभ प्राप्त करनेकी चेष्टा करती है। इस चेष्टामें कृतकृत्य होते ही उसे सर्व-विरति संयम प्राप्त होता है। जिसमें पौद्गलिक भावोंपर मूर्च्छा बिलकुल नहीं रहती और उसका सारा समय स्वरूपकी अभिव्यक्ति करने के काममें ही खर्च होता है। यह 'सर्वविरति' नामका छठा गुण-स्थान है। इसमें आत्म-कल्याणके अतिरिक्त लोक-कल्याणकी भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है, जिससे कभी-कभी थोड़ी-बहुत मात्रामें प्रमाद आ जाता है। पाँचवें गुणस्थानकी अपेक्षा इस छठे गुणस्थानमें स्वरूप-अभिव्यक्ति अधिक होनेके

कारण यद्यपि विकासगामी आत्माको आध्यात्मिक शान्ति पहलेसे अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीचमें अनेक प्रमाद उसे शान्ति-अनुभवमें बाधाएँ पहुँचाते रहते हैं।

शान्ति-अनुभवमें जो बीच-बीचमें अनेक प्रमाद उसको बाधा पहुँचाते हैं, उनको वह सहन नहीं कर सकती। अतएव सर्व-विरति-जनित शान्तिके साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्तिका अनुभव करनेकी प्रबल लालसासे प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमादका त्याग करती है और स्वरूपकी अभिव्यक्तिके अनुकूल मनन-चिन्तनके सिवाय अन्य सब व्यापारोंका त्यागकर देती है। यही 'अप्रमत्तसंयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद-जन्य उत्कट सुखका अनुभव आत्माको उस स्थितिमें बने रहनेकेलिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्व वासनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानीमें विकासगामी आत्मा कभी प्रमादकी तन्द्रा और कभी अप्रमादकी जाग्रति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थानमें अनेक बार जाती-आती रहती है। जिस प्रकार भँवरमें पड़ा हुआ तिनका इधरसे उधर और उधरसे इधर चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थानके समय विकासगामी आत्मा अनवस्थितसी बन जाती है।

प्रमादके साथ होनेवाले इस आन्तरिक युद्धके समय विकास-गामी आत्मा यदि अपना चरित्र-बल विशेष प्रकाशित करती है

तो फिर वह प्रमादों—प्रलोभनोंको पारकर विशेष अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेती है। इस अवस्थाको पाकर वह ऐसी शक्ति-वृद्धिकी तैयारी करती है कि जिससे शेष रहे-सहे मोहबलको नष्ट किया जा सके। मोहके साथ होनेवाले भावी युद्धकेलिये की जानेवाली तैयारीकी इस भूमिको आठवाँ गुणस्थान कहते हैं।

आठवें गुणस्थानसे आगे बढ़नेवाली आत्मायें दो श्रेणियोंमें विभक्त हो जाती हैं। एक श्रेणीवाली तो ऐसी होती हैं जो मोहको एक बार सर्वथा दबा लेती हैं, पर उसे निर्मूल नहीं कर पातीं। अतएव जिस प्रकार किसी बर्तनमें भरी हुई भाप कभी-कभी अपने वेगसे ढक्कनको नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राखके नीचे दबी हुई अग्नि हवाका झकोरा लगनेसे अपना कार्य करने लगती है, उसी प्रकार पहिले दबा हुआ मोह आन्तरिक युद्धमें थकी हुई उन प्रथम श्रेणीवाले आत्माओंको अपने वेगसे नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जानेपर भी मोह, जिस भूमिकासे आत्माको हार दिलाकर नीचेकी ओर पटकता है वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोहको क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दबाने तकमें आत्माको उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्धतावाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं, जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अधःपतनका गुणस्थान है; क्योंकि उसे पानेवाली आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरती है।

दूसरी श्रेणीवाली आत्माएँ मोहको क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्तमें उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालती हैं। सर्वथा निर्मूल करनेकी जो उच्च भूमिका है वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थानके पाने तकमें अर्थात् मोहको सर्वथा निर्मूल करनेसे पहिले बीचमें नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान आत्माको प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे आत्मा पहिली श्रेणी चढ़े चाहे दूसरी श्रेणी चढ़े, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करती ही हैं। दोनों श्रेणीवाली आत्माओंमें अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणीवालोंकी अपेक्षा दूसरी श्रेणीवालोंमें आत्म-शुद्धि व आत्मबल विशिष्ट प्रकारका पाया जाता है। जैसे किसी एक दर्जेके विद्यार्थी भी दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके तो ऐसे होते हैं जो सौ कोशिश करनेपर भी एक बारगी अपनी परीक्षामें पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। पर दूसरे प्रकारके विद्यार्थी अपनी योग्यताके बलसे सब कठिनाइयोंको पार कर उस कठिनतम परीक्षाको बेधड़क पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दलके उस अन्तरका कारण उनकी आन्तरिक योग्यताकी न्यूनाधिकता है। वैसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थानको प्राप्त करनेवाली उक्त दोनों श्रेणिगामी आत्माओंकी आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है जिसके कारण एक श्रेणीवाले जीव तो दसवें गुणस्थानको पाकर अन्तमें ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहसे हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणीवाले जीव दसवें गुणस्थानको पाकर इतना अधिक

आत्म-बल प्रकट करते हैं कि अन्तमें वे मोहको सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थानको प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्तिका है, वैसे ही बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्तिका है। अर्थात् ग्यारहवें गुण-स्थानको पानेवाली आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरती है और बारहवें गुणस्थानको पानेवाली उससे कदापि नहीं गिरती, बल्कि ऊपरको ही चढ़ती है। किसी एक परीक्षामें नहीं पास होनेवाला विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रतासे योग्यता बढ़ा कर फिर उस परीक्षाको पास कर लेते हैं, उसी प्रकर एक बार मोहसे हार खानेवाली आत्माकी अप्रमत्त-भाव व आत्म-बलकी अधिकतासे फिर मोहको अवश्य क्षीण कर देती है। उक्त दो श्रेणीवाली आत्माओंकी तर-तम-भावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि, मानों परमात्मभाव-रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़नेकी दो नसेनियाँ हैं। जिनमेंसे एकको जैनशास्त्रमें 'उपशम श्रेणी' और दूसरीको 'क्षपक श्रेणी' कहा है। पहिली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ानेवाली है। पहिली श्रेणीसे गिरनेवाला जीव आध्यात्मिक अधःपतनके द्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक क्यों न चला जाय, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-न-कभी वह फिर दूने बलसे और दूनी सावधानीसे तैयार होकर मोह शत्रुका सामना करता है और अन्तमें दूसरी श्रेणीकी योग्यता प्राप्त कर मोहका सर्वथा क्षय कर डालता है।

व्यवहारमें अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्रमें भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हरानेवाले शत्रुको फिरसे हरा सकता है।

परमात्म-भावका स्वराज्य प्राप्त करनेमें मुख्य बाधक मोह है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्मभावके विशिष्ट विकासपर निर्भर है। मोहका सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो जैनशास्त्रमें 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापतिके मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकोंकी तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भावका पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूपको पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र आदिका लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुखका अनुभव करता है। जैसे पूर्णिमाकी रातमें निरभ्र चन्द्रकी सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्माकी चेतना आदि सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिकाको जैनशास्त्रोंमें तेरहवाँ गुणस्थान कहा है।

इस गुणस्थानमें चिरकाल तक रहनेके बाद आत्मा दग्ध रज्जुके समान शेष आवरणोंकी अर्थात् अप्रधानभूत अघाति कर्मोंको उड़ाकर फेंक देनेकेलिए 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान' रूप पवनका आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारोंको सर्वथा रोक देती है। यही आध्यात्मिक विकासकी

पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा 'समुच्छिन्न-क्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान' द्वारा सुमेरुकी तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके अन्तमें शरीरत्याग-पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टिसे लोकोत्तर स्थानको प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्म-स्थिति है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थकी अन्तिम सिद्धि है और यहीं अपुनरावृत्ति स्थान है। क्योंकि संसारका एक मात्र कारण मोह है, जिसके सब संस्कारोंका निश्शेष नाश हो जानेके कारण अब उपाधिका संभव नहीं है।

ऊपर आत्माकी जिन चौदह अवस्थाओंका विचार किया है उनका तथा उनके अन्तर्गत—अवान्तर संख्यातीत अवस्थाओंका बहुत संक्षेप (मुख्तसर) में वर्गीकरण करके शास्त्रकारोंने शरीर धारी आत्माकी सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं:—

१—बहिरात्म-अवस्था २—अन्तरात्म-अवस्था और ३—परमात्म-अवस्था।

१—पहिली अवस्थामें आत्माका वास्तविक विशुद्ध रूप अत्यन्त आच्छादित रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यास वाला होकर पौद्गलिक विलासोंको ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हींकी प्राप्तिकेलिये संम्पूर्ण शक्तिका व्यय करता है।

२—दूसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपरका आवरण गाढ़ा न होकर

शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है; जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासोंकी ओरसे हटकर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है। इसीसे उसकी दृष्टिमें शरीर आदिकी जीर्णता व नवीनता अपनी अर्थात् आत्माकी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्थाका दृढ़ सोपान है।

३—तीसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपरके घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

निम्नलिखित गुणस्थान इन तीन आत्माओंमें पाये जाते हैं:—

पहिला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म-अवस्था का चित्रण है। चौथेसे बारहवें तकके गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्थाका दिग्दर्शन है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान परमात्म-अवस्थाका वर्णन है।

गुणस्थानोंका संक्षेपमें वर्णन

पूर्व-पूर्व गुणस्थानकी अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थानमें ज्ञान आदि गुणोंकी शुद्धि बढ़ती जाती है, अशुद्धि घटती जाती है। अतएव आगे-आगेके गुणस्थानोंमें अशुभ प्रकृतयोंकी अपेक्षा शुभ प्रकृतियाँ अधिक बाँधी जाती हैं और अशुभ प्रकृतियोंका बन्धन क्रमशः रुकता जाता है।

गुणस्थानका अर्थ

मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप (हीनाधिकतारूप) अवस्था-विशेषको गुणस्थान कहते हैं।

चौदह गुणस्थानोंके नाम

१—मिथ्यादृष्टि, २—शास्वादन सम्यक्दृष्टि, ३—सम्यग्-मिथ्यादृष्टि मिश्र, ४—अविरति सम्यग्दृष्टि, ५—देशविरत, ६—प्रमत्तसंयम, ७—अप्रमत्तसंयम, ८—निवृत्त अपूर्वकरण, ९—अनिवृत्ति बादरसम्पराय, १०—सूक्ष्मसम्पराय, ११—उपशान्त कषाय वीतरागछद्मस्थ, १२—क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ, १३—सयोगी केवली और १४—अयोगी केवली गुणस्थान।

१—पहिला गुणस्थान संसारके समस्त अधःपतित आत्माओं में पाया जाता है अर्थात् नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवगतिमें भी पाया जाता है या यों कहना चाहिये कि मिथ्यात्वी जीवमात्रमें पाया जाता है। इस गुणस्थानका जीव अनन्त समय तक भ्रमण करता रहता है।

२—दूसरा गुणस्थान—सम्यग्दृष्टिसे मिथ्यादृष्टिमें आनेमें जितना अल्प-से-अल्प समय लगता है, उस समयमें जीव इस गुणस्थान-अवस्थामें रहता है। जो जीव इस गुणस्थानको स्पर्श

कर लेता है, वह अपने अनन्त संसारका अन्त कर सिर्फ अर्ध-पुद्गलपरावर्तन संसार भोगना बाकी रखता है।

३—तीसरा गुणस्थान—जब जीव न केवल सम्यक्दृष्टि है और न केवल मिथ्यादृष्टि है अर्थात् संदेहशील है, ऐसी अवस्था में वह इस गुणस्थानमें होता है। इसकी स्थिति कुछ दूसरे गुण-स्थानसे अच्छी होती है। इस गुणस्थानवाला जीव कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन संसार भोगना बाक़ी रखता है।

४—चौथा गुणस्थान—इस गुणस्थानमें जीव सम्यक्दृष्टि तो होता है पर अव्रती होता है अर्थात् सुदेव, सुगुरु और सुधर्मपर श्रद्धा व प्रतीति रखता है, वीतराग धर्म सच्चा मानता है और चार तीर्थकी भक्ति करता है, पर व्रत-त्याग वगैरः नहीं करता है। अगर इस गुणस्थानमें आनेसे पेश्तर आयुका बन्ध न पड़ा हो तो नरक, तिर्यंच, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी, स्त्री और नपुं-सक नहीं होता अर्थात् अच्छी योनिको प्राप्त करता है।

५—पाँचवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानमें जीव सम्यक् दृष्टि होता है और त्याग, प्रत्याख्यान व तपस्या वगैरः भी करता है। यह गुणस्थान श्रावकका है। इस अवस्थावाला जीव जघन्य तीन और उत्कृष्ट पन्द्रह भव करके अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

६—छठा गुणस्थान—यह गुणस्थान उन साधुओं व मुनियों को प्राप्त होता है जिन्होंकी कषाय, चपलता व प्रमाद मन्द नहीं

हुआ है पर वे मुनियोंकी क्रिया ठीक-ठीक पालते हैं। इस गुण-स्थानवाले मुनि जघन्य उसी भवमें और उत्कृष्ट तीन तथा पन्द्रह भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

७—सातवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानको वे मुनि प्राप्त करते हैं जिन्होंने मद, विषय, कषाय, निन्दा, विकथा आदि दूर कर दी हैं अर्थात् निर्मल और स्वच्छ साधुपना पालते हैं। इस गुणस्थान वाले मुनि ज्यादा-से-ज्यादा तीन भवमें और कम-से-कम उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८—आठवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानसे मुनिका मोह जो बड़ा बलिष्ठ और प्रबल कर्म है उसके साथ युद्ध शुरू हो जाता है। जो मुनि मोहको दबा तो लेते हैं पर सर्वथा निर्मूल नहीं कर पाते हैं वे नौवें तथा दसवें गुणस्थानको प्राप्त करते हुए ग्यारहवें गुण-स्थानको प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ जाकर उनका दबा हुआ मोह मानिन्द दबी भाफके उमड़ पड़ता है और वे मुनि नीची अवस्था में गिर जाते हैं। पर जो मुनि मोहको सर्वथा निर्मूल करते चले जाते हैं वे नौवें तथा दसवेंमें होते हुये और ग्यारहवेंको छोड़ते हुये बारहवें गुणस्थानको प्राप्त कर लेते हैं। वहाँसे वे ऊपरके गुण-स्थानोंमें चढ़ते हुये मोक्षको प्राप्त करते हैं। ज्यादा-से-ज्यादा तीन भवमें और कम-से-कम उसी भवमें वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

९—१०—नौवें व दसवें गुणस्थानोंमें मुनि मोह कर्मकी प्रकृतियोंको कम करते हैं और शान्त स्वरूपको प्राप्त करते

जाते हैं। इन गुणस्थानोंवाले मुनि कम-से-कम एक भवमें और ज्यादा-से-ज्यादा तीन भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

११—ग्यारहवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानमें मोह-प्रकृति उबल पड़ती है। जिसका परिणाम यह होता है कि मुनि एक नीची अवस्थाको प्राप्त करते हैं। और अगर नीची अवस्था प्राप्त कर लेनेके पेश्तर इस गुणस्थानमें मृत्यु हो जाती है तो अनुत्तरविमान में पैदा होते हैं।

१२—बारहवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानमें मुनि मोह-प्रकृतियोंको सर्वथा निर्मूल कर डालते हैं। इस अवस्थामें मुनि क्षायिक भाव, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक यथाख्यात चारित्र प्राप्त करते हैं। इनके अलावा भाव सत्य, कारण सत्य, अकषायी, वीतरागी, भाव निर्ग्रन्थ आदि गुणोंको प्राप्त करते हैं और महा ध्यानी, महाज्ञानी होकर अन्तर्मुहूर्त इस गुणस्थानमें रहकर तेरहवें गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। इस गुणस्थानके आखिरी समयमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मोंका क्षय करके तेरहवें गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। इस गुणस्थानमें मृत्यु नहीं होती है।

१३—तेरहवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानमें मुनिको केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणोंकी प्राप्ति होती है। इस अवस्थामें मुनि कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और ज्यादा-से-ज्यादा कुछ कम

एक क्रोड पूर्व तक रह सकता है। इस गुणस्थानमें मुनिका निर्वाण नहीं होता है।

१४—चौदहवाँ गुणस्थान—इस गुणस्थानमें अयोगी केवली अपने सारे कर्मोंको क्षय करके मन, वचन और कायकी क्रियाको एक दम बन्द करके मोक्ष पदको प्राप्त करते हैं।

गुणस्थानोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारीकेलिये कुछ मुख्य-मुख्य बातें और समझ लेनी उपयोगी होंगी:—

ध्यान चार होते हैं, जिन्हें कि पहले ध्यान अधिकारमें हम कह आये हैं:—

१—आर्त ध्यान, २—रौद्र ध्यान, ३—धर्म ध्यान और ४—शुक्ल ध्यान।

निम्नलिखित ध्यान निम्नलिखित गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं:—

१—पहिले तीन गुणस्थानोंमें आर्त्त और रौद्र, ये दो ही ध्यान तर-तम भावसे पाये जाते हैं।

२—चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें उक्त दोनों ध्यानोंके अतिरिक्त सम्यक्त्वके प्रभावसे धर्मध्यान भी होता है।

३—छठे गुणस्थानमें आर्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं।

४—सातवें गुणस्थानमें सिर्फ धर्मध्यान ही होता है।

५—आठवेंसे बारहवें गुणस्थान तक अर्थात् पाँच गुणस्थानोंमें धर्म और शुक्ल, ये दो ही ध्यान होते हैं।

६—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सिर्फ शुक्ल ध्यान ही होता है।

लेश्या छह होती हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

१—कृष्ण २—नील ३—कापोत ४—तेज ५—पद्म और ६—शुक्ल लेश्या। प्रत्येक लेश्या असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण अध्यवसायस्थान (संक्लेश-मिश्रित परिणाम) रूप है। इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम उतने ही भेद समझने चाहिये। पहली तीन—कृष्ण, नील और कापोत अशुभ लेश्या मानी गई हैं। पिछली तीन—तेज, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्या मानी गई हैं।

१—कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओंको छठे गुणस्थानमें अति मन्दतम और पहिले गुणस्थानमें अति तीव्रतम मानकर छठे गुणस्थान तक उनका सम्बन्ध होता है।

२—सातवें गुणस्थानमें आर्त तथा रौद्र ध्यान न होनेके कारण परिणाम इतने विशुद्ध होते हैं कि जिससे उस गुणस्थानमें अशुभ लेश्याएँ सर्वथा नहीं होतीं, किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

३—पहिले गुणस्थानमें तेज और पद्म लेश्याको अति मन्दतम और सातवें गुणस्थानमें अति तीव्रतम; इसी प्रकार शुक्ल लेश्याको

पहिले गुणस्थानमें अति मन्दतम और तेरहवें गुणस्थानमें अति तीव्रतम मानकर उपर्युक्त गुणस्थानोंमें उनका सम्बन्ध बतलाया गया है। संक्षेपमें यों कहना चाहिये कि पहिले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ; सातवें गुणस्थानमें तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ और आठवेंसे लेकर तेरहवें तक छह गुणस्थानोंमें केवल शुक्ल लेश्या मानी गई है। चौदहवें गुणस्थानमें कोई भी लेश्या नहीं मानी गई है।

सम्यक्त्व अधिकार

जिस किसी जीवका संसार-संसरणका काल अधिक-से-अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, वह निश्चय-सम्यग्दर्शन ग्रहण करके चतुर्गति रूप संसारको पार करनेवाले मोक्ष सुखकी बानगी लेता है। अन्तमुहूर्तसे लगाकर अर्ध पुद्गल परावर्तन कालके जितने समय हैं, उतने ही सम्यक्त्वके भेद हैं। जिस समय जीवको सम्यक्त्व प्रकट होता है, तभी से आत्म-गुण प्रकट होने लगते हैं और सांसारिक दोष नष्ट हो जाते हैं।

सम्यक्त्वके आठ विवरण हैं:—१—स्वरूप, २—उत्पत्ति, ३—चिन्ह, ४—गुण, ५—भूषण, ६—दोष, ७—नाश और ८—अतिचार।

सम्यक्त्वका स्वरूप

आत्म-स्वरूपकी सत्य प्रतीति होना, दिन-प्रतिदिन समता भावमें उन्नति होना और क्षण-क्षणमें परिणामोंकी विशुद्धि होना, इसीका नाम 'सम्यग्दर्शन' है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्ति

चतुर्गतिमें सभी जीवोंको सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। वह किसी-किसी जीवको अपने-आप प्रगट होता है। अपने-आप

प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन 'निसर्गज' कहलाता है। और किसी-किसीको गुरूपदेशसे भी प्रगट होता है। गुरूपदेशसे प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन 'अधिगमज' कहलाता है।

सम्यक्त्वके चिन्ह

आत्मा अपनेमें ही आत्म-स्वरूपका परिचय पाता है, उसमें उसे कभी सन्देह नहीं उपजता और उसका छल कपट-रहित वैराग्य भाव रहता है। यही सम्यग्दर्शनका चिन्ह है। अथवा—

(१) शम—कदाग्रह और ममत्वका उपशमन

(२) संवेग—सांसारिक बंधनोंका भय

(३) निर्वेद—वैराग्य अर्थात् सांसारिक पदार्थोंसे दूर होनेकी इच्छा

(४) अनुकम्पा—दूसरे जीवोंका दुःख दूर करनेकी भावना

(५) आस्तिक्य—सद्धर्मपर अटल श्रद्धान होना

ये पाँच लिङ्ग अर्थात् सम्यक्त्वके चिन्ह हैं।

सम्यग्दर्शनके आठ गुण

करुणा, मैत्री, सज्जनता, स्वलघुता, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्मानुराग, ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं।

सम्यक्त्वके पाँच भूषण

जैनधर्मकी प्रभावना करनेका अभिप्राय, हेय-उपादेयका विवेक, धीरज, सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका हर्ष और तत्त्व-विचारमें चतुराई, ये पाँच सम्यग्दर्शनके भूषण हैं।

सम्यक्त्वके पच्चीस दोष

सम्यग्दर्शन पच्चीस दोषोंसे रहित होना चाहिये। उसके पच्चीस दोष ये हैः—आठ मद, आठ मल, छह अनायतन और तीन मूढ़ताः—

आठ मदः—

जाति, धन, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और अधिकरण* इनका गर्व करना। ये आठ प्रकारके महामद हैं।

आठ मलः—

जिन-वचनमें सन्देह, आत्म-स्वरूपसे चिगना, विषयोंकी अभिलाषा, शरीरादिसे ममत्व, अशुचिमें ग्लानि, सहधर्मियोंसे द्वेष, दूसरोंकी निन्दा, धर्म-प्रभावनाओंमें प्रमाद, ये आठ मल सम्यग्दर्शनको दूषित करते हैं।

छह अनायतनः—

कुगुरु, कुदेव, कुधर्मके उपासकोंकी और कुगुरु, कुदेव और कुधर्मकी प्रशंसा करना, ये छह अनायतन हैं।

तीन मूढ़ताः—

देवमूढ़ता अर्थात् सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानना, गुरु-मूढ़ता अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिका स्वरूप नहीं समझना और धर्म-

* अधिकरणके स्थानपर कहीं-कहीं 'पूजा' भी मानी गई है। यथाः—

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥"

मूढ़ता अर्थात् जिनभाषित धर्मका स्वरूप नहीं समझना, ये तीन मूढ़ताएँ हैं।

सम्यक्त्व-नाशके पाँच कारण

सम्यक्त्वके घातक मुख्य पाँच कारण ये हैं:—१-ज्ञानका अभिमान, बुद्धिकी हीनता, निर्दय वचनोंका भाषण, क्रोधी परिणाम और प्रमाद।

सम्यक्त्वके पाँच अतीचार

सम्यक्त्वके पाँच अतिचार हैं। शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव, ये पाँच सम्यक्त्वके अतिचार हैं। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

उपरोक्त पाँच प्रकारके अतिचार सम्यग्दर्शनके उज्ज्वल परिणामोंको मलीन करते हैं।

मोहनीय कर्मकी जिन सात प्रकृतियोंके अभावसे सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। वे निम्न प्रकार हैं:—

सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन, इस प्रकार सात प्रकृतियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं:—१—अनन्तानुबन्धी क्रोध, २—अभिमानके रँगसे रँगी हुई अनन्तानुबन्धी मान, ३—अनन्तानुबन्धी माया, ४—परिग्रहको पुष्ट करने वाली अनन्तानुबन्धी लोभ, ५—मिथ्यात्व, ६—मिश्रमिथ्यात्व और ७—सम्यक्त्वमोहनीय। इनमेंसे शुरूकी छह प्रकृतियाँ क्याग्रिणी

के समान सम्यक्त्वके पीछे पड़कर उसे भक्षण करनेवाली हैं और सातवीं स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकंप व मलीन करनेवाली है।

जो प्राणी उपरोक्त सात प्रकृतियोंको उपशमाता है, वह औपशमिकसम्यग्दृष्टि है और जो सातों प्रकृतियोंको क्षय करनेवाला है, वह क्षायिकसम्यग्दृष्टी है। यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता। सात प्रकृतियोंमेंसे कुछका क्षय हो और कुछका उपशम हो तो वह क्षयोपशमसम्यक्त्वी है। उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद मिलता है। छह प्रकृतियाँ उपशम हों व क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो, केवल सातवीं प्रकृति सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो तो वह वेदकसम्यक्त्वधारी होता है।

सम्यक्त्व नौ प्रकारका होता है:—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदक सम्यक्त्व चार प्रकारका है और उपशम तथा क्षायिक, ये दो प्रकार।

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेद:—

१—अनन्तानुबन्धी चौकड़ीका क्षय और दर्शनमोहनीय त्रिकका उपशम। यह परिणामका पहिला भेद है।

२—अनन्तानुबन्धी चौकड़ी और महामिथ्यात्वका क्षय और मिश्रमिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीयका उपशम। यह परिणाम का दूसरा भेद है।

३—अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्रका क्षय और सम्यक्त्वमोहनीयका उपशम। यह परिणामका तीसरा भेद है।

वेदकसम्यक्त्वके चार भेदः—

१—जहाँ अनुन्तानुबन्धी चौकड़ीका क्षय और महामिथ्यात्व और मिश्रका उपशम और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो, उस परिणामको प्रथम क्षयोपशमवेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

२—जहाँ अनन्तानुबन्धी चौकड़ी और महामिथ्यात्वका क्षय मिश्रका उपशम और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो, उस परिणामको द्वितीय क्षयोपशमवेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

३—जहाँ अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्रका क्षय और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो, उस परिणामको क्षायिक वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

४—जहाँ अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्रका उपशम और सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो, उस पदिणामको उपशम वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपशम तथा क्षायिक दो भेदः—

१—जो अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, महामिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीयको उपशमाता है, वह 'औपशमिक सम्यक्दृष्टि' है।

२—जो अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, महामिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीयका क्षय करता है, वह 'क्षायिकसम्यग्दृष्टि' है। यह क्षायिकसम्यक्त्व जिनकालिक मनुष्योंको होता है। जो जीव आयुका बन्ध करनेके बाद इसे प्राप्त करते हैं, वे तीसरे या चौथे भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु अगले भवकी आयु बाँधनेके पहिले

जिनको यह सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे वर्तमान भवमें ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

उपशम श्रेणी-भावी औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति चौथे, पाँचवे, छठे या सातवेंमेंसे किसी गुणस्थानमें हो सकती है परन्तु आठवें गुणस्थानमें तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है।

औपशमिक सम्यक्त्वके समय आयुर्बन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी कषायका बन्ध तथा अनन्तानुबन्धी कषायका उदय, ये चार बातें नहीं होतीं। पर उससे च्युत होनेके बाद हो सकती हैं।

सम्यक्त्व-सत्ताकी निश्चय, व्यवहार, सामान्य और विशेष, ऐसी चार विधिका वर्णन किया जाता है।

१—मिथ्यात्वके नष्ट होनेसे मन, वचन व कायके अगोचर जो आत्माकी निर्विकार श्रद्धानकी ज्योति प्रकाशित होती है, उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये।

२—जिसमें योग, मुद्रा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके विकल्प हैं, यह व्यवहार सम्यक्त्व है।

३—ज्ञानकी अल्प शक्तिके कारण मात्र चेतना चिन्हके धारक आत्माको पहिचान कर निज और परके स्वरूपका जानना सामान्य सम्यक्त्व है।

४—हेय, ज्ञेय, उपादेयके भेदाभेदका विस्तार रूपसे समझना विशेष सम्यक्त्व है।

नवतत्त्व अधिकार

(शेषांश*)

४—कालास्तिकाय—द्रव्यसे भूत और भविष्यत्कालकी अपेक्षासे अनन्त है, क्षेत्रसे व्यवहारकालकी अपेक्षासे अढ़ाई द्वीप-प्रमाण है और मृत्युकालकी अपेक्षासे लोकाकाश प्रमाण है, कालसे आदि-अन्त रहित है, भावसे वर्णादि-रहित अर्थात् अरूपी है और गुणसे पर्याय-परिवर्तनकारी है।

---

* यह अधिकार द्वितीय खण्डमें दिया गया है। वहाँ यह लगभग ४० पृष्ठसे भी अधिक होगया था। पाठकोंको इतना बड़ा एक अधिकार पढ़नेमें अरुचिकर होता। इसलिये वहाँ थोड़ासा देकर यहाँ उसका शेषांश दिया गया है।

इसका दूसरा कारण यह भी है कि तृतीय खण्डमें आध्यात्मिक विषय रक्खे गये हैं। नवतत्त्वाधिकारका यह 'शेषांश' आध्यात्मिक विषयसे अधिक संबन्ध रखता है। क्योंकि इस 'शेषांश' में आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, इन सात तत्त्वोंका मुख्यतया वर्णन है। ये सात तत्त्व मोक्षाभिलाषी पुरुषकेलिये अति उपयोगी हैं।

—सम्पादक।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन चार द्रव्योंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुणकी अपेक्षासे बीस भेद हुये। (२०)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनोंके स्कन्ध, देश और प्रदेश अलग-अलग होते हैं। इसलिये इस प्रकारसे इनके नौ भेद और हुये और कालका केवल एक ही भेद होता है। इसलिये सब मिलाकर इनके दस भेद इस अपेक्षासे और हुये। (१०)

इस प्रकार अरूपी अजीव द्रव्योंके कुल भेद तीस हुये। (३०)

वर्णके पाँच प्रकारके पुद्गल, गन्धके दो प्रकारके पुद्गल, रसके पाँच प्रकारके पुद्गल, स्पर्शके आठ प्रकारके पुद्गल और संस्थानके पाँच प्रकार कहे गये हैं।

१—एक वर्णके पुद्गलके दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श और पाँच संस्थान हो सकते हैं। इस प्रकार एक वर्णके पुद्गलके बीस भेद होते हैं। कुल वर्ण पाँच प्रकारके हैं। इसलिये कुल वर्णके सौ भेद हुये। (१००)

२—एक गन्धके पुद्गलके पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श और पाँच संस्थान हो सकते हैं। इस प्रकार तेईस भेद हुये और चूँकि गन्ध दो प्रकारकी होती है। इस कारण गन्धके छयालीस भेद हुये। (४६)

३—एक रसके पुद्गलके पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, और पाँच संस्थान हो सकते हैं। इस प्रकार एक रसके पुद्गलके बीस भेद हुये और कुल रस पाँच हैं। इसलिये कुल रसके भेद सौ हुये। (१००)

४—एक स्पर्शके पुद्गलके पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, पाँच संस्थान और छह स्पर्श हो सकते हैं। इसलिये एक स्पर्शके पुद्गलके तेईस भेद हुए और स्पर्श आठ प्रकारके हैं। इसलिये कुल भेद एक सौ चौरासी हुए। (१८४)

गुरु लघु नहीं होता, चिकना खुरखुरा नहीं होता, ठंडा गरम नहीं होता। इस प्रकार इस अपेक्षासे स्पर्श के केवल छह भेद ही पाये जाते हैं।

५—संस्थान पाँच प्रकारके माने हैं। गोल, त्रिकोण, चतुर्भुज, परिमण्डल (चूड़ी जैसा) और लम्बायमान (लकड़ी जैसा लम्बा)।

प्रत्येक संस्थानके पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श, इस अपेक्षासे बीस भेद हुए। कुल संस्थान पाँच हैं। इसलिये संस्थान-आश्रित कुल भेद सौ हुए। (१००)

अजीव अरूपी और रूपी द्रव्यके सब मिलकर ३० + १०० + ४६ + १०० + १८४ + १०० = ५६० भेद हुए।

शास्त्रकारोंने पुद्गलके छह भेद अन्य अपेक्षासे भी किये हैं। यथा—

१—स्थूल-स्थूल, जैसे पृथ्वी-पर्वतादिक; २—स्थूल, जैसे जल, दूध आदि तरल पदार्थ; ३—स्थूल-सूक्ष्म, जैसे छाया, आताप आदि नेत्र-इन्द्रियगोचर; ४—सूक्ष्म-स्थूल, जैसे नेत्रके बिना अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहण-योग्य शब्द, गन्ध आदि। ५—सूक्ष्म, जैसे कर्मोंकी वर्गणाएँ और ६—सूक्ष्म-सूक्ष्म, जैसे परमाणु।

पुण्य

'पुनाति—आत्मानं पवित्रयतीति पुण्यम्'—आत्माको जो पवित्र करे वह 'पुण्य' है। अर्थात् जीवके शुभ परिणामके निमित्त से पुद्गलके जो शुभ कर्म रूपी शक्ति होती है, उसको 'पुण्य' कहते हैं।

समस्त संसारमें शुभ अशुभ कर्मोंके रज रूपी पुद्गल ठसाठस भरे हुये हैं। जीव अर्थात् प्राणी जैसे मन, वचन और कायसे शुभ-अशुभ कर्म करता है, उसके अनुसार आत्म-प्रदेशोंपर रज रूपी पुद्गल चिमट जाते हैं। इन कर्म-पुद्गलोंका पूरा विवरण 'कर्म अधिकार' में किया गया है, वहाँ देखना चाहिये। पुण्य कर्मोंका बाँधना मुशकिल है, पर भोगना आसान है। बड़े त्याग, सेवा, इन्द्रिय-दमन आदिसे पुण्यका बन्ध होता है। पर इसके फलोंका भोगना बड़ा प्रिय लगता है। पुण्य मोक्षका कारण नहीं है। पुण्यसे संसारमें हर प्रकारके सुख व वैभवकी प्राप्ति होती है। शास्त्रकारोंने पुण्यको स्वर्णकी बेड़ीसे उपमा दी है। संसारी जीव सुख, सम्पत्ति, वैभव आदिके बड़े अभिलाषी होते हैं। इस

कारण उनको पुण्य उपार्जन करना चाहिये। शास्त्रकारोंने पुण्य-उपार्जन करनेकेलिये अनेक मार्ग—साधन बताये हैं। यथा:—

१—अन्नका दान, २—पानीका दान, ३—पात्रका दान, ४—मकानका दान, ५—वस्त्रका दान, ६—मनसे शुभ चिन्तन करना, ७—वचनसे शान्ति देना, ८—शरीरसे सेवा आदि करना और ९—वृद्धों व गुणियोंको नमस्कार आदि करना।

१—अन्नका दान:—

सच्चे त्यागी मुनियों—साधुओंको शुद्ध आहार दान देना। इनके अलावा अनाथ, अपाहिज, असहाय, विधवा, अकाल पीड़ितों आदिको अन्न-दान अर्थात् भोजन देना।

२—पानीका दान:—

सच्चे त्यागी मुनियों—साधुओंको शुद्ध व अचित्त पानी वैराना। इनके अलावा मनुष्यों, पशुओं आदिकेलिये प्याऊ आदिका प्रबन्ध करना।

३—पात्रका दान:—

सच्चे त्यागी मुनियों—साधुओंको पात्र (काष्ठके वर्तन) आदि देने। इनके अलावा जिन अनाथों, असहायों, बेवाओं, निर्धनोंके पास पात्र न हों तो उन्हें पात्र देना।

४—मकानका दान:—

साधु-मुनि सदा भ्रमण किया करते हैं। उनके कोई मकान नहीं होते हैं। अगर वे भ्रमण करते आवें तो उनके ठहरनेकेलिये

साताकारी मकान अथवा स्थान आदिका प्रबन्ध करना। जो आदमी धर्मशाला आदि बनवाते हैं, वे भी पुण्य उपार्जन करते हैं।

५—वस्त्रका दानः—

सच्चे त्यागी, मुनियों और साधुओंको स्वच्छ और शुद्ध वस्त्र वैराना। इनके अलावा अनाथों, असहायों, विधवाओं, वृद्धों, आदिको वस्त्र दान देना और जाड़ोंमें जो निर्धन मनुष्य हों उनकी वस्त्रसे सहायता करनी चाहिये।

६—मनमें शुभ चिन्तनः—

प्रत्येक प्राणीको सदा अपने मनसे दूसरोंके प्रति अर्थात् प्राणीमात्रके वास्ते शुभ चिन्तन व शुभ भावना रखनी चाहिये। कभी किसीके प्रति बुरे ख्याल स्वप्न तकमें भी नहीं लाने चाहिये।

७—वचनसे शान्ति देनाः—

अगर कोई प्राणी दुःख, तकलीफ, कष्ट या सन्ताप अवस्थामें है तो उसको शान्ति देनी चाहिये। इसके अलावा सदा कोमल और मृदु वचनोंसे बोलना चाहिये। अर्थात् कभी क्रोध, घृणा, कठोरताके शब्द नहीं बोलने चाहिये। सदा गुणियोंके गुणगान करते रहना चाहिये।

८—कायसे सेवाः—

अगर कोई साधु या मुनि तकलीफ या कष्टमें हो तो उसकी सेवा भक्ति करनी चाहिये। इसके अलावा कष्ट-पीड़ित, रोगियों,

कमज़ोरों आदिकी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये। निर्बलों, असहायों और अबलाओंकी बलवानों और निर्दयोंसे रक्षा करनी चाहिये।

६—गुणियोंको नमस्कारः—

सच्चे और त्यागी मुनियों और साधुओंको नमस्कार अर्थात् बन्दना आदि करना। इसके अलावा बुज़ुर्गों, विद्वानों, गुणियों आदिको नमस्कार करना चाहिये।

इसके अलावा और दूसरे कार्योंसे भी पुण्यका उपार्जन होता है। जैसेः—विद्यादान देना, अभयदान देना, आदि।

सदा सुपात्रको दान देना चाहिये। इसके अलावा दान व साहाय्य तो सिर्फ उन्हींका होना चाहिये, जो उसके पात्र हैं अर्थात् जो जरूरत वाले हैं। अकसर ग़फ़लत और लेहतलालीकी वजहसे ऐसे मनुष्योंको दान पहुँच जाता है, जो उसका दुरुपयोग करते हैं। ऐसी अवस्थामें बजाय पुण्यके पापका ही बन्ध हो जाता है। हाँ! दान देनेवालेके भाव यदि शुद्ध हैं तो उससे पुण्य ही होता है। इस कारण दान सदा सोच-समझ और देख-भाल कर देना चाहिये। बहुतसे धूर्त, पाखंडी, प्रमादी दान ले जाकर कुव्यसन और व्यभिचार आदिमें लगाते हैं।

जो प्राणी सुपात्र-दान देते हैं, वे बयालीस प्रकारसे पुण्यके फलको भोगते हैं:—

१—सातावेदनीय, २—उच्च गोत्र, ३—मनुष्य गति, ४—देव गति, ५—मनुष्यानुपूर्वी, ६—देवानुपूर्वी, ७—पञ्चेन्द्रिय जाति,

८—औदारिक शरीर, ९—वैक्रियिक शरीर, १०—आहारिक शरीर, ११—तैजस शरीर, १२—कार्मण शरीर, १३—औदारिक अङ्गोपाङ्ग, १४—वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग, १५—आहारिक अङ्गोपाङ्ग, १६—वज्रऋषभनाराचसंहनन, १७—समचतुरस्रसंस्थान, १८—शुभ वर्ण, १९—शुभ गन्ध, २०—शुभ रस, २१—शुभ स्पर्श, २२—शुभ, २३—सौभाग्य, २४—सुस्वर, २५—यशःकीर्ति, २६—देवायु, २७—मनुष्यायु, २८—तिर्यगायु, २९—तीर्थंकर, ३०—मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, ३१—देवगत्यानुपूर्व्य, ३२—अगुरुलघु, ३३—परघात, ३४—उच्छ्वास, ३५—आतप, ३६—उद्योत, ३७—शुभविहायोगति, ३८—त्रस, ३९—बादर, ४०—पर्याप्त, ४१—प्रत्येकशरीर, ४२—स्थिर नाम कर्म।

पुण्य और पाप दोनों संसारके कारण हैं। पाप लोहेकी बेड़ी के समान है तो पुण्य सोनेकी बेड़ीके समान है। आखिर बेड़ी—बन्धन दोनों हैं। इस कारण आत्मार्थी प्राणियोंको तो दोनों त्याज्य हैं। फिर वह पुण्य कैसे करता है?

जैसे किसान जब चाँवलोंकी खेती करता है, तब उसका मुख्य उद्देश्य चाँवल उत्पन्न करनेका रहता है और चाँवलोंका जो पलाल (भूसा) है, उसमें उसकी इच्छा नहीं रहती, तथापि उसको बहुत-सा पलाल मिल ही जाता है; इस प्रकार मोक्ष चाहनेवाले जीवोंको वाञ्छा बिना ही पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है और उस पुण्य से स्वर्गमें इन्द्र-लौकान्तिकदेव आदिकी विभूति तकको जीव प्राप्त

करता है। वहाँपर भी धर्ममें बुद्धिको दृढ़ करके चतुर्थ गुणस्थानके योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है उसको नहीं छोड़ता हुआ भोगोंका सेवन करते हुए भी धर्मध्यानसे देवायुको पूर्ण कर, स्वर्गसे आकर तीर्थंकर आदि पदको प्राप्त कर, पूर्व-जन्ममें भावित की हुई जो विशिष्ट—भेद-ज्ञानकी वासना है उसके बलसे मोहको नहीं करता है और मोहरहित होनेसे श्रीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर पुण्य तथा पापसे रहित जो निज-पर आत्मा का ध्यान है. उसके द्वारा मोक्षको जाता है। और जो मिथ्यादृष्टि है, वह तो तीव्र निदानबन्धके पुण्यसे चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदिके समान भोगोंको प्राप्त कर नरकको जाते हैं। पुण्य प्रकृति तेरहवें गुणस्थान तक लगी हुई हैं। पुण्य की प्रशंसा शास्त्रोंमें अनेक स्थानपर की है। इस कारण आदरनेके स्थानपर आदरणीय है और मोक्ष होते समय त्याग तो उनका स्वयं ही हो जाता है।

पाप

अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पाप रूप होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिस कर्मका फल दुःख रूप हो, उसे पाप कहना चाहिये। पाप कर्मोंसे जीव अनादि कालसे घिरा हुआ है। यह कर्म आत्माको मलीन कर देते हैं। इसका बाँधना बड़ा सरल है, पर इसका परिणाम भोगना बड़ा दुष्कर है। शास्त्रकारोंने पापको लोहेकी बेड़ीसे उपमा दी है।

समस्त लोकमें अशुभ कर्म अर्थात् पापके पुद्‌गल ठसाठस भरे हुये हैं। जब कोई जीव अशुभ कर्म अथवा पाप करता है तो अशुभ कर्मोंके रज रूपी पुद्‌गल उसकी आत्माके प्रदेशोंपर चिमट जाते हैं, वे उसी समय या समय आनेपर अपना अशुभ फल देते हैं।

अज्ञानी व भोले प्राणी पापको हँस-हँसकर बाँध लेते हैं, पर इसके परिणामसे उनका रो-रो कर भी पीछा नहीं छूटता है।

प्राणी प्रथम भावपाप करता है, तत्पश्चात् द्रव्यपाप करता है। अशुभ प्रकृति परिणमन रूप द्रव्यपाप कर्म है। वह आत्माके ही अशुभ परिणामोंका निमित्त पाकर उत्पन्न होता है।

शास्त्रकारोंने पापके अठारह भेद फरमाये हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१—प्राणातिपात अर्थात् जीवकी हिंसा करना।

२—मृषावाद अर्थात् असत्य—झूठ बोलना।

३—अदत्तादान अर्थात् बगैर दी हुई वस्तु लेनी—चोरी करना।

४—मैथुन अर्थात् कुशीलका सेवन करना।

५—परिग्रह अर्थात् द्रव्य—धन आदि रखना और ममता बढ़ानी।

६—क्रोध अर्थात् अपनेको तपाना—कोप करना।

७—मान अर्थात् अहङ्कार (घमण्ड) करना।

८—माया अर्थात् कपट, ठगाई इत्यादि करना।

९—लोभ अर्थात् तृष्णा बढ़ाना—गृद्धिपणा रखना।

१०—राग अर्थात् स्नेह रखना—प्रीति करना।

११—द्वेष अर्थात् अनिच्छित वस्तुपर घृणा करना।

१२—कलह अर्थात् क्लेश करना।

१३—अभ्याख्यान अर्थात् झूठा कलङ्क लगाना।

१४—पैशून्य अर्थात् दूसरोंकी चुगली खाना।

१५—पर-अपवाद अर्थात् दूसरोंकी निन्दा करना।

१६—रति-अरति अर्थात् पाँचों इन्द्रियोंके तेईस विषयोंमेंसे इच्छित वस्तुपर प्रसन्न होना और अनिच्छित वस्तुपर अ-प्रसन्न होना।

१७—मायामृषावाद अर्थात् कपटसहित झूठ बोलना—कपटमें भी कपट करना।

१८—मिथ्यादर्शनशल्य अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखना।

जो अज्ञानी प्राणी उपरोक्त अठारह पापोंका सेवन करते हैं, उनको निम्नलिखित बयासी कर्म-प्रकृतियाँ भोगनी पड़ती हैं:—

ज्ञानावरणीयकी पाँच, दर्शनावरणीयकी नौ, वेदनीयकी एक, मोहनीयकर्मकी छब्बीस, आयुष्यकर्मकी एक, नाम-कर्मकी चौंतीस, गोत्रकर्मकी एक और अन्तरायकर्मकी पाँच। इस प्रकार बयासी प्रकृतियाँ होती हैं।

इनका वर्णन 'कर्म अधिकार' में है।

आस्रव

जिस प्रकार नावमें छिद्र होनेसे पानी आनेके कारण वह नाव डूब जाती है, उसी प्रकार संसार रूपी समुद्रमें आस्रव रूपी छिद्रसे पाप रूपी पानीके भर जानेसे आत्मा रूपी नाव डूब जाती है। अर्थात् कर्मोंके आनेके द्वारको 'आस्रव' कहते हैं। कर्मोंके आनेके द्वार अनेक हैं। उनका वर्णन शास्त्रकारोंने इस प्रकार किया है:—

शास्त्रकारोंने बीस प्रकार, बयालीस प्रकार और सत्तावन प्रकारसे आस्रव होना बताया है।

बीस भेद इस प्रकार हैं:—

१—मिथ्यात्वको सेवे तो आस्रव, २—अव्रत अर्थात् प्रत्याख्यान नहीं करे तो आस्रव, ३—पाँच प्रमाद सेवन करे तो आस्रव, ४—पच्चीस कषाय सेवन करे तो आस्रव, ५—अशुभ योग प्रवर्त्तावे तो आस्रव, ६—प्राणातिपात अर्थात् जीवकी हिंसा करे तो आस्रव, ७—मृषावाद अर्थात् झूठ बोले तो आस्रव, ८—अदत्तादान अर्थात् चोरी करे तो आस्रव, ९—मैथुन अर्थात् कुशील सेवन करे तो आस्रव, १०—परिग्रह अर्थात् धन, कंचन आदि रक्खे तो आस्रव, ११—श्रोत्रेन्द्रिय वशमें न रक्खे तो आस्रव, १२—चक्षुरिन्द्रिय वशमें न रक्खे तो आस्रव, १३—घ्राणेन्द्रिय वशमें न रक्खे तो आस्रव, १४—रसेन्द्रिय वशमें न रक्खे तो आस्रव, १५—स्पर्शेन्द्रिय वशमें न रक्खे तो आस्रव, १६—मनको

वशमें न रक्खे तो आस्रव, १७—वचनको वशमें न रक्खे तो आस्रव, १८—कायको वशमें न रक्खे तो आस्रव, १९—भंड उपकरण अर्थात् सामान आदि असावधानीसे रक्खे तो आस्रव, २०—सुई कुशमात्र असावधानीसे ले या रक्खे तो आस्रव।

बयालीस प्रकारका आस्रव इस भाँति मानते हैं:—

पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे, चार कषायोंसे, तीन अशुभ योगोंसे, पच्चीस क्रियाओंसे, पाँच अव्रतोंसे, इस प्रकार ब्यालीस प्रकारसे भी आस्रवका होना माना गया है।

सत्तावन प्रकारसे आस्रवका होना इस प्रकार बतलाया है:—उपरोक्त ब्यालीस प्रकारोंमें पन्द्रह योग और शामिल कर देनेसे आस्रवके सत्तावन प्रकार हो जाते हैं।

आस्रवको करनेवाली पच्चीस क्रियाएँ ये हैं:—

१—देव, गुरु और धर्मकी भक्ति आदि करना सम्यक्त्व क्रिया; २—अन्य कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की स्तुति करना मिथ्यात्व क्रिया; ३—कामादिकसे गमनागमनादिरूप करना प्रयोग क्रिया; ४—ईर्यापथ अर्थात् गमनकेलिये क्रिया करना ईर्यापथ क्रिया; ५—वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशय हो जानेपर आङ्गोपाङ्ग नामकर्मकी प्राप्तिसे आत्माको मन, वचन और कायके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेकी जो शक्ति होती है, वह समादान क्रिया; ६—क्रोधके आवेशसे जो क्रिया हो वह प्रादोषिकी क्रिया; ७—दुष्टताकेलिये उद्यम करना कायिकी क्रिया; ८—हिंसाके

उपकरण शस्त्रादिकका ग्रहण करना आधिकरणकी क्रिया; ९—अपने व परायेके दुःखोत्पत्तिका जो कारण हो, वह पारतापिकी क्रिया; १०—आयु, इन्द्रिय, बल, प्राणों आदिका वियोग करना प्राणातिपातकी क्रिया; ११—रोगाधिकताके कारण प्रमादी होकर रमणीय रूपका आवरण करना दर्शन क्रिया; १२—प्रमाद के कारण वस्तुके स्पर्शनार्थ प्रवर्त्तनेसे स्पर्शन क्रिया; १३—विषयोंके नये-नये कारण मिलाना प्रात्ययिकी क्रिया; १४—स्त्री-पुरुषों व पशुओंके बैठने-सोने-प्रवर्त्तनेके स्थानमें मल-मूत्र आदि क्षेपण करना समंतानुपात क्रिया; १५—बिना देखी-शोधी भूमिपर बैठना, शयन करना आदि अनाभोग क्रिया; १६—परके करने योग्य क्रियाको स्वयम् करना स्वहस्त क्रिया; १७—पापोत्पादक प्रवृत्तिको भला समझना व आज्ञा करना निसर्ग क्रिया; १८—आलस्यसे प्रशस्त क्रिया न करना अथवा अन्यके किये हुए पापाचरणका प्रकाश करना विदारण क्रिया; १९—चारित्रमोहके उपद्रवसे परमागमकी आज्ञानुसार प्रवर्त्तनेमें असमर्थ होकर अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञाऽव्यापादिकी क्रिया; २०—प्रमादसे व अज्ञानतासे परमागमकी उपदेश की हुई विधिमें अनादर करना अनाकाङ्क्षा क्रिया; २१—छेदन-भेदन आदिकी क्रियामें तत्परता होना तथा अन्यके आरम्भ करनेमें हर्ष मानना आरम्भ क्रिया; २२—परिग्रहकी रक्षाकेलिये प्रवृत्ति करना पारिग्राहिकी क्रिया; २३—ज्ञान-दर्शनादिकमें कपटरूप उपाय करना माया

क्रिया: २४—मिथ्यात्वका कार्य करना व करनेवालेको उस कार्यमें दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया: २५—संयमको घात करनेवाले कर्मके उदयसे संयम रूप नहीं प्रवर्त्तना अप्रत्याख्यान क्रिया। ये पच्चीस क्रियाएँ आस्रवकी कारण हैं।

बन्ध

इस तत्त्वका वर्णन 'कर्म अधिकार' में किया जा चुका है।

संवर

जिस प्रकार छिद्र सहित नौका जो समुद्रमें पड़ी हुई है, उसके छिद्र बन्द कर देनेसे जलका आना बन्द हो जाता है; उसी प्रकार संसार रूपी समुद्रमें जो आत्मा रूपी नौका पड़ी हुई है, जिसके छिद्र रूपी आस्रवको रोकनेसे कर्म रूपी जल नहीं आता है। इस कर्मागम द्वारके रोकनेको 'संवर' कहते हैं। अर्थात् आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं*।

जो पुरुष संवर धारण करता है, उसका यह कर्त्तव्य है कि वह पाप रूपी जलका अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदिका सर्वथा लोप करके संयम-अवस्था अर्थात् शुभ भावना, शुभ विचारोंका ध्यान-चिन्तन करे। संवर धारण करनेसे मनुष्य अपने संसारको कम करता है।

शास्त्रकारोंने संवरके सामान्य प्रकारसे बीस भेद कहे हैं और विशेष प्रकारसे सत्तावन भेद कहे हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

* "आस्रवनिरोधः संवरः" —उमास्वाति।

१—सम्यक्त्वका धारण करना, २—व्रत-प्रत्याख्यानका करना, ३—प्रमादका त्याग करना, ४—कषाय नहीं करना, ५—शुभ विचारोंका हृदयमें संचार करना, ६—दया पालनी ७—सत्य बोलना, ८—बिना दी हुई वस्तु नहीं लेनी, ९—ब्रह्मचर्यका पालन करना, १०—निर्ममत्व होना, ११—१२—१३—१४—१५—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श इन्द्रियका निग्रह करना, १६—मनको वशमें रखना, १७—वचन और कायका निग्रह करना, १८—भण्डोपकरणोंको सावधानीसे लेना और सावधानीसे रखना और २०—सुई-कुशमात्र भी यत्नसे लेना और यत्न से रखना।

संवरके सत्तावन भेद इस प्रकारसे हैं:—

पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परिषह, दस यतिधर्म, बारह भावना और पाँच चारित्र।

पाँच समितिः—

१—ईर्या समिति, २—भाषा समिति, ३—एषणा समिति, ४—आदाननिक्षेपणा समिति और ५—परिठावणीया-उत्सर्ग समिति।

तीन गुप्तिः—

१—मनोगुप्ति, २—वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

बाईस परिषहः—

१—क्षुधा, २—तृषा, ३—शीत, ४—उष्ण, ५—दंशमशक, ६—अचेल, ७—अरति, ८—स्त्री, ९—चर्या, १०—निषद्या, ११—शय्या, १२—अक्रोध, १३—वध १४—याचना, १५—अलाभ, १६—रोग, १७—तृण, १८—मल, १९—सत्कारपुरस्कार, २०—प्रज्ञा, २१—अज्ञान और २२—अदर्शन।

दस यतिधर्मः—

१—क्षमा, २—मुक्ति, ३—आर्जव, ४—मार्दव, ५—लाघव, ६—सत्य, ७—संयम, ८—तप, ९—त्याग और १०—ब्रह्मचर्य* ।

बारह भावनाः—

१—अनित्य, २—अशरण, ३—संसार, ४—एकत्व, ५—अन्यत्व, ६—अशुचि, ७—आस्रव, ८—संवर, ९—निर्जरा, १०—लोक, ११—बोधि और १२—धर्मस्वाख्याततत्व।

पाँच चारित्रः—

१—सामायिक, २—छेदोपस्थापनीय, ३—परिहारविशुद्धि, ४—सूक्ष्मसम्पराय और ५—यथाख्यात।

निर्जरा

जिस प्रकार समुद्रमें पड़ी हुई किसी नौकाके छिद्र तो बन्द कर दिये, जिससे कि आता हुआ पानी रुक गया, लेकिन जो पानी उसमें पहले भर गया है, वह जब तक न निकाला जायगा, तब

* "उत्तम-क्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।" —उमास्वाति।

तक नौकाका पार लगना कठिन है। उसी प्रकार आत्मा रूपी नौकामें जो पाप रूपी पानी भरा हुआ है, उसको निकालनेका उपाय मनुष्यको करना चाहिये। ऐसा किये बिना यह आत्मा-संसार-समुद्रसे पार नहीं हो सकती। कर्म रूपी जलको आत्मा रूपी नौकासे निकालनेके उपायको 'निर्जरा' कहते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि आत्म-प्रदेशोंपर जो अशुभ कर्मोंके परमाणु लगे हुए हैं, उनको दूर करनेके उपायको निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार एक चिकने घड़ेको गर्म पानी व सोड़ा आदि लगाकर साफ़ किया जाता है, उसी प्रकार कर्ममलसे मलीमस आत्मा तपः-संयम आदिसे पवित्र की जाती है।

आत्मामें जो संचित कर्म हैं, उनको दूर करनेकेलिये अथवा आत्माको शुद्ध करनेकेलिये शास्त्रकारोंने बारह विधियाँ बताई हैं:—

१—अनशन—'अशनं-भोजनम्। न अशनमिति अनशनम्' अर्थात् आहार-पानीका त्याग करना ❀।

❀ यह एक तप है। इसमें आहार-पानीका त्याग किया जाता है। सामर्थ्यवान् प्राणी सर्व प्रकारके आहार-पानीका त्याग कर देते हैं। एक दिनका, दो दिनका, महीने भरका, साल भरका इत्यादि जितनी अपनी सामर्थ्य हो—उसके अनुसार त्याग करते हैं और जिनमें इतनी सामर्थ्य नहीं होती, वे थोड़ा भी कर सकते हैं। आहार मात्रका त्याग कर केवल

२—अवमौदर्य अर्थात् भोजनकी अधिक रुचि होनेपर भी कम आहार करना।

३—भिक्षाचर्या अर्थात् शुद्ध आहार आदिका लेना।

४—रसपरित्याग अर्थात् मीठा, घृत, तेल आदिका त्याग करना।

५—कायक्लेश अर्थात् वीर, गोदोहन, वज्र आदि आसन करना।

६—पड़िसंलीणता अर्थात् इन्द्रिय, योग आदि कर्म-बन्धके कारणोंसे आत्म-निग्रह करना।

ये छह तप 'बाह्य तप' कहलाते हैं + ।

७—प्रायश्चित्त अर्थात् खाने-पीने, उठने-बैठने या अन्य किसी तरीक़ेसे कोई दोष लग गया हो तो आत्माको शुद्ध करनेके लिये आलोचना, वन्दना करना।

८—विनय अर्थात् गुरु आदिका भक्ति-भावसे अभ्युत्थानादि द्वारा आदर-सत्कार करना।

जल ही ले सकते हैं। उद्दीप्त इन्द्रियोंको और मनको वशमें करनेके लिये मुनि इस तपका आचरण करते हैं।

+ "अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः"। —उमास्वाति।

६—वैय्यावृत्य अर्थात् दस प्रकारके आचार्यादिकोंकी सेवा करना१।

१०—स्वाध्याय अर्थात् शास्त्रोंकी वाचना-पृच्छना आदि करना।

११—ध्यान अर्थात् मनको एकाग्र करना।

१२—व्युत्सर्ग अर्थात् कायके व्यापारका त्याग करना।

ये पिछले छह तप 'आभ्यन्तर तप' कहलाते हैं॥।

जो पुरुष अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश, इन छह प्रकारके बहिरङ्ग तप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, इन छह प्रकारके अन्तरङ्ग तपोंको कर सकते हैं, वे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करते हैं।

अनेक कर्मोंकी शक्तियोंके गलानेको समर्थ द्वादश प्रकारके तपोंसे बढ़ा हुआ मनुष्यका जो शुद्धोपयोग है, वही—'भाव निर्जरा' है और भाव निर्जराके अनुसार नीरस होकर पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंका एक देश खिर जाना 'द्रव्य निर्जरा' है।

जो पुरुष कर्मोंके निरोधसे संयुक्त है, आत्म-स्वरूपका जाननेवाला है, वह पर कार्योंसे निवृत्त होकर आत्मकार्यका उद्यमी होता

१—दस प्रकारके आचार्यादि ये हैं:—

"आचार्योपाध्याय तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्।"

—उमास्वाति।

॥ "प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्तिस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।"

—उमास्वाति।

है, तथा अपने स्वरूपको पाकर गुणगुणीके अभेदसे अपने ज्ञानगुणको आपमें अभेद रूपसे अनुभवमें लाता है। वह पुरुष सर्वथा प्रकार वीतराग भावोंकेद्वारा, पूर्वकालमें बँधे हुए कर्मरूपी धूलको उड़ा देता है अर्थात् कर्मोंको खपा देता है।

मोक्ष

बन्धका प्रतिपक्षी मोक्ष है अर्थात् उक्त चारों प्रकारके बन्धसे मुक्त होना—छूटना, उसीका नाम 'मोक्ष' है।

मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक है अर्थात् पहिले केवलज्ञान हो जाता है, तब मोक्ष होता है। इस कारण पहिले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण कहते हैं।

मोहनीय कर्मके क्षय होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त क्षीण-कषाय नामका बारहवाँ गुणस्थान पाकर ज्ञानावरण, दर्शना-वरण और अन्तराय, इन तीनों कर्मोंका नाश होनेपर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

केवलज्ञान होनेके पश्चात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघातिया कर्मोंका नाश हो जाना अर्थात् आगामी कर्म-बन्धके कारणोंका सर्वथा अभाव और पूर्व संचित कर्मोंकी सत्ताका सर्वथा नाश हो जाना ही मोक्ष है।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" अर्थात् सम्य-ग्दर्शन युक्त ज्ञान और चारित्र ही मोक्षका मार्ग है। ज्ञान और दर्शन आत्माके अनादि-अनन्त गुण हैं, मोक्ष होनेके बाद वे

भी कायम रहते हैं। ज्ञान बिना दर्शन नहीं और दर्शन बिना ज्ञान नहीं, दोनोंका जोड़ा है। इनको स्वच्छ बना सम्पूर्णता प्राप्त करनेका साधन चरित्र और तप हैं। ये सादि-सान्त हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो तब तक इनकी आवश्यकता है। इन चारों प्रकारके गुणाराधनसे मोक्ष प्राप्त होता है।

समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेके पश्चात् मुक्त जीव लोकके अन्त भाग तक ऊपरको जाता है।

जिस तरह मिट्टीसे लिपटी हुई तुंबी जब तक मिट्टीके कारण भारी रहती है, तब तक पानीमें डूबी रहती है, परन्तु ज्यों ही उसकी मिट्टी धुल जाती है, त्यों ही वह पानीके ऊपर आ जाती है। इसी प्रकारसे कर्मके भारसे दबा हुआ आत्मा ज्यों ही उनसे छूट कर हलका होता है, त्यों ही वह ऊपरको गमन करता है।

जीवका जब ऊर्ध्व-गमनका स्वभाव है तो फिर लोकके अन्तमें ही क्यों ठहर जाता है? अलोकाकाशमें क्यों नहीं चला जाता है? इसका उत्तर यह है—

अलोकाकाशमें धर्मास्तिकायके अभाव होनेसे आत्मा गमन नहीं कर सकती है अर्थात् धर्मादिक पाँच द्रव्योंका निवास लोकाकाशमें ही है, अलोकाकाशमें नहीं है। और जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायक धर्म द्रव्य ही होता है, जिसका कि आगे अभाव है। इसलिये जीवके गमनका भी अभाव है।

इसी कारण मुक्त जीव लोकके अन्तमें जाकर सिद्ध स्थानमें ठहर जाता है।

यदि कोई प्रश्न करे कि मुक्त जीवोंमें कुछ भेद है कि नहीं तो उसका उत्तर इस प्रकार है:—

वास्तवमें तो सिद्धोंमें कोई भेद नहीं है अर्थात् सब एकसे हैं, परन्तु हम संसारी जीवोंकी अपेक्षासे निम्न लिखित अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भेद-व्यवहार हो सकता है:—

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व* ।

क्षेत्रकी अपेक्षासे—भरत, महाविदेह आदि किस क्षेत्रसे मुक्त हुए; कालकी अपेक्षासे—किस कालमें मुक्त हुए; लिङ्गकी अपेक्षासे—तीन भावलिङ्गोंमेंसे किस लिङ्गसे क्षपकश्रेणी चढ़ कर मुक्त हुए; तीर्थकी अपेक्षासे—किस तीर्थंकरके तीर्थमें मुक्त हुए व तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त की या सामान्यकेवली होकर मोक्ष प्राप्त की; चारित्रकी अपेक्षासे—किस चारित्रसे कर्मोंसे मुक्त हुए; प्रत्येकबुद्ध बोधितकी अपेक्षासे—मुक्तिको प्राप्त करनेकेलिये जो साधुवृत्ति धारण की, वह अपने ही ज्ञानसे—समझसे धारण की अथवा दूसरेके उपदेशसे; ज्ञानकी अपेक्षासे—मनःपर्ययज्ञानसे केवलज्ञान हुआ अथवा अवधिज्ञानसे; अवगाहनाकी अपेक्षासे चौदहवें

* "क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धिबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।" —उमास्वाति ।

गुणस्थानमें शरीरकी कितनी अवगाहना थी; अन्तरकी अपेक्षासे—अमुक जीवके सिद्ध हो जानेके कितने समय बाद अमुक जीव सिद्ध हुए; संख्याकी अपेक्षासे—अमुक समयमें एक साथ जितने जीव सिद्ध हुए उनकी कितनी संख्या थी और अमुक समयमें एक साथ जितने जीव सिद्ध हुए उनकी कितनी संख्या थी; अल्प-बहुत्वकी अपेक्षासे—अमुक-अमुक समयमें एक साथ सिद्ध हुए जीव थोड़े थे अथवा अधिक; इत्यादि।

जिस शरीरसे आत्मा सिद्धपदको प्राप्त करती है, उस शरीरसे तीसरा भाग कम सिद्धस्थानमें आत्मप्रदेशकी अवगाहना रह जाती है। जैसेः—मान लो ५०० धनुषकी अवगाहनावाली कोई आत्मा सिद्ध हुई तो उसकी अवगाहना वहाँ ३३३ धनुष् और ३२ अङ्गुलकी रह जायगी। और जो आत्मा ७ हाथवाली अव-गाहनासे सिद्ध हुई तो उसकी अवगाहान सिद्ध स्थानमें ४ हाथ और १६ अंगुलकी रह जायगी।

ऐसा इसलिये होता है कि शरीरमें मुख, नासिका, कर्ण, उदर आदि स्थानोंमें कुछ पोल रहती है। उस पोलमें आत्म-प्रदेश नहीं रहते। वह पोल—आत्म-प्रदेश-शून्य स्थान शरीरमें नाम कर्मके विपाकका परिणाम है। इसलिये नाम कर्मके अभावमें आत्म-प्रदेश शून्य स्थान सिद्धाकृतिमें नहीं रहता।

परमेष्ठी अधिकार ।

जैन दर्शनमें पाँच परमेष्ठी माने गये हैं। इनके जपसे अथवा स्मरणसे मोक्ष पद तककी प्राप्ति होती है तो फिर सांसारिक मनोऽभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

पञ्च परमेष्ठीमें—पाँच पदोंमें समस्त धर्मात्माओंका समावेश हो जाता है। उन पाँचों परमेष्ठियोंका, जिसमें नमस्कार पूर्वक उल्लेख है, सूत्र निम्न प्रकार है। उसमें पाँचों परमेष्ठियोंको नमस्कार अथवा वन्दना भी है:—

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।"

इसमें पहिले पदमें संसारमें जितने अरिहन्त हैं, उनकी वन्दना; दूसरेमें जो आत्मायें सिद्ध अथवा भगवान् हो गये हैं, उनकी वन्दना; तीसरेमें संसारमें जितने आचार्य महाराज हैं, उनकी वन्दना; चौथेमें संसारमें जितने उपाध्यायजी हैं, उनकी वन्दना और पाँचवेंमें संसारमें जितने साधु-मुनि हैं, उनकी वन्दना की जाती है। यह अर्धमागधी भाषाका सूत्र है।

यहाँ यह प्रश्न स्वयम् उठता है कि इन आत्माओंके क्या गुण हैं जिनकी वजहसे ये वन्दनीय माने गये हैं? इस कारण यह

आवश्यक प्रतीत होता है कि उक्त पाँच परमेष्ठियोंके संक्षेपमें कुछ गुण बताये जायँ। क्योंकि बिना गुण जाने किसीमें भी भक्तिभावका होना असम्भव है।

'णमो अरिहंताणं'

अरिहंतजी जिनको तीर्थंकर आदि भी कहते हैं, उनमें निम्न-लिखित गुण, अतिशय आदि होते हैं।

जिस प्रकार संसारमें चक्रवर्ती अनेक ऋद्धि-सिद्धियों और वैभवके धनी होते हैं, उसी प्रकार धार्मिक संसारके अरिहन्त देव चक्रवर्ती होते हैं।

जिस प्रकार स्वर्ण और पारा आँचके प्रयोगसे एक अपूर्व रसायन बन जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी निम्नलिखित बीस बातोंमेंसे एक बातका भी दत्तचित्त होकर आराधन कर लेता है। वह तीर्थंकर पदका बन्ध कर लेता है और वह तीसरे भवमें तीर्थंकर पदको अवश्य प्राप्त करके स्वयम् भवसागरसे पार होता है और अनेक प्राणियोंको पार लगाता है।

वे बीस बातें निम्न प्रकार हैं:—

१—अरिहन्त, २—सिद्ध, ३—प्रवचन, ४—शास्त्र, ५—स्थ-विर—वृद्ध, ६—बहुसूत्री—पण्डित और ७—तपस्वी, इन सातोंकी दत्तचित्त होकर सेवा करनेसे; ८—बार-बार ज्ञानमें उपयोग लगानेसे; ९—सम्यक्त्व निर्मल पालनेसे; १०—गुरु आदि पूज्य जनोंका

दत्तचित्त हो कर विनय करनेसे; ११—देवसी, रायसी, पाक्षिक, चौमासी और सम्वत्सरीका प्रतिक्रमण निरन्तर करनेसे; १२—ब्रह्मचर्यादि व्रतोंको वग़ैर दूषण पालनेसे; १३—सदैव वैराग्य भाव रखनेसे; १४—बाह्य और आभ्यन्तर (गुप्त) तपश्चर्या करनेसे; १५—सुपात्रको दान देनेसे; १६—गुरु, रोगी, तपस्वी, वृद्ध और नवदीक्षित आदिकी वैय्यावृत्य अर्थात् सेवा-भक्ति करने से; १७—पूर्ण क्षमा-भाव रखनेसे; १८—नितान्त और नित्य नया ज्ञानाभ्यास करनेसे; १९—जिनेश्वरके वचनोंका आदर—मान-पूर्वक पालन करनेसे और २०—तन, मन और धनसे जैनधर्मकी उन्नति करनेसे।

उन माता-पिताओंको धन्य है अथवा वे बड़े पुण्यके अधिकारी होते हैं जो तीर्थंकर सरीखे पुत्रको जन्म देते हैं। जब तीर्थंकर भगवान् गर्भमें आते हैं, तब उनकी मातेश्वरी चौदह स्वप्न देखती हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१—ऐरावत हस्ति, २—श्वेत बैल, ३—शार्दूल सिंह, ४—लक्ष्मी देवी, ५—पुष्पकी माला, ६—पूर्ण चन्द्रमा, ७—सूर्य, ८—इन्द्रध्वजा, ९—पूर्ण कलश, १०—पद्मसरोवर, ११—क्षीर समुद्र, १२—देवविमान, १३—रत्नोंका ढेर और १४—निर्धूम अग्निकी ज्वाला।

मातेश्वरी इन देदीप्यमान और अतीव हर्षोत्पादक स्वप्नोंका फल अपने पतिसे पूँछती हैं। पति अति पवित्र और बड़ी ऊँची

भावनाओंके एक विशिष्ट पुण्यवान् और गम्भीर पुरुष होते हैं। वे सकल शास्त्रोंके ज्ञाता, भद्रपरिणामी और अवधिज्ञान-विशिष्ट होते हैं। वे अपने विशिष्ट ज्ञानबलसे यह जान लेते हैं कि हमारे एक लोकातिशायी पुत्र होनेवाला है।

सवा नव महीने पूर्ण होनेपर उत्तम योग व शुभ मुहूर्तमें पूर्ण मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान और अवधिज्ञानसहित प्रभु जन्म लेते हैं। जन्मोत्सव मनानेकेलिये चौसठ इन्द्र भगवानको मेरुपर्वत पर पण्डुकवनमें ले जाते हैं और वहाँपर बड़े धूम-धामसे उत्सव मनाते हैं। इनके अलावा छप्पन कुमारिका देवियाँ भी जन्म महोत्सव करती हैं। बादमें तीर्थंकर भगवान्के माता-पिता जन्मोत्सव मनाते हैं। बाल अवस्थाके बाद अगर भोगावली कर्म बाक़ी होते हैं तो भगवान् गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं। दीक्षा धारण करनेसे पेश्तर एक वर्ष तक नित्यप्रति एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मोहरोंका दान करते हैं। बादमें लौकान्तिक देवोंके निवेदनपर आरम्भ-परिग्रहका सर्वथा त्याग कर दीक्षा धारण करते हैं। उसी समय उन्हें मनःपर्यवज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब कुछ काल तक घातीय कर्मोंका क्षय करनेके वास्ते ध्यान, तप आदि व्रतोंका आराधन करते हैं और जो कोई देव-दानव-मनुष्य-पशु आदिके उपसर्ग आते हैं, उन्हें समभावसे सहन करते हैं। घातीय कर्मोंके क्षय होनेपर अर्थात् मोहनीय कर्मके क्षय होनेपर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मका क्षय हो जाता

है और तब अनन्त गुणात्मक यथाख्यातचारित्र, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तदानवीर्य आदि लब्धियोंकी उन्हें प्राप्ति होती है। घातीय कर्मोंके क्षय करनेसे उन्हें 'अरिहन्त पद'की प्राप्ति होती है। अरिहन्त भगवान् बारह गुण सहित होते हैं और अठारह दोष* रहित होते हैं।

मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे अनन्तगुणात्मक यथाख्यातचारित्र वाले होते हैं। ज्ञानावरणीय कर्मके क्षय होनेसे अनन्तकेवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे समस्त संसारकी रूपी और अरूपी समस्त रचनाके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको जानने लग जाते हैं। दर्शनावरणीय कर्मके क्षय होनेसे केवलदर्शनकी प्राप्ति होती है, जिससे संसारकी समस्त रूपी और अरूपी वस्तुओंको देखने लगते हैं। अन्तराय कर्मके क्षय होनेसे अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धिकी प्राप्ति होती है; अनन्त तेजस्वी होते हैं; अनन्त बल पुरुषार्थके धनी होते हैं; अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व

---

* "क्षुत्पिपासाजरातङ्क,-जन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥"

—स्वामी समन्तभद्राचार्य।

अर्थात् जिसमें क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, (च) से चिन्ता, मद, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा और आश्चर्य, ये अठारह दोष-नहीं होते, वह 'अरिहन्त' है।

अर्थात् प्रत्येक रूपी और अरूपी वस्तुका यथार्थ और सत्य स्वरूपके जाननेवाले होते हैं; वज्रवृषभनाराचसंहनन अर्थात् संसारमें समस्त प्राणियोंसे बलिष्ठ और मजबूत शरीर वाले होते हैं; समचतुरससंस्थान अर्थात् शरीरका बड़ा सुन्दर और उच्च बनाव होता है; चौंतीस अतिशय अर्थात् जहाँ भगवान्की समवसरण सभाकी रचना होती हैं, वहाँ अशोकवृक्ष, रत्नजड़ित महा प्रभाशाली सिंहासन, भामण्डल, छत्र, चमर, देवकृत अचित्त पुष्पोंकी वर्षा आदि अनेक वैभवयुक्त वस्तुएँ दिखाई देती हैं; जहाँ भगवान् विराजते हैं या पधारते हैं, वहाँ मनोज्ञ ऋतु, मनोज्ञ रास्ता, अचित्त जलकी वर्षा और हर प्रकारकी शान्ति आदि रहती है; भगवान् अर्धमागधी भाषामें व्याख्यान देते हैं, जो हर प्रकारके प्राणी आसानीसे समझ सकते हैं; भगवान्के समक्ष या समवसरणमें प्राणियोंके वैरभाव मिट जाते हैं; भगवान्के शरीरमें मैल आदि नहीं लगता है; भगवान्के आहार-विहारको चर्म-चक्षु वाला नहीं देख सकता है; भगवान्के अतिशयसे उनके चारों ओर बीसों कोस तक हर प्रकारकी शान्ति व प्रसन्नता छाई रहती है और अनेक अतिशय होते हैं; भगवान्की वाणी बड़ी सुन्दर मनोज्ञ और इस प्रकारकी होती है कि प्रत्येक प्राणी सरलतासे समझ जाता है; भगवान्के वचन परस्पर-विरोध-रहित होते हैं; सदा देश-काल-भावानुसार बोलते हैं; थोड़ा बोलते हैं और बहुत अर्थ निकलता है; अगर किसी श्रोताके शंका हो तो भगवान्

उसे स्वयम् साफ कर देते हैं। आदि अनेक गुणयुक्त अरिहन्त भगवान् होते हैं।

इनके अलावा किसी प्रकारका भगवान्में दोष नहीं होता है। जैसे—कभी क्रोध नहीं करते अर्थात् सदा शान्त रहते हैं। मान, माया, लोभ रहित होते हैं अर्थात् सर्वथा अमानी, अमायावी, अलोभी होते हैं। कभी असत्य नहीं बोलते अर्थात् सदा सत्यभाषी होते हैं। भय नहीं करते अर्थात् सदा अभय होते हैं। किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते। क्रीड़ा नहीं करते अर्थात् सर्व प्रकार-की क्रीड़ाके भगवान् त्यागी होते हैं।

भगवान् सदा ज्ञानवन्त, माहात्म्यवन्त, यशस्वी, वैराग्यवन्त, रूपवन्त, वीर्यवन्त, प्रयत्नवन्त, उत्साही और अनेक गुण युक्त होते हैं।

तीर्थंकर भगवान्के पाँच कल्याणक अथवा महा शुभ समय बताये गये हैं:—

१—अवतरनेको 'च्यवन कल्याणक', जन्मको 'जन्म कल्याणक', दीक्षाको 'दीक्षा कल्याणक', केवलज्ञान उत्पन्न होनेको 'केवलज्ञान कल्याणक' और मोक्ष पधारनेको 'मोक्ष कल्याणक' कहते हैं।

शास्त्रकारोंने 'णमो अरिहंताणं'का शब्दार्थ संक्षिप्तमें निम्न प्रकार किया है:—

(क) संसार रूप गहन वनमें अनेक दुःखोंके देनेवाले मोहादि रूप शत्रुओंका हनन करनेवाला जो अरिहन्त देव हैं, उनकोद्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(ख) सूर्य मण्डलका आच्छादन करनेवाले मेघके समान ज्ञानादि गुणोंके आवरणोंका हनन करनेवाले जो अरिहन्त देव हैं, उनको द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(ग) आठ कर्म रूप शत्रुओंके नाश करनेवाले अरिहन्त भगवान्‌को द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

(घ) पाँचों इन्द्रियोंके विषय, कषाय, परीषह, वेदना तथा उपसर्ग, ये सब जीवोंकेलिये शत्रुभूत हैं। इन शत्रुओंके नाशक अरिहन्त देवको द्रव्य और भाव पूर्वक नमस्कार हो।

प्रश्न—उक्त लक्षणोंसे युक्त भगवान्‌को नमस्कार करनेका क्या कारण है?

उत्तर—यह संसार एक महाभयङ्कर, कठिन और दुर्गम वन है। उसमें भ्रमण करनेसे सन्तप्त जीवोंको भगवान्‌का स्मरण परमपदका मार्ग दिखानेमें निमित्त रूप होता है। अतः सर्व जीवों के वे परमोपकारी होनेसे नमस्कार करनेके योग्य हैं। अतएव उनको अवश्य नमस्कार करना चाहिये।

प्रश्न—अरिहंत भगवान्‌का ध्यान किसके समान तथा किस रूपमें करना चाहिये?

उत्तर—अरिहंत भगवान्का ध्यान चन्द्रमण्डलके समान श्वेतवर्णमें करना चाहिये। पृथ्वीपर एक समयमें संसारमें जघन्य बीस और उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर तक अरिहंत हो सकते हैं।

'णमो सिद्धाणं'

प्रश्न—'णमो सिद्धाणं' इस दूसरे पदसे जिन सिद्धोंको नमस्कार किया गया है, उन सिद्धोंका क्या स्वरूप है अर्थात् सिद्ध किनको कहते हैं?

उत्तर—जिन्होंने चिरकालसे बँधे हुए आठ प्रकारके कर्मरूपी इन्धन समूहको जाज्वल्यमान शुक्लध्यानरूपी अग्निसे जला दिया है, उनको सिद्ध कहते हैं। अथवा—जो मोक्ष नगरीमें चले गये हैं, उनको सिद्ध कहते हैं। अथवा—जिनका कोई भी कार्य अपरिपूर्ण नहीं रहा है, उनको सिद्ध कहते हैं। अथवा—शासनके प्रवर्त्तक होकर सिद्ध रूपसे जो मङ्गलत्वका अनुभव करते हैं, उनको सिद्ध कहते हैं। अथवा—जो नित्य अपर्यवसित अनन्तस्थितिको प्राप्त होते हैं, उनको सिद्ध कहते हैं। अथवा—जिनसे भव्य जीवोंको गुण-समूहकी प्राप्ति होती है, उनको सिद्ध कहते हैं।

संसारी आत्माके जो कर्म लगे हुए हैं, जिनकी कि वजहसे संसारी आत्मा संसार-परिभ्रमण किया करता है और अपने सुख-स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता, उनको आठ विभागोंमें बाँटा गया है। क्योंकि आत्माके आठ महागुणोंका, जिनके अन्दर

अनन्त गुण समाविष्ट होते हैं, वे घात करते हैं। वे आठ कर्म घातिया और अघातियाके भेदसे दो प्रकारके हैं। 'अघातिया' शब्दमें 'नञ्' समास ईषदर्थमें हुआ है। अरिहन्त भगवान्के चार घातिया ही कर्म नष्ट हुए हैं, जिसकी वजहसे उनके अनन्त चतुष्टय प्रादुर्भूत हो गये हैं। और चार अघातिया अभी मौजूद हैं, जिसकी वजहसे शरीर आदि भी अरिहन्त भगवान्के मौजूद रहते हैं। लेकिन 'सिद्ध भगवान्' के चार घातिया और चार अघातिया अर्थात् आठों ही कर्म नष्ट हो गये हैं। जिसकी वजहसे उनके आठ गुण प्रगट हो जाते हैं। सिद्ध भगवान्के आठ गुण ये हैं:—

(१) सम्यक्त्व, (२) दर्शन, (३) ज्ञान, (४) अगुरुलघुत्व, (५) अवगाहनत्व, (६) सूक्ष्मत्व, (७) अनन्तवीर्य और (८) अव्याबाधत्व।

उक्त गुणोंके अन्तर्गत सिद्धोंमें अनेक गुण और होते हैं, उनमेंसे कुछ संक्षेपमें यहाँ कहे जाते हैं:—

सिद्ध भगवान् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तबल, अनन्तवीर्य. अनन्तसुख और अनन्तक्षायिक सम्यक्त्वके धनी होते हैं, उनकी आत्माका विस्तार सदा एकसा रहता है, अमूर्त हैं, न हलके हैं न भारी हैं, पाँच प्रकारका ज्ञानावरणीय कर्म क्षय करके उन्हें अनन्त केवलज्ञान प्रकट हुआ, दो प्रकारका वेदनीय कर्म क्षय करके बाधा-पीड़ा-रहित हुए, दो प्रकारका मोहनीय कर्म

क्षय करके लघुभूत हुए, चार प्रकारका आयु कर्म क्षय करके अमर हुए, चार प्रकारका नाम कर्म क्षय करके अमूर्त हुए, दो प्रकारका गोत्र कर्म क्षय करके शरीर दोष रहित हुए, पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म क्षय करके अनन्त शक्तिके धारक हुए। सिद्ध भगवान्के कोई वर्ण नहीं, कोई रस नहीं, कोई स्पर्श नहीं, कोई वेद नहीं, कोई गंध नहीं, काय नहीं, कर्म नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, वियोग नहीं, मोह नहीं, निरंजन निराकार आदि अनेक गुण युक्त ये सिद्ध भगवान् सिद्धशिलापर सदाकाल विराजमान रहते हैं और उपरोक्त अनेक लोकोत्तर गुणोंको आस्वादन करते हैं।

प्रश्न—उक्त लक्षणोंसे युक्त सिद्धोंको नमस्कार करनेका क्या कारण है ?

उत्तर—अविनाशी तथा अनन्त ज्ञान, दर्शन चारित्र और वीर्य रूप चार गुणोंके उत्पत्ति-स्थान होनेसे, उक्त गुणोंसे युक्त होनेके कारण, अपने विषयमें अतिशय प्रमोदको उत्पन्न कर अन्य भव्य जीवोंकेलिये आनन्द उत्पादनके कारण होनेसे वे अत्यन्त उपकारी हैं। अतः उनको नमस्कार करना उचित है।

प्रश्न—सिद्धोंका ध्यान किसके समान तथा किस रूपमें करना चाहिये ?

उत्तर—सिद्धोंका ध्यान उदित होते हुए सूर्यके समान रक्त वर्णमें करना चाहिये। सिद्ध भगवान् संख्यामें अनन्त हैं।

'णमो आइरियाणं'

'णमो आइरियाणं' इस तीसरे पदसे आचार्योंको नमस्कार किया गया है। उनका स्वरूप क्या है अर्थात् आचार्यमें क्या क्या गुण होते हैं?

उत्तर—जो मर्यादा पूर्वक अर्थात् विनय पूर्वक जिन शासनके अर्थका सेवन अर्थात् उपदेश करते हैं, उनको आचार्य कहते हैं। अथवा—जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचारके पालन करनेमें अत्यन्त प्रवीण हैं तथा दूसरोंको उनके पालन करनेका उपदेश देते हैं, उनको आचार्य कहते हैं। अथवा—जो पाँच महाव्रत, पाँच आचार*, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच इन्द्रियवशित्व करें, नव बाढ़ ब्रह्मच   चार कषायको त्यागें, इन छत्तीस गुण युक्त आचार्य महा   हैं। और आठ सम्पदा अर्थात् सूत्र सम्पदा, शरीर सम्पदा, व   संपदा, मति संपदा, उपयोग संपदा, वाचना संपदा, संग्रह संपदा और तेजः संपदाके धनी होते हैं। इत्यादि अनेक गुण युक्त होते हैं। आचार्य महाराज बावन अनाचीर्णके टालनेवाले, अठारह हजार शीलाङ्ग आदि अनेक गुण युक्त होते हैं।

---

* (१) दर्शनाचार, (२) ज्ञानाचार, (३) चारित्राचार, (४) तप आचार और (५) वीर्याचार, ये आचार्य महाराजके 'पाँच आचार' कहलाते हैं। समिति, गुप्ति आदिका वर्णन पहले प्रकरणोंमें किया जा चुका है।

अथवा—जो मर्यादा पूर्वक विहार रूप आचारका विधिवत् पालन करते हैं तथा दूसरोंको उसके पालन करानेका उपदेश देते हैं, उनको आचार्य कहते हैं। अथवा—जो योग्य अयोग्यका अलग-अलग निश्चय करनेमें चतुर और यथार्थ उपदेश देनेमें प्रवीण होते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

प्रश्न—उक्त लक्षणों युक्त आचार्योंको नमस्कार करनेका क्या कारण है?

उत्तर—सद् व्यवहारके उपदेश करनेके कारण जिनको परोपकारी होनेकी प्राप्ति हुई है, जो सर्वजन-मनोरंजक हैं, सब जनोंके मनोंको प्रसन्न करने वाले हैं, संसारके जीवोंमेंसे भव्य जीवोंको जिन-वाणीका उपदेश देकर उनको प्रतिबोध करते हैं और सम्य [illegible] प्राप्ति कराते हैं, किसीको देश विरतकी प्राप्ति, किसीको सर्व [illegible] प्राप्ति कराते हैं तथा कुछ जीव उनके उपदेशका श्रवण कर भद्र-परिणामी हो जाते हैं। इस प्रकारके उपकारके कर्ता शान्त मुद्राके धारक उक्त आचार्य क्षण मात्रकेलिये भी कषायग्रस्त नहीं होते। अतः वे अवश्य नमस्कार करनेके योग्य हैं।

उक्त आचार्य नित्य प्रमाद रहित होकर अप्रमत्त धर्मका कथन करते हैं, राज-कथा, देश-कथा, स्त्री-कथा, भक्त-कथा, सम्यक्त्वमें शिथिलता तथा चरित्रमें शिथिलताको उत्पन्न करने वाली विकथाका वर्जन करते हैं, मल और पापसे दूर रहते हैं तथा देश और कालके अनुसार विभिन्न उपायोंसे शिष्य आदिको

प्रवचनका अभ्यास कराते हैं, साधुजनोंको क्रिया धारण कराते हैं, जैसे सूर्यके अस्त हो जानेपर घरमें स्थित घट... दि पदार्थ नहीं दीखते हैं तथा प्रदीपके प्रकाशसे वे दीखने लग उसी प्रकार केवलज्ञानी सूर्यके समान श्रीतीर्थंकर देवके मु रूप महलमें जानेके पश्चात् तीनों लोकोंके पदार्थो करनेवाले दीपकके समान आचार्य ही होते हैं। अवश्य नमस्कार करना चाहिये। जो भव्य जीव ऐसे निरन्तर नमस्कार करते हैं, वे जीव धन्य माने ज। उनका भवक्षय शीघ्र हो जाता है।

प्रश्न—आचार्योंका ध्यान किसके समान तथा किस रूपमें करना चाहिये ?

उत्तर—आचार्यों का ध्यान स्वर्णके समान पी चाहिये। उक्त गुणोंके अलावा आचार्यजी साधुके स... भी सम्पन्न होते हैं।

'णमो उवज्झायाणं'

'णमो उवज्झायाणं' इस चौथे पदसे उपाध्यायोंको नमस्कार किया गया है। इन उपाध्यायोंका क्या स्वरूप है और उपाध्याय किनको कहते हैं ?

जो ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार छेद, चार मूल सूत्र और बत्तीसवें आवश्यकजीके जानकार होते हैं, उनको उपाध्यायजी कहते हैं। अथवा—जिनके समीपमें रह कर अथवा आकर

शिष्यजन अध्ययन करते हैं उनको उपाध्यायजी कहते हैं।
अथ जो समीपमें रहे हुए अथवा आये हुए साधु आदि जनों
द्वान्तका अध्ययन कराते हैं, उनको उपाध्यायजी कहते हैं।
।—जिनके समीपत्वसे सूत्रके द्वारा जिन-प्रवचनका अधिक
रण होता है, उनको उपाध्यायजी कहते हैं। अथवा—
क ध्यान करते हैं, उनको उपाध्यायजी कहते हैं।
उपयोगपूर्वक ध्यानमें प्रवृत्त होकर पाप कर्मका त्याग
बाहर निकल जाते हैं, उनको उपाध्यायजी कहते हैं।
अथवा—मानसिक पीड़ाकी प्राप्ति, कुबुद्धिकी प्राप्ति तथा दुर्ध्यान
की प्राप्ति जिनके द्वारा अपहृत होती है, उनको उपाध्यायजी कहते
हैं। अ —जो ज्ञानके भण्डार, दयाके सागर, ज्ञान रूपी नेत्रके
रनेक गुण युक्त होते हैं, उन्हें उपाध्यायजी कहते हैं।

लक्षणोंसे युक्त उपाध्यायजीको नमस्कार करने
का क्या हेतु है ?

उत्तर—उक्त उपाध्यायजी पच्चीस गुण युक्त होते हैं, द्वादशाङ्गी आदि सूत्रोंके धारक और सूत्र और अर्थके विस्तार करनेमें रसिक होते हैं, आये हुए या रहे हुए शिष्यों व साधुओंको जिन वचनोंका अभ्यास कराते हैं। इस हेतु भव्य जीवोंके ऊपर उपकारी होनेके कारण उनको नमस्कार करना चाहिये।

प्रश्न—उपाध्यायोंका ध्यान किसके समान तथा किस रूपमें करना चाहिये ?

उत्तर—उनका ध्यान मरकतमणिके समान न करना चाहिये। उक्त गुणोंके अलावा उपाध्यायजी : गुण सम्पन्न होते हैं।

'णमो लोए सव्वसाहूणं'

'णमो लोए सव्वसाहूणं' इस पदके द्वारा साध किया गया है।

प्रश्न—उन साधुओंके क्या लक्षण हैं?

जो किसी प्रकारकी हिंसा नहीं करे; किसी ना है बोले अर्थात् सदा सत्य बोले; बगैर दी हुई नि ज लें, पूर्ण ब्रह्मचर्य पाले, किंचित् मात्र परिग्रहभावसे नहीं रक्खे; तीन करण और तीन योगसे अर्थात् कायसे कोई पाप करे नहीं, करावे नहीं और नहीं; पाँचों इन्द्रियों—नेत्र, नासिका, कर्ण, जिह्वा और तीनों करण और तीनों योगोंसे वशमें रक्खे; क्रोध, मान, माया और लोभको तीन करण और तीन योगसे करे नहीं, करावे नहीं और करतेको भला जाने नहीं।

साधु अनेक परिषहोंको जीतते हैं। जैसे अगर शुद्ध और निर्दोष आहार और जल नहीं मिलता है तो प्रसन्नता और शान्तिभावसे क्षुधा और तृषा परिषहको सहन करते हैं। जाड़ोंमें अग्निसे तापते नहीं; कम्बल, सौर आदि ओढ़ते नहीं, सिर्फ मर्यादित मामूली कपड़ा

ेर शान्तिभावसे शीत परिषह सहन करते हैं। गर्मियोंमें
नहीं, स्नानादि करते नहीं, शान्तिभावसे उष्ण परि-
रते हैं। डाँस, मच्छर आदि काटते हैं तो मसहरी, धूएँ
ग नहीं करते हैं, शान्तिभावसे उस कष्टको सहन करते
और निर्दोष वस्त्र नहीं मिलता है तो शान्तिभावसे
हन करते हैं। चौमासेके चार महीनेके सिवाय
नमें एक महीनेसे ज्यादा ठहरते नहीं और सदा
र करते हैं; इस प्रकार जो स्थानका और मार्गका परि-
उसे शान्तिभावसे सहन करते हैं। भिक्षार्थ जायँ या
ायँ तो रास्तेमें या किसीके घरपर बैठते नहीं और
खड़े रहते हैं या चलते रहते हैं। चतुर्मासमें या
जैसा स्थान ठहरनेको मिल जाता है तो उसमें ही
रहते हैं। अगर कोई गृहस्थ या अन्य अज्ञानी
शब्द कहे या मारे या पीटे तो क्रोध नहीं करते,
बल्कि शान्तिभावसे उसे सहन करते हैं। अगर कोई रोग
उत्पन्न होता है तो अगर शुद्ध और निर्दोष औषधि मिलती
है तो ग्रहण करते हैं, वरना शान्तिभावसे परिषहको सहन
करते हैं। साधु लोग पृथ्वी पर या काष्ठके तख्तेपर शयन
करते हैं; शीतकालमें पराल—घासकी आवश्यकता होती है; अगर
वह नहीं मिलती है तो समभावसे कष्टको सहन करते हैं। अगर
कोई अज्ञानी उनसे हँसी मजाक करता है तो वे शान्तिभावसे

उसे सहन करते हैं। इस प्रकारसे साधु लोग अ
परिषहोंको शान्तिभावसे सहन करते हैं।

ऊपर जो शुद्ध और निर्दोष आहार कहा गया
मतलब है कि छयानवे प्रकारके दोषसे अगर
औषधि, वस्त्र आदि शुद्ध हों तो वे ग्रहण कर
हैं। उनमेंसे कुछ उदाहरणार्थ यहाँ दिये जाते

१—गृहस्थ साधुके वास्ते आहार बनाकर दे ... आचार्य ने
अगर गृहस्थ अपने भोजनमें साधुके विचारसे कु ... ते हैं तथा
बनाता है तो भी नहीं लेना ३—मोल लाकर गृह
लेना ४—कोई वस्तु तालेमें या बन्द किवाड़ोंमें हे
५-रास्तेमें लाकर दे तो नहीं लेना ६—आड़मेंसे
अन्य स्थानसे कोई वस्तु लाकर दे तो नहीं ले
सबल छीन कर दे तो नहीं लेना ८—भागीदार
दे तो नहीं लेना ९—स्त्री अगर बच्चेको दूध पिला रही हो तो
उससे आहार नहीं लेना १०—मान, माया और लोभादिके साथ
दान ग्रहण नहीं करना ११—भूखों या ब्राह्मणादिकेलिये अगर
भोजन बना हो तो नहीं लेना १२—सदा एक घरसे आहार
नहीं लेना १३—जिनके यहाँ अखाद्य वस्तु बनती हों उनके
यहाँसे आहार नहीं लेना १४—जो मना करे कि हमारे यहाँ न
आओ वहाँ नहीं जाना १५—कोई वस्तु सचित्त वस्तुके स्पर्शमें हो
तो उसे नहीं लेना १६—द्वारपर भिखारी खड़ा हो तो उस गृह

... ना १७--जिस आहारका रस, वर्ण, गन्ध ... ना

ार
ाके
ौर
हण
कर
ौर
ाय
परण
ाको
मल-
ासी
ाया
ारण
और
वायु,
ाथवा
ते हैं।
ारसे

पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। दस प्रकारका ग
करते हैं; बारह प्रकारका तप करते हैं। अठारह
सर्वथा त्याग करते हैं। इनके अतिरिक्त आप
परिणामी, निरभिमानी, संयमी, निस्स्वार्थी
युक्त होते हैं।

प्रश्न—उक्त लक्षणोंसे युक्त साधुजीको
क्या हेतु है ?

उत्तर—जो आत्माके कल्याणका सदा ध्य
उन्हें साधु कहते हैं। वे हमसे अधिक धर्म रूप रहते
करनेमें अतितत्पर रहते हैं। ऐसे साधुओंक
परम आवश्यक है।

प्रश्न—साधुओंका ध्यान किसके समान
करना चाहिये ?

उत्तर—साधुओंका ध्यान आषाढ़के मेघ समान श्या
करना चाहिये। उक्त गुण युक्त साधु द्वीप और प
में विचरते हैं। एक समयमें समस्त संसारमें कम-से-कम
जार क्रोड और उत्कृष्ट नव हजार साधु-साध्वी ह

चक्रवर्ती-वासुदेव-बलदेव

में चक्रवर्ती, वासुदेव-बलदेव, आदि भी अनेक
न् माननीय पुरुष होते हैं। इनकी विभूति

छह खण्डका साधन करते हैं। इनके हजारों
होते हैं। छह खण्डोंमें हजारों देश व उनके
ा चक्रवर्तीकी आज्ञा मानते हैं अर्थात् सेवामें
० रानियाँ और लाखों दास-दासी आदि होते हैं।
दल आदि लाखों करोड़ोंकी संख्यामें इनकी
वर्तीके चौदह रत्न होते हैं। एक-एक रत्नके
ते हैं। चक्रवर्तीके चौदह रत्न इस प्रकार हैं:—

छत्र रत्न, छह खण्ड साधनेका रास्ता बताता है।
) दण्ड रत्न के ऊपर शीत तथा धूपसे रक्षा करता है।
ों कोस रहे हुए का प्रबन्ध करता है। (४) खड्ग रत्न
का सिर छेद डालता है। (५) मणि
र रत्न
चन्द्र-जैसा प्रकाश करता है। (६)
सेना गङ्गा आदि नदियोंको पार करती है।
रत्न खाना तैयार रके तमाम फौज व चक्रवर्तीको
। इ सी प्रकार अश्व, त, पुरोहित, सेनापति, चर्म,
रथ रत्न भी अपना-अपना कार्य करते हैं।

जब चक्रवर्ती गर्भमें आते हैं, तब उनकी
स्वप्न देखती हैं। स्वप्न वही होते हैं जो तीर्थंकरों
हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी ऋद्धियाँ होत
उपर्युक्त ऋद्धियोंको त्याग कर संयम लेते हैं
मोक्षको प्राप्त करते हैं और जो राज्य करते
हैं, वे नरकमें जाते हैं। इनके समयमें साधु
और पाँचों गतिमें जानेवाले जीव होते हैं।

वासुदेव—पूर्व भवमें निर्मल तप संयम
हैं और वहाँसे आयु पूर्णकर बीचमें एक भव
करके उत्तम कुलमें जन्म लेते हैं। जब जन्म
मातेश्वरी सात स्वप्न देखती हैं। शुभ
वस्थाको प्राप्त करते हैं और बादमें राज्य
वासुदेवपदकी प्राप्ति होनेपर उन्हें सात रत्न
हैं:—(१) सुदर्शनचक्र, (२) अमोघखड्ग, (३) कौमु
(४) पुष्पमाला, (५) धनुष्य अमोघबाण, (६) कौस्तुभ
और (७) महारथ। ये महाबलवान् और महासुन्दर हो
इनकी ऋद्धि व सिद्धि चक्रवर्तीसे आधी होती है।

वासुदेवके जन्मसे पूर्व पृथ्वीपर प्रतिवासुदेव र
है। यह भी पुण्यवान् और वैभव सहित होता है,
कम होता है। वासुदेव प्रतिवासुदेवको मारकर
अधिकारी बनता है और तीन खण्डमें एक राज

नृ वासुदेवके पहिले जन्म लेते हैं अर्थात् वासुदेवसे
दोनोंकी मातेश्वरी अलहदा-अलहदा होती हैं, पर
में जब वे गर्भमें आते हैं तो इनकी माता चार
ी हैं। बादमें जन्म लेकर अनेक वैभव व
। इनका वैभव वासुदेवके मुक़ाबिले आधेसे
इन दोनों भाइयोंमें असीम प्रेम होता है।
राज्य करते हैं और तीनों खण्डका साधन करते
ा- कर नरक जाते हैं। वासुदेवकी मृत्युके बाद
ारण करके महातपस्या करते हैं और अन्तमें
ते हैं।

लोक अधिकार

जिस प्रकार एक झाड़ या छींका
लटका रहता है, इसी प्रकार
अथवा लोक अलोकाकाशमें तनुवात
घनवात और उसके बाद घनोदधिके आध
है। अर्थात् जिस प्रकार पानीके आधारपर
है, उसी प्रकार यह लोक आकाशमें तनुवात
घनोदधिके आधारपर ठहरा हुआ है।

लोकसे अलोकका भेद करनेवाली ध
काय, पुद्गल, जीव और काल द्रव्य
हैं, वह अलोक है। दूसरे शब्दोंमें यह
अलोकमें सिवाय पोलके और कोई किसी प्र
अरूपी वस्तु नहीं है।

यह लोक नीचे सात रज्जु लम्बा और चौड़ा है।
ऊपरकी ओर अनुक्रमसे प्रदेश-प्रदेश कम होते-होते, सात
ऊपर आवें वहाँ, दोनों दीपककी संधिके स्थानपर एक र
रह गया है। आगे क्रम-क्रमसे बढ़ता-बढ़ता दूसरे तीस
सन्धिके स्थानपर साढ़े तीन रज्जु ऊपर आवे वहाँ प
है और आगे क्रम-क्रमसे घटता घटता-तीसरे

स्थानपर साढ़े तीन रज्जु आवे वहाँ एक रज्जु
र संपूर्ण लोक नीचेसे ऊपर तक सीधा
और तीन सौ तेतालीस रज्जु घनाकार है।

में विभक्त हैं:—

१ नीचेका लोक, २—मध्य अथवा तिर्छा
अथवा ऊँचा लोक।

कमें निगोद और सात नरक हैं। पहिले नरकके
ऊपर और नीचेके एक-एक आंतरेको छोड़ कर
कारके भवनवासी देव हैं। इस प्रकार निगोदसे
अधोलोक है। इसके बाद मध्यलोक शुरू

विस्तार पहिले नरकसे ज्योतिमण्डल
नरकके ऊपर, और हम लोग जहाँ रहते हैं
आठ प्रकारके व्यन्तर और आठ प्रकारके
यन्तर देव रहते हैं। बादमें पृथ्वीके ऊपर जम्बूद्वीप, लवण-
धातकीखण्ड द्वीप कालोदधि समुद्र, पुष्करार्ध द्वीप, मानु-
पर्वत आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। इनसे आठ
ऊँचाईपर चन्द्र, सूर्य्य, गृह, नक्षत्र और तारा-मण्डल हैं।
डेढ़ रज्जु ऊँचाई परसे ऊर्ध्वलोक शुरू हो जाता है।

र्ध्वलोकमें बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनु-
र सिद्ध शिला है।

तीनों लोकोंका विस्तार घनाकार जो ३४३ उसका हिसाब इस प्रकार है:—

निगोदसे सातवें नरक तक
सातवें नरकसे छठे नरक तक
छठे नरकसे पाँचवें नरक तक
पाँचवें नरकसे चौथे नरक तक
चौथे नरकसे तीसरे नरक तक
तीसरे नरकसे दूसरे नरक तक
दूसरे नरकसे पहिले नरक तक
पहिले नरकसे तिरछे लोक तक
पहिला-दूसरा देव लोक
तीसरा-चौथा देव लोक
पाँचवाँ-छठा देव लोक
सातवाँ-आठवाँ देव लोक
नववाँ-दसवाँ देव लोक
ग्यारहवाँ-बारहवाँ देव लोक
नवग्रैवेयकके देव लोक
पाँच अनुत्तर विमान
सिद्ध क्षेत्र

अधोलोक

आकाशान्तर (शुद्ध आकाशमें) इसके
न (हवा); इसके आधारपर घनवात
समूह), इसके आधारपर घनोदधि (पिण्ड
के आधारपर टिका हुआ है। तनुवात,
पर प्रत्येक नरक अवलम्बित है। प्रत्येक
दुनियाँके समान है।
ढंगसे प्रत्येक नरक घनोदधि आदिकी मोटाई
—

घनोदधिकी मोटाई	घनवातकी मोटाई	तनुवातकी मोटाई
जन	४ योजन	६ योजन
”	४॥। ”	६$\frac{1}{3}$ ”
६॥। ”	५ ”	६॥। ”
७ ”	५। ”	७ ”
७$\frac{1}{3}$ ”	५॥ ”	७$\frac{1}{3}$ ”
॥ ”	५॥। ”	८॥। ”
”	६ ”	८ ”

क्षेत्र, पृथ्वीपिण्ड, वास और विस्तार

नाम	गोत्र	पृथ्वी पिण्ड की गोलाई	नरक-वास
घम्मा	रत्नप्रभा	१८००००	३०००
वंसा	शर्करप्रभा	१३६०००	२५००
सेला	वालुप्रभा	१२८०००	१५०
अंजना	पङ्कप्रभा	१२००००	१०
रिट्ठा	धूमप्रभा	१८००००	३०००
मघा	तमःप्रभा	११६०००	९९९९
माघवी	तमस्तमःप्रभा	१०८०००	

प्रत्येक नरकके पृथ्वीपिण्डमेंसे एक
और एक हजार योजन नीचे छोड़कर
पाथड़े और अन्तरे हैं। सिवाय सातवें
बावन हजार योजन ऊपर और साढ़े बावन
छोड़कर सिर्फ तीन हजार योजनकी पोल है। जि
कुम्भियाँ और नेरिये (नारकी) हैं। उसका
सफ़ेमें दिया जाता है। पाथड़ोंमें नरकवास हैं, जि
कुम्भियाँ और असंख्यात नेरिये (नारकी) हैं

..ा	१७८००० योजन	१२	.	त	३००००००	७... ६। अं०	१०००० वर्ष	१ सागर
दूसरा	१३०००० "	११	१०	"	२५०००००	१५ ध० १२ अं०	१ सागर	३ सागर
तीसरी	१२६००० "	६	८	"	१५०००००	३१। ध०	३ सागर	७ सागर
चौथी	११८००० "	७	६	"	१००००००	६२॥ ध०	७ सागर	१० सागर
पाँचवीं	११६००० "	५	४	"	३००००	१२५ ध०	१० सागर	१७ सागर
छठी	११४००० "	३	२	"	६६६६५	२५० ध०	१७ सागर	२२ सागर
सातवीं	३०००० "	१	०	"	५	५०० ध०	२२ सागर	३३ सागर

नरकोंके गोत्रसे, उनकी व्यवस्थासे मतलब है
की निम्न प्रकार व्यवस्था है।

१—रत्नप्रभा नरक—कृष्णवर्ण भयंक
२—शर्कराप्रभा—भाले-बर्छीसे भी अधिक
है। ३—वालुप्रभा—भड़भूजेकी भाड़की
ऊष्ण रेतीसे व्याप्त है। ४—पङ्कप्रभ
कीचड़से व्याप्त है। ५—धूमप्रभा—
अधिक तेज धूयेंसे व्याप्त है। ६—तमःप्र
व्याप्त है और ७—तमस्तमःप्रभा—घोर
से व्याप्त है।

ये नरक बिल गोल, त्रिकोण, चौकोण
हैं। उनमें कई-एक संख्यात योजन
योजन लम्बे-चौड़े हैं। जैसे ढोलको
तरफ पृथ्वी रहती है और भीतर पोल
पृथ्वी स्कन्धोंके बीचमें ढोलके भीतरके
बिल होते हैं।

नारकी जीव सदा ही अशुभतर लेश्य
विक्रिया करनेवाले होते हैं। निरन्तर अशुभ
कारण उनके परिणामादि भी सदा अशुभ

नारकी जीव परस्पर एक दूसरे
करते रहते हैं अर्थात् कुत्तोंकी तरह निर

न प्रथम तीन नरकके नेरिये अम्बाम्बरीष जातिके
देवोंसे पीड़ित और दुःखित किये जाते हैं।
ामें अनेक अज्ञानी पुरुष मेढ़ों, भैंसों, हाथियों
र परस्पर लड़ाते हैं और उनकी हार-जीतसे
ाशा देखते हैं। उसी प्रकार तीसरे नरक
दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञानसे उनके
र परस्पर लड़ते तथा दुःखी व पीड़ित
ाशा देखते हैं।

जो बारह अन्तरे हैं, वे असंख्यात योजनके
=३ योजनके ऊँचे हैं। उनमेंसे ऊपरका एक
ोड़ कर शेष दस अन्तरोंमें दस प्रकारके

प्रकारके होते हैं:—

२—नाग कुमार ३—सुवर्ण कुमार ४—
कुमार ६—द्वीप कुमार ७—उदधि कुमार
—वायु कुमार और १०—स्तनित कुमार।
के दो दो इन्द्र होते हैं। इस प्रकार बीस
लाखों भवन हैं, जो छोटेसे छोटे जम्बू द्वीपके
ड असंख्यात द्वीप समुद्रके समान है।

ाख सामानिक और आत्मरक्षक देव
ो (बड़ी) इन्द्राणियाँ होती हैं और

हज़ारों देवियाँ होती हैं। इन्द्रके और इन्द्राणिय
सैकड़ों देव और देवियाँ अभ्यन्तर, मध्य औ
होते हैं। इनके अलावा इनके और अनेक वै
हिस्सा दक्षिण और उत्तर दो हिस्सोंमें विभ
जातिके व्यन्तर देवता रहते हैं, जिनके
१—पिशाच, २—भूत, ३—यक्ष, ४
६—किंपुरुष, ७—महोरग और ८—ग
दो-दो इन्द्र होते हैं, इस प्रकार सोलह इन्द्र।

जो सौ योजनका पृथ्वीपिण्ड ऊपर रहा है
ऊपर और दस योजन नीचे छोड़कर बीचमें
पोल है। उसमें आठ स्वतन्त्र हिस्से
तनुवात, घनवात, घनोदधि और आकाश
हिस्सेमें असंख्यात नगर हैं। इनमें
देव रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैः
पानपत्री, ३—ईसीवाई, ४—भूईवाई, ५-
कन्दिया, ७—कोहंड और ८—पहंग देव। प्र
और उत्तरमें विभाजित है और प्रत्येक हिस्से
है। इस प्रकार वाणव्यन्तर देवोंके सोलह इन्द्र

* "व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्ष

+ "पूर्वयोः द्वीन्द्राः।" —उमास्व

चार-चार हज़ार सामानिक देव, सोलह-
रक्षक देव, चार अग्रमहिषी इन्द्राणियाँ,
रेवार और सात अनीका होती हैं। इसके
षद्के ८००० देव, मध्य परिषद्के १००००
१२००० देव होते हैं।

देवोंकी आयुष्य जघन्य १०००० वर्षकी
की होती है।

योजन तो जहाँ हम रहते हैं उस पृथ्वीके
योजन ऊपर हैं। इस प्रकार यह तिरछा लोक
की ऊँचाई अथवा मोटाईका है, जिसमें नौ
हम पहिले पृष्ठोंमें कर आये हैं, बाक़ी
मण्डलका वर्णन हम यहाँ करेंगे।

कि हम लोग रहते हैं, असंख्यात
उसमें अढ़ाई द्वीपमें ही रहते हैं। अढ़ाई
भूमि हैं। एक वह जहाँ मनुष्य खेती
यें करते हैं, उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं। दूसरी
कर्म नहीं करते हैं अर्थात् जिनकी सारी
ो जाती हैं, उन्हें 'अकर्मभूमि' या 'भोग-
द्वीपके बाहर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं।
लचर, पक्षी आदि जानवर ही होते
, वे सब गोलाकार हैं। पहिले द्वीप

है, उसके चारों तरफ सागर है, फिर द्वीप है, फिर समुद्र अथवा महासागर है। इस प्रका[र] द्वीप और समुद्रोंका चला गया है।

पहिला द्वीप 'जम्बू द्वीप' है। यह १० चौड़ा अर्थात् गोलाकार है। इसके बाद द समुद्र' है। लवण समुद्रकी चौड़ दो लाख योजनकी है। इसके ब जिसकी चौड़ाई (radius) चार लाख बाद 'कालोदधि समुद्र' है, जिसकी चौड़ाई लाख योजनकी है। इसके बाद 'पुस्करार्ध द्वीप' योजनका है। पर इसके मध्य में 'मानुषे द्वीपको दो हिस्सोंमें बाँटता है। यह भी है जिसके अन्दर—अढ़ाई द्वीपमें म केवल तिर्यञ्च ही तिर्यञ्च तमाम द्वीप इसीलिये इसका नाम 'मानुषोत्तर पर्वत 'पुष्करार्ध समुद्र' है। इसके बाद 'वारुणीव 'वारुणीवर समुद्र' है। इसके बाद 'क्षीरवर 'क्षीरवर समुद्र' है। इस प्रकार असंख्य हैं और प्रत्येक असंख्यात योजनके व्या

---

* "प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः।"

अढ़ाई द्वीप

'भरत', एक 'ऐरावत' और दो 'महाविदेह' हैं।
पमें दो भरत, दो ऐरावत और दो महा

ारत, दो ऐरावत और दो महाविदेह हैं।
ोंकी कर्मभूमियाँ हैं।
रु', एक 'उत्तरकुरु', एक 'हरिवास',
हमवास' और एक 'एरण्यवास' है।
द्वीपमें दो देवकुरु, दो उत्तरकुरु, दो हरि-
ास, दो हेमवास और दो एरण्यवास हैं।
दो देवकुरु, दो उत्तरकुरु, दो हरिवास दो
ौर दो एरण्यवास हैं।
अकर्मभूमि हैं।

जम्बू द्वीप

'सुदर्शनमेरु पर्वत' है। वह मल्ल स्थम्भके
ा ऊँचाई एक लाख योजनकी है। पृथ्वीमें
ऊपर निन्यानवे हजार योजन है। इसकी
ई (Diametere) है। यह क्रमसे
ऊ एक हजार योजन चौड़ा रह गया है।
द्रशाल वन, नन्दन वन, सोमनस
नीचे भद्रशाल वन है। उससे पाँच

सौ योजन ऊपर नन्दन वन है। उससे
सोमनस वन है और उससे छत्तीस हजार
वन है। इस पाण्डुक वनमें स्वर्णमय
हैं। पूर्वमें पण्डुकशिला और परिच
दो दो सिंहासन हैं। जिनपर जम्बू
विदेहके क्षेत्रोंमें जन्मे हुए चार तीर्थ
दक्षिणमें पाण्डुक शिला है, इसपर भरत
करोंका और उत्तरमें रक्त शिला है, जिसपर ऐ
हुए तीर्थंकरोंका जन्मोत्सव होता है।

मेरु पर्वतके दक्षिणमें ४५००० यो
अन्दर भरत नामका क्षेत्र है। इस भ
नामका पर्वत है। इस क्षेत्रमें गङ्गा
नदियाँ हैं, जो चूलहेमवत पर्वतसे नि
नदियोंमें चौदह-चौदह हजार उपनदियाँ

मेरु पर्वतके उत्तर दिशामें ४५००० यो
दूसरा द्वार है उसके अन्दर भरत क्षेत्र

इसमें 'रक्ता' और 'रक्तोदा' नाम
शिखरी पर्वतसे निकलती हैं।

जम्बू द्वीपमें भरत क्षेत्रकी ह
पर्वत है और ऐरावत क्षेत्रकी हदके

भरत क्षेत्रको वैताढ्य पर्वत अ
छह खंडोंमें विभाजित करती हैं।

; पर्वत और रक्ता और रक्तावती नदी छह
तो हैं।

पर्व और पश्चिममें भद्रशाल वन और
ख योजन लम्बा है। उत्तर और
पर्वतसे इसकी हद होती है। इन
त्रेत्रकी चौड़ाई ३३६३४ योजनकी है।
पर्वतके कारण दो भाग हो गये हैं।
और दूसरा पश्चिम-महाविदेह। पूर्व महाविदेह
ी और पश्चिम-महाविदेहके मध्यमें सीतोदा
के दो दो भाग हो गये हैं। इस प्रकार महा
गये हैं।

'विजय' होनेसे बत्तीस विजय महा

चौथे आरे जमी रचना सदा रहती है।
ाखरी, इन दोनों पर्वतोंके प्रत्येक छोरसे
में निकली हुई हैं और प्रत्येक डाढ़पर
स प्रकार छप्पन अन्तर्द्वीप होते हैं।
ने हैं। ये अकर्मभूमियाँ हैं। पन्द्रह-
ूमियाँ जो पहिले बता आये हैं और
ी एक मनुष्य क्षेत्र हैं।

क्षेत्रमें अनादि कालसे फिरता
फिरता रहेगा।

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदधि समुद्र और अभ्यन्तर पुष्करार्द्ध द्वीपमें इस प्रकार चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, महाग्रह और तारागण हैं:—

नम्बर	द्वीप और समुद्रके नाम	चन्द्र	सूर्य	नक्षत्र	महाग्रह	तारागण
	जम्बूद्वीप	२	२	५६	१७६	१३३९५० कोडाकोड़
	[illegible]	४		११२	३५२	
					१०५६	

नम्बर	प्रतर	ऊँचाई	अगनाई	संख्या	जघन्यायु	उत्कृष्टायु	घन विस्तार रज्जूमें	ऊँचाई रज्जूमें
१	१३	५००योजन	२५००	३२०००००	पल्य १	सागर २		१
२	१३	"	२७००	२८०००००	साधिक पल्य १	"	१६॥ रज्जू	२
	१२	६००योजन	२६००	१२०००००	सागर २	सागर ७	"	१ २
			२६००	८०००००	साधिक सागर २ [illegible] ७	साधिक सा[illegible]	१[illegible]	१

		[illegible]			८०००			
		माहेन्द्रेन्द्र	७००००	[illegible]८००००	६०००	[illegible]०००		६ "
	ब्रह्म	ब्रह्मेन्द्र	६००००	२४००००	४०००	६०००	८०००	५ "
६	लान्तव	लान्तवेन्द्र	५००००	२०००००	२०००	४०००	६०००	५ "
७	महाशुक्र	महाशुक्रेन्द्र	४००००	१६००००	१०००	२०००	[illegible]००	४ "
८	सहस्रार	सहस्रारेंद्र	३००००	१२००००	५००	१०००	२०००	४ "
९ १०	आनत प्राणत	प्राणतेन्द्र	२००००	८००००	२५०	५००	१०००	३ "
११ १२	आरण अच्युत	अच्युतेन्द्र	१००००	४००००	१२५	२५०	५००	३ "

पाँचवे देवलोकके अन्तमें '
लौकान्तिक देव सम्यक् दृष्टि
अवसर चेतानेवाले होते
करनेवाले होते हैं। चूँकि
कारण ये 'लौकान्तिक' कहला

ये देव नौ प्रकार के होते
पूर्वमें आदित्य देव, अग्निकोणमें व
नैऋत्य कोणमें गर्दतोय देव, पश्चिम
अव्याबाध देव, उत्तरमें अग्निदेव औ
विमानोंमें रहते हैं।

नव

बारहवें देवलोकसे एक
विस्तारमें नवग्रैवेयक देवलो
त्रिकमें तीन-तीन प्रतर हैं।

				२२००			५
२ त्रिक	सुमनस् सुदर्शन प्रियदर्शन	१०७	१०००	२२००	२	२५ २६ २७	२६ २७ २८
३ त्रिक	अमोह सुप्रतिभद्र यशोधर	१००	१०००	२२००	२	२८ २९ ३०	२९ ३० ३१

अनुत्तर विम

नवग्रैवेयकसे एक रज्जु ऊपर म
में चारों दिशामें चार
इक्कीस योजनकी अंगनाई
चौड़े विमान हैं। पूर्वमें वि
और उत्तरमें अपराजित वि
देहमान होता है। इन
और उत्कृष्ट तैंतीस सागरकी

सर्वार्थसि

यह विमान एक लाख योजन
है। यह उपरोक्त विमानों
मान एक हाथ है और जघ
आयु है। यह सब विमानोंमें
बड़े मोती लटके हुए हैं। हवा
तीस रागनियाँ निकलती हैं

विजय, वैजयन्त, जय
पाँचों विमान 'अनुत्तर वि
विमानके निवासी देव
अनुत्तर विमानवाले त
भवमें मोक्ष प्राप्त करते

सिद्धक्षेत्र

पैंतालीस हजार योजनकी
आठ योजनकी मध्यमें
घटती किनारेपर मक्खी
२०२४६ योजनकी परिधि
मय, उलटे छत्रके समान
एक योजन ऊपर, सीधे मनुष्य
न, ३३३ धनुष और ३२ अंगुल
सिद्ध भगवान् हैं।

नवग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान
न घनोदधि और आकाश
ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान
य हैं।

बाद घनवात, उसके बाद
। इस प्रकार घिरा हुआ है
ा है। वृक्षकी छाल एकसी
ोदधि कहीं बहुत ज्यादा
ात् पतली है। पर लोक
इस भाँति है:—